ॐ

श्रीवीतरागाय नमः ।

निश्चयधर्मका मनन ।

संपादक—

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी,

अनुभवानंद स्वसमरानंद समयसार टीका इष्टोपदेश टीका, प्रवचनसार टीका पंचास्तिकाय टीका, गृहस्थ धर्म जैन शतक टीका, सामायिक पाठ टीका आदि २ ग्रंथोंके रचयिता व "जैनमित्र" के भूतपूर्व सम्पादक।

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापडिया,

मालिक, दि० जैन पुस्तकालय, चंदावाडी-सूरत।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४५५ [प्रति ५००

जैनविजय प्रिंटिंग प्रेस-सूरतमें मूलचन्द किसनदास कापडियाने मुद्रित किया।

लागतमात्र मूल्य-सवा रुपया।

भूमिका ।

आत्माको सुख शांतिकी आवश्यक्ता है, यह सुखशांति आत्मामें ही है क्योंकि आत्माका स्वभाव सुख शांतिमय है इसलिये हरएक मानवको सुख शांतिके आस्वादके लिये अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना चाहिये अथवा उसका वारवार मनन करना चाहिये। यही मानव जन्मका सार है। इसी बातको उपयोगी समझकर **'जैनमित्र'** नामके साप्ताहिक पत्रमें हरएक अंकमें आत्म मननमें उपयोगी ऐसा एक छोटा लेख कई वर्षोंसे दिया जाता है जिसमें **निश्चयधर्मका मनन** नामक शीर्षकसे जैनमित्र वर्ष १८ अंक २ ता० ४-११-१६ से प्रारम्भ किया गया और वर्ष २७ अंक १ ता० २८-१-२६ तक पूर्ण किया गया था अर्थात् कालम ४४३ लेख भिन्न २ चर्चाको लिये हुए प्रकाशित किये गए थे। इन लेखोंको अध्यात्म प्रेमियोंने बहुत ही पसन्द किया। वास्तवमें एक एक लेख एक प्रकारका अमृतका घड़ा है जिसको पीनेसे आत्मिक आनन्दका स्वाद आता है। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषदके प्रमुख व जैन सिद्धांतके मर्मज्ञ व प्रकाशक श्रीमान् बारिष्टर चम्पतरायजी विद्यावारिधिने यह इच्छा प्रगट की कि इन सब लेखोंका संग्रह पुनः पुस्तकाकार मुद्रणकर प्रकाशित किया जाय। उनकी प्रेरणाको ध्यानमें लेकर उदारचित्त दो जैन महिलाओंसे १००) की सहायता प्राप्त हुई तब जैनमित्रके परोपकारी प्रकाशक सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया द्वारा इस संग्रहको बड़े परिश्रमसे पुस्तकाकार प्रगट कराया जाता है जिसको हरएक आत्मप्रेमीको शीघ्र ही एक एक प्रति मंगाकर नित्य पाठकर आत्मरस पान करना चाहिये। दाम भी लागतको ही ध्यानमें लेकर अतीव कम रक्खा गया है। इस पुस्तकमें कहीं कोई त्रुटि हो तो विद्वज्जन कृपाकर सूचना करनेका कष्ट उठावेंगे।

अकोला। } ता० २८-१-२९ }

आत्मरसिक—
ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

विषयसूची।

विषय	पृष्ठ

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीकृत-
पूर्वप्रकाशित दो अध्यात्मिक ग्रंथ-

अनुभवानन्द

इसमें अध्यात्मरस पूर्ण ९६ विषयोंका संग्रह,
जैनमित्रमे उद्धृत है। पृष्ठ १२८ व
मूल्य-आठ आने।

मैनेजर,
दि० जैन पुस्तकालय,
सूरत।

स्वसमरानन्द

अथवा

चेतन-कर्म-युद्ध।

इसमें आध्यात्मिक २८ विषयोंका संग्रह जैनमित्रसे
उद्धृत है। पृष्ठ ८१ लागतमात्र
मूल्य-तीन आने।

निश्चयधर्मका मनन ।

१—आत्मिक दुर्ग ।

मैं अविनाशी चैतन्य प्राणोंका धारी, शुद्ध दर्शन और ज्ञान उपयोगसे पूर्ण, पुद्गल द्रव्यसे बनी हुई स्पर्श, रस, गंध वर्णवाली मूर्तिसे रहित, अपने शुद्ध अतीन्द्रिय भावोंका करनेवाला, अपने असख्यात प्रदेशोंमें सदा स्थित अखड उनको कभी भी कम बढ़ नहीं करनेवाला, अपने ही अतिन्द्रिय आत्मजनित परमानंदका भोगनेवाला, ससारकी चतुर्गतिमय अवस्थासे रहित तथा सिद्ध समान परम शुद्ध अपने स्वभावमें ही सर्वोच्च रहनेवाला हूं। मेरे सामान्य रूपमें ससारी सिद्धकी कल्पना नहीं है, न यहा १४ जीवसमास, १४ गुणस्थान अथवा १४ मार्गणा रूप विकल्पोंकी तरंगें हैं। मैं सर्व भेदसे रहित परमानन्दमई सिद्ध जातिका धारी, कलंकरहित, द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्मसे शून्य एक चिंतिपंड, ज्ञाताद्रष्टा, अनंतगुणरूप परन्तु गुणोंसे अभेद, सदा अस्तिरूप, अनुपम, शुद्ध एक जीव पदार्थ हूं। स्फटिकमणि सदृश निर्मल पुरुषाकार मूर्तिका धारी मैं अपने ही परम पारिणामिक भावरूपी अखड दुर्गमें निवास करनेवाला, अपने ही स्वरूपमें मस्त, अपने रूप सिवाय अन्यको न अनुभवता हूँ, न देखता हूँ, न स्पर्श करता हूँ, न दूसरा कोई मुझे अनुभवता है, देखता है

और स्पर्श करता है । मैं आप आपी आपका श्रद्धालु ज्ञानी होकर आपमें ही निरंतर चारित्रवान होता हुआ निज स्वभाव परिणमनसे उत्पन्न परम सुखामृतका पान करता हूं ।

२–आत्मिक जहाज ।

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वोंके भीतरसे यदि कोई इन सबको निचोड़कर इनका सत–इत्र निकालकर उसका अनुभव करना चाहे तो उसको एक निज स्वभावमई कारण समयसाररूप सहज अनंतदर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, आनंदका धारी आत्मतत्व ही प्राप्त होगा । इसीका श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र अथवा यों कहिये कि इन तीन गुणोंको अपने सम्पूर्ण प्रदेशोंमें व्यापकर रखनेवाला एक आत्मा ही वह धर्मरूपी जहाज है जिसपर चढ़कर यह आत्मा आप ही विना खटकेके अपनी शुद्धपरिणति रूप शुद्ध अवस्थाको उपलब्ध कर लेता है। आत्मा ही जहाज है, आत्मा ही समुद्र है, आत्मा ही रत्नद्वीप है, आत्मा ही खेवटिया है और आत्मा ही पथिक है कि जिसको उस रत्नद्वीपमें जाना है ।

शुद्ध पारणामिक भावमें तल्लीन होनेवाला कारण समयसार भावमई जहाज है । शुद्धसे हीन परिणामोंमें तिष्ठनेवाला आत्मा समुद्र है, जिसको पार करना है, कार्य समयसाररूप परम व्यक्त, आवरणरहित, आनन्दस्वरूप चैतन्य घन आत्मा रत्नद्वीप है, स्व वीर्य द्वारा निज तल्लीनमय भावको गिरने न देकर उसे स्थिर रखनेवाला भाव खेवटिया है, तथा समय समय विशुद्धताकी वृद्धिको प्राप्त करनेवाला आत्मा पथिक है, जिसे अपने पूर्ण शुद्ध स्वभावरूप रत्नद्वीपमें पहुंचना है। इस यात्रामें रहते हुए सम्यग्ज्ञानी आत्माको

किसी तरहका कष्ट नहीं होता। यही वह योगाभ्यास है जहा मन, वचन, काय अपने आप विना प्रयत्नके गुमसुम हो जाते हैं। यह योगाभ्यास वास्तवमें श्रुतज्ञानद्वारा अनत गुणात्मक आत्मद्रव्यका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञानमें उपयुक्त होता हुआ स्वसवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान व केवलज्ञान अपेक्षा परोक्षज्ञान या वीतराग चारित्रका मननरूप भाव है। जो इस भावके भानेवाले हैं वे ही मोक्षमार्गी है, और उन्हींको आत्मजन्य अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद आता है, कि जिसकी तृप्तिमें उनका जीवन सफलमनोरथ होता जाता है।

३—अपूर्व औषधि।

सुखका अभिलाषी आत्मा जब अपने अनुभवसे इस बातका अच्छी तरह विश्वास कर लेता है कि इद्रिय विषयोंमें राग–भाव सुखकारी नहीं, किन्तु दु खकारी है तथा अपनी सुख शातिकी अवस्थामें क्षोभ उपजानेवाला है। सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है और वह आत्माके ही विशेष गुणोंमेंसे एक गुण है। जब गुण गुणीसे अलग नहीं होता तब वह अपने उपयोगकी चालको अपने शुद्ध स्वभाव रूप वीतराग स्वरूपमें ले जानेका बडी रुचिके साथ उद्यम करता है। यद्यपि अपनेसे भिन्न अनेक कार्य, जो कि चारों तरफ फैले हुए हैं इस उद्यमशील आत्माके उपयोगको स्वस्वरूपसे छुटाकर अपनी ओर उपयुक्त होनेके लिये निमित्त कारण होते हैं, तो भी परम विश्वास रूपी दृढ आश्रयके बलसे, यह उत्साही प्राणी उनकी चाह न करता हुआ अपनी दृष्टि, अपनी श्रद्धारूपी भूमिकामें ही रखता है। निश्चयनयसे जगतका स्वरूप जब उसके ज्ञान दर्पणमें झलकता है तब [illegible] पिंडरूप जगत एक

हुआ विश्व मालूम होता है, जिसमें एकसी सदृशताको दिखानेवाले ६ द्रव्य पृथक् २ झलकते हैं । इनमें पुद्गलके परमाणु और स्कन्ध रूप द्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाच द्रव्य ज्ञान दर्शनकी शक्तिसे रहित हो अजीवपना प्रगट करते हैं और शेष अनन्तानन्त जीवद्रव्य इन पाचोंके सम्बंधसे छूटे हुए अपने निर्मल ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमई स्वभावमें भरे हुए परम शुद्ध, निर्विकारी, चेतन ज्योतिधारी और असंख्यात प्रदेशी प्रदर्शित होते हैं, उन्हींके समान आप भी झलकता है । एक जातिमई एकताके दृश्यमें लय लीन होते हुए उस दर्शक उत्साहीको राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुद्ध भावोंका दर्शन नहीं होता । इसी दशामें शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता है कि जिस अनुभवके भीतर इस ज्ञानीको आत्म-सुखका भलेप्रकार स्वाद आता है । यही निश्चयनयके मननका प्रकार है । इसकी बार बार प्रवृत्ति ही इस भव्यजीवके लिये परम कल्याणकारिणी औषधि है, जो इसकी पूर्वकी सर्व निर्बलताओंको मिटाकर इसकी परिणतिको स्वास्थ्य प्रदान करती है ।

४–मेरा राज्य ।

मैं अपने राज्यका आप ही स्वामी हूं। मेरा राज्य मेरी ही ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय सम्पदा है। यह सम्पदा और मेरी सत्ता जुदी२ नहीं है । धन कण, कंचन व्यवहारमें उसके स्वामीसे जुदे दीखते हैं, ऐसी मेरी विभूति मुझसे भिन्न नहीं है । मैं इस विभूतिका आप ही व्यवहार करता हूं । इससे नाना प्रकारके आरम्भ व व्यापार करता हूं । उन आरम्भ व व्यापारोंका असर भी मेरे ही राज्यमें

होता है, दूसरे किसीको न उससे लाभ होता है और न हानि, न दूसरा उसमें कोई अंतराय डाल सक्ता है, इसतरह मैं अपनी विभूतिका आप ही भोक्ता हूं। मैं कितना भी चाहूं कि दूसरा कोई उसका भोग कर ले पर मेरी सम्पदाको दूसरा कोई भोग नहीं सक्ता। मैं अपने अतीन्द्रिय धनका आप ही व्यापारी और आप ही भोक्ता होता हुआ आप ही परमानन्दका विलास करता हू। व्यवहारमें उन्मत्त जीव कहते हैं कि मैं राग करता हू, मैं द्वेष करता हू, मैं दया करता हू, मैं हिंसा करता हू, अथवा मैं मकान बनाता हू, मैं आभूषण गढता हू, मैं वस्त्र बनाता हू, मैं मिठाई बनाता हू, इत्यादि कथन सर्व कल्पनाजाल है। मेरा वीतरागमई स्वरूप शुद्ध है इसलिये मैं शुद्ध ज्ञान दर्शनमई परिणतिके सिवाय और परिणामको कभी नहीं करता हू। जो वस्तु जिस स्वभावरूप होती है उसका वैसा ही परिणमन होता है, जैसे—चेतनाका चेतनरूप, अचेतनाका अचेतन रूप। जब मैं शुद्ध चिन्मात्र पिंड हू, तब जैसे शुद्ध सुवर्णके बने कड़े कुंडल आदि सब ही आभूषण उस शुद्ध सुवर्णमई ही होंगे उसीतरह मेरी शुद्ध चैतन्य धातुसे रचे हुए सर्व ही भाव शुद्ध चैतन्यमई होंगे। व्यवहारमें उलझे हुए जीव कहते हैं कि मैं मनुष्य हू, देव हू, नारकी हू, पशु हू, मैं मूर्ख हू, प्रवीण हू, मैं राजा हू, मैं रंक हू, मैं सबल हू, निर्बल हू मैं योद्धा हू, मैं कायर हू, मैं बंधा हू, मैं खुला हू, मैं निरोगी हू, मैं पुण्यात्मा हू, मैं पापी हू, मैं भागवान हू, मैं अभागी हू इत्यादि, सो यह सर्व उन्मत्तोंकेसे वचन हैं। मैं इन कही हुई बातोंको आदि लेकर किसी भी विकार रूप परिणतिमें न [illegible] निर्दोष सहज ही चिदानन्दघन

६—आत्मिक धारा।

सर्व आकुलताओंसे रहित परमपूज्य जैन आत्मा अपने असंख्यात प्रदेशोंको लिये हुए अपने स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणमें उन्मत्त होता हुआ जब अपने उपयोगको समस्त पर वस्तुओंसे हटाता है और अपने स्वरूप ज्ञानके धारावाही विचारमें लीन करता है तब एक ऐसी ध्यानकी धारा पैदा होती है जो अनात्माके सवघरो उमसे जुदा करने लगती है। उससमय रागद्वेषकी कल्लोलें मिट जाती हैं और वीतरागताका निर्मल जल आत्मसरोवरमें बहने लगता है, कि जिस जलकी आभामें जलधारीको स्वयं अपनी मूर्तिका दर्शन होता है। जिस ज्ञान क्षोभरहित सिद्ध समान निर्विकार मूर्तिको देख देखकर हृदय भीतरसे आल्हादित हो जाता है और ऐसा आसक्त होजाता है कि उस दृश्यके अवलोकनसे जरा भी अलग नहीं हटता। इस स्वरूप—दर्शनमें दर्शकको वह अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव होजाता है जिसका श्रद्धारहित व्यक्तियोंको कभी भी अनुभव नहीं होता। इस आनन्दमें तन्मय होता हुआ भव्यात्मा जिस श्रेणीपर होता है उस श्रेणीपर इन्द्रिय–विषयभोगमें लम्पटी एक चक्रवर्ती राजा अथवा एक इन्द्र नहीं होसकता। निश्चयसे सर्व ही जीव शुद्ध हैं। यह भाव समतारसका पान कराता हुआ आत्माको पुष्ट करनेमें परम उपयोगी होजाता है। जो इस साम्यरसका पान करते हैं वे निश्चयधर्मके वास्तविक मनन करनेवाले हैं।

७—आत्मधारामृत।

परम प्रधान सत्य गुणोंका धारी आत्मा जब अपनी स्थितिका विचार करता है तब इसके ध्यानमें आता है कि मैं सदा कालसे

हू और सदा ही कायम रहूगा, क्योंकि मैं एक वस्तु हू। जो २ वस्तु होती है उसकी सत्ता सदा कालसे ही होती है, उसका कभी नाश नहीं होता और न कभी किसीके द्वारा उसकी सत्ताका उत्पाद होता है। मुझमें एक ऐसा अपूर्व गुण है जो मेरे सिवाय अन्य पाच द्रव्योंमें नहीं है। चेतनताका, जिसके बलसे मैं अपनी ससार अवस्थामें इच्छानुसार परिणमन करता हू, एक विषयपर लक्ष्य था, परन्तु मैं उसे एकाएक छोड दूसरेपर ले जाता हू, क्रोधका भाव होनेपर भी एकाएक शात होजाता हू, शोकातुर होनेपर भी बातकी बातमें कामातुर होजाता हू। चद्रनखाके जीवमें पुत्रवियोगसे जब शोकाग्नि जल रही थी और वह उससे व्याकुल हो रहा था तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणके मनोहर रूपको देखकर वह एकाएक कामातुर होगया, ऐसी चेतनता मेरे हीमें है—पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु और आकाशमें नहीं है। चेतनता एक गुण है जो गुणीके आश्रयके विना ठहर नहीं सक्ता। इस मुख्य गुणका गुणी मैं जीव हू। मेरा गुण भी अविनाशी है और मैं भी अविनाशी हू। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असभवपनेसे रहित ऐसे चेतन गुणका स्वामी होकर मैं निश्चयसे रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी, देव, नारकी, मनुष्य, पशु, स्त्री, पुरुष, बालिका आदि रूप नही हू। मैं वीतरागी हू, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोके मेलसे रहित हू, इसीसे मेरेमें मिथ्यात्त्वसे ले अयोगी पर्यंत १४ गुणस्थान, व गतिसे ले आहारक पर्यंत १४ मार्गणाके स्थान नहीं हैं, न मेरेमें इद्रिया हैं न मैं इद्रिय सुखका स्वामी हू। सुख या आनन्द चेतनाके समान मेरा एक विशेष गुण है। वह मेरी सत्तामें सदासे है। जब

दशामें अपने ही ज्ञान स्वभावको अनुभव करता हूं तब मुझे उस आनन्दका स्वाद आता है। वास्तवमें मैं स्वयं परमेश्वर, परमात्मा, सिद्ध, निरंजन, अमूर्तीक, अव्याबाध, अकलंक, निर्विकार, निष्कल, परब्रह्म स्वरूप, परमपवित्र ईश्वर हूं। मुझे शुद्ध नयकी दृष्टि मेरा स्वरूप ऐसा ही झलकाती है। अब मैं इसी स्थितिमें लीन होता हुआ संसार वासनाओंसे बाह्य शुद्ध ज्ञान–वासना हीमें तन्मय होरहा हूं।

८–निर्मोहीमें साम्य।

मोहके जालमें उलझ रहा हुआ एक पुरुष उसके दिये हुए इंद्रिय विषयरूप लालचमें रंजायमान होता हुआ और इस अवस्थासे रागी द्वेषी होकर नाना प्रकार अजीव रूप कार्माण वर्गणाओंसे लिप्त हो, इस चतुर्गतिरूप संसारमें नटकी तरह अनेक भेष धारणकर निराकुल सुखकी तृष्णामें उसीतरह वारम्वार चक्कर लगाता और क्षोभित होता है जिसतरह कि रेतके बनमें हिरण अपनी प्यास बुझानेको सूर्य किरणसे चमकती हुई रेतमें जलका आभास मान उसकी ओर दौड़ता है और वहां जल न पाकर आकुलित होकर दूसरी ओर फिर उसी भ्रम बुद्धिसे दौड़ता है और वहांसे भी निराश होकर अपनी तृष्णा बुझानेके लिये भटक भटककर महा दुःखी होता है। निश्चयनयसे तीन लोक और अलोकके धनीकी ऐसी नीच दशा जिस अजीवके संगसे हुई है उस अजीवको जब यह आगम, युक्ति, गुरूपदेश और स्वसंवेदन ज्ञानसे अपनेसे बिलकुल भिन्न अनुभव करता है और अपनी शक्तिकी महिमामें लीन होता है तब यह अपने निर्विकार, निरंजन, भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म रहित, अविनाशी, अस्तित्वादि साधारण और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र आदि

विशेष गुणोसे युक्त परम शुद्ध जीवत्व नामके पारिणामिक भावके धारी स्वरूपको निर्मल दृष्टिसे देखता है। इस स्वरूप अवलोकनमें जो आनन्द आता है वही एक निराकुल परम तृप्तिकारी अतीन्द्रिय सिद्धोंके सुखके समान सुख है, जिसको अनुभव करते हुए जो शांति और सुख होता है वह वचनअगोचर है। उससमय तीन लोकके जीव सर्व ही शुद्ध, विकाररहित, समता देवीके मंदिरमें शांतिमे विराजे हुए और अभ्यंतरिक समताकी पूजा करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं और इस वाक्यको सत्यार्थ करते हैं कि "सव्वे सुद्धा हि सुद्धणया।"

९-मेरा कोई शत्रु व मित्र नहीं है।

मैं न द्रव्यकर्म हूं न भावकर्म, एवं न मैं द्रव्यकर्मकी शक्ति रूप हूं न भावकर्मकी शक्तिरूप, न मैं शरीरादि नोकर्म हू, न मैं किसी प्रकारके रागादि अध्यवसान रूप हूं। मैं अचेतन और अचेतनके निमित्तसे उत्पन्न हुई चेतनमें नाना प्रकारकी परिणतिसे निराला हू। मैं ज्ञाता दृष्टा अविनाशी निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप अभेद रत्नत्रयका धनी अपने अनन्त गुणरूप विभूतिका आप स्वामी हूं। मेरा इस जगतमें न कोई शत्रु है और न मित्र। जो जगत मुझे (मेरे शुद्ध आत्म स्वरूपको) देखता है वह मेरा (मेरे शुद्ध आत्म स्वरूपका) कभी वैरी या बंधु नहीं होसक्ता और जो जगत (मेरे शुद्धस्वरूप) को नहीं देखता है किन्तु मेरे शरीरादि बाहरी घर मात्र हीको देखता है, वह भी मेरा (मेरे शुद्ध आत्म स्वरूपका) शत्रु या मित्र नहीं हो सक्ता। वह भले ही मेरे शरीरका उपकार या अपकार करे पर उससे मेरे ज्ञान वल्की दृढ़तामें तल्लीन आत्म स्वरूपको कोई बाधा नहीं पहुच सक्ती।

मैं एक चेतन पिंड हूं मेरे अनादि अचेतनका सम्बंध है तो भी मेरे पिंडमें जो शुद्ध पारिणामिक भाव रूप अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख आदि गुण समूहशक्ति रूपसे विराजमान होरहे हैं उनका कभी नाश, ह्रास या अन्यथा अर्थात् दर्शनका अदर्शन, ज्ञानका अज्ञान, वीर्यका वीर्यरहितपना आदि परिणमन न हुआ है, न होता है और न होवेगा। भले ही कर्मोंके आवरणके निमित्तसे उस शक्तिकी व्यक्ततामें कमी होजाय, पर न मैं और न मेरा कोई गुण अपने स्वरूपको कभी त्याग सक्ता है।

यह मेरी बड़ी अज्ञानता थी जो मैं अचेतन और उसके अचेतन गुण व अचेतन पर्याय तथा चेतनमें अचेतनके निमित्तसे हुई नाना प्रकारकी मिथ्यात्वादि गुणस्थान व गति, इंद्रिय आदि मार्गणास्थान रूप परिणतियोंको अपना स्वरूप मान रहा था और उन्हींके मोहमें निरंतर लवलीन था। सवेरेसे शयन काल तक क्षणिक शरीर व उसके सम्बंधियोंकी रक्षाके ही प्रयत्नमें था। एक क्षण भी इस बातको अवकाश नहीं मिलता था जो मैं अपने आपकी तरफ उपयोगकी नजर भी उठाकर देखूं। श्रीजिनेन्द्र आगम, अपनी बुद्धि व अनुमान प्रमाणकी युक्ति, सत्यार्थ गुरुके उपदेश तथा स्वसंवेदन ज्ञानसे अब मैंने मेरेको भुलानेवालोंकी पहचान कर ली है इससे अब मैं अपनेको सिद्धके समान शक्तिका धारी जानता हुआ शुद्ध नयकी दृष्टिसे एक अपने शुद्धस्वरूपके अनुभवमें ही लीन होनेसे परमानंद मानता हूं और वास्तवमें निज उपयोगको शुद्ध आत्माके विचारमें लगानेसे जिस अतींद्रिय सुखका अनुभव कर रहा हूं उसका वर्णन नहीं किया जासक्ता।

१०—रागद्वेषसे स्वसंवेदन ज्ञान।

परम शक्तिधारी अनुपम अविकारी निजानन्द आराम-विहारी आत्मा जब शरीर और उसके विकारोंकी चिन्तासे निवृत्त होजाता है और पुद्गलकी संगतिसे होनेवाले भावोंका भी तिरस्कार करता है तब पहले एक जातिके रागद्वेषमें फस जाता है। मैं सिद्धकी जातिका धारी निराकुल सुख भोक्ता, परम वीतराग और शुद्ध हूं। यह मेरी शक्ति है। इसीकी प्राप्ति मेरेको उपादेय है, यह तो राग पैदा होता है और यह चार गतिमय संसार, यह द्रव्य कर्म, यह भाव कर्म, यह नोकर्म, यह परिवार, यह धन सम्पदा, यह लौकिक ऐश्वर्य यह सब आत्माके स्वरूपसे भिन्न हैं, इनका संग आत्माकी हानि करनेवाला है, इस प्रकारका द्वेष पैदा होता है। स्वसे प्रेम, परसे अप्रेम इस जातिके रागद्वेषमें भीगे हुए आत्माके शनै २ स्वका प्रेम अपने शुद्ध आत्मीक अनुभवके आनन्दमें डूबते हुए विलय होजाता है तब किसी जातिका रागद्वेष नहीं होता। इस परिणतिको स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं। इसी परिणतिमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों उसी तरह घुले रहते हैं जैसे एक ठडाईमें पानी, शक्कर, मसाला आदि सब घुल जाते हैं और जैसे इस ठडाईको पीनेसे तीनोंका ही एक साथ अभिन्न अनुभव होता है, ऐसे ही स्वसंवेदन ज्ञानमें अभेद नयसे तीनोंका ही प्रवेश है और वहां तीनोंका एक होना ही परम विलक्षण अनुभव है—यही परिणति निश्चयसे मोक्षका मार्ग है। जो इस मार्गमें बिना जरा भी गिरे हुए अन्तर्मुहूर्त डटे रहते हैं वे तुर्त भाव मोक्षका लाभकर जीवन्मुक्त परमात्मा होजाते हैं और जो पूर्ण डटे नहीं रह सकते वे इस

गतिसे गिरकर फिर भी इसीकी भावना करते हैं, जिसके प्रतापसे वे पुन इस स्वसंवेदन ज्ञानमें आजाते है। इसतरह पुन २ अभ्यास किया जाना ही निश्चयधर्मका मनन है। जो कोई सुबुद्धी इसकी रुचि करते हैं वे सम्यग्दृष्टि ह या सम्यग्दर्शनके सन्मुख हैं। ये भव्य जीव परमात्म स्वभावके भजनमें परम सतोषी होते हुए अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्दके स्वादमें परम तृप्त रहते हैं।

११-मोक्षलक्ष्मीके लिये प्रयत्न।

गुणोंका सागर आत्मा जिससमय सर्व प्रपचजालोंको त्याग कर अपना उपयोग अपने रूपकी सुन्दरताके अवलोकनमें जोड़ देता है उससमय उसको इद्रियोंके अगोचर उसी जातिका आनद होता है जो आनद शुद्ध आत्माको साक्षात् अतराय रहित अनुभवमें आता है। मैं अपनी सत्ताका आप धनी, सदा अविनाशी, ज्ञानदर्शन रूपधारी, अविकारी, सबसे भिन्न परन्तु सबके भेदोका ज्ञाता, शुद्ध चिदानदघन हू, मेरी शक्ति मेरेमें पूर्ण भरी है। मैं अपने शुद्ध पारमाणिक भावका आप कर्ता हू तथा उसीका ही भोक्ता हू। मेरा इस षट्द्रव्योंकि समुदायमई जगतमें किसीसे भी सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि मेरे शुद्ध परिणमनमें सहाई कालद्रव्य है, परन्तु वह मात्र जड उदासीन कारणरूप ही है। यद्यपि जगतके सर्व जीव शुद्ध निश्चयनयसे गुणोंकी अपेक्षा समान हैं तौभी हरएककी सत्ता एक दूसरेसे निराली है, किसीसे किसीका भी कोई सम्बध नहीं। अतएव मैं एकाकी अपनी विभूतिका आप धनी अपने शुद्ध आनदका स्वय भोगनेवाला हू। निश्चयधर्म मेरा ही निश्चय स्वरूप है। मैं इस स्वरूपको ी त्याग नहीं सक्ता। इस स्वरूपमें रागद्वेष मोहकी कालिमा

नहीं है, न इसमें कोई विषयवासना है। अपने वीतराग विज्ञानमय स्वरूपमें ही इसका सतत् निवास है। मैं इसी स्वरूपका अनुभव करनेवाला रहकर अपने शुद्ध पदके आनदविलासमें सदा ही अनघ रहनेकी आकाक्षा करता हू। यह मेरा खास कर्तव्य कर्म है। मैं अपने इसी कर्मके द्वारा शिवनारीके वरनेके लिये प्रयत्नशील होरहा हैं।

१२–आत्मसृष्टि।

गुण गणधारी शातरसानुभवी आत्माका पर पदार्थोंसे विरक्त हो अपने ज्ञानानदमय स्वरूपमें सन्मुख होना मानो जगतसे हटकर अमल अचल आकाश सदृश असग आत्माकी अनतगुणरूप सृष्टिमें प्रवेश करना है। जैसे यह जगत अनादि अनत अकृत्रिम है वैसे ही यह आत्मसृष्टि अनादि अनत अकृत्रिम है। इस सृष्टिके निवासी दर्शन, ज्ञान, वीर्य्य, सुख, चारित्र, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, अकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य आदि महानुभावोंकी शरणमें जाकर एक एककी पृथक२ भक्तिमें जो लीन होते हैं उनको ही निश्रेयसुखका विलास प्राप्त होता है। जब इस बाह्य जगतमें दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, शरीर कष्ट, मानस कष्ट आदि अनेक विकार और उनके उत्पादक पदार्थ हैं, तब इस आत्मसृष्टिमें इन सबका अभाव होकर अतीन्द्रिय आनन्द और निराकुलताका नित्य सद्भाव है। जैसे कि इस बाह्य शरीरका जन्म और मरण दिखलाइ पड़ता है वैसे ही इस आत्मसृष्टिमें शुद्ध गुणोंकी स्वाभाविक परिणतिका उत्पाद और व्यय है। इस उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक आत्मसृष्टिको देखते२ ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन स्वरूप ब्रह्मकी स्मृति होजाती है। चमें यह आत्मा ब्रह्म है। इसकी चिद परिणति उत्पन्न

होती है तो भी चेतना गुणका औ यपना है। सर्व आडम्बरोंको छोड़कर जो सदा इस आत्मसृष्टिमें कल्लोल करते हैं वे शनैः शनैः ऐसी शक्ति प्रगट कर लेते हैं जिससे यह आत्मसृष्टि आत्मामें ही समा जाती है और बाह्य जगतका नकशा भी उसीमें जम जाता है, मानों सर्वको व्यापकर रहनेवाला आत्मा हो जाता है। इसतरह आत्मद्रव्यके ज्ञाता जब अपना उपयोग आपमें रमाते हैं तब जगतके क्षणिक सुखोंसे अतीत आत्मानन्दका लाभ करते हैं।

१३-आपमें घरमें विश्राम.

सर्व संसार-विकल्पोंसे दूर ज्ञानानन्दमय स्वाभाविक तत्त्वका मनन व अनुभव इस मुमुक्षु जीवको मोक्षप्राप्तिका उपाय है। अनन्तगुण पर्यायोंका समूह चेतनता लक्षणधारी स्व तत्त्वमें विलास आत्मीक अतीन्द्रिय आल्हादके लाभ विना संसार विकल्पजनित चिन्ताओंसे इस प्राणीका बचाव नहीं होता। मैं निश्चयसे अष्टकर्म रहित राग-द्वेष मोहकी कालिमासे वर्जित शरीरादि सम्बंध विना स्फटिकमणिके समान पूर्ण निर्मल एक शुद्ध बुद्ध गुण पर्यायमय आत्म पदार्थ हूं। मेरी सत्ता मेरे हीमें है। मेरी परिणतिका मैं ही स्वामी हूं। सूर्य जैसे अंधकारसे अन्य होकर अपने स्वभावको नहीं त्यागता वैसे ही मैं अपने स्वभावको अपनी नित्य शक्तिमेंसे कभी त्यागनेवाला नहीं हूं। यह निश्चय रखते हुए भी कि मेरे स्वभाव रूपी निज घरमें रहना सर्वथा निःकण्टक और निरंतर आनंदमय है, यह जीव अपने स्वभावसे बाहर २ रहता है-यही इसका अपराध और दुःखका हेतु है। सुखका अर्थी इसीलिये स्वभाव धाममें ही विश्राम करके परम ाराम निज ग्रामसे उत्पन्न अनुपम आनन्द धान्यपर सन्तोष करता

हुआ और निज अनुभूति तियासे एकमत हो कल्लोल करता हुआ जिस शांति और वीतरागताका लाभ करता है उसका मनन भवसुख-पिपासु जीवको कदापि नहीं होता। वह अपराधी होकर कर्म बाधता है, जब कि स्व स्वभावमें लीन आत्मा निरपराधी रहकर सदा निर्भय और निःशंक पदमें अचल तिष्ठता है। उसकी यह स्थिति परम पद प्रगटताका एक असाधारण साधन है और यही निश्चय धर्म है। सोहंकी शरण लेनेवाले इस धर्मके मननमें परम प्रीतियुक्त होते हुए सदा स्वात्मिक रसका पान करते हैं।

१४--आत्मसमुद्र।

सच्चिदानन्दमय आत्माका निज शुद्ध आत्मभूमिमें अवस्थित होना और राग द्वेषमई परिणामोंका न करना सम्यक्चारित्र है। इसीके बलसे यह आत्मानुभवरूपी साधन आत्मसाध्यकी स्वय सिद्धि करनेमें प्रवृत्त होता है। बाहरी सम्बन्धोंका होना स्वभावके विकाशमें उस समयतक अंतरायकारक होता है जबतक इसके अंतरके परिणामोंमें मोहका जोर होता है। मोहको मैं नहीं जानता, इसका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं एकाकी, असहाय, अपने स्वरूपका आप स्वामी हूं। ऐसा समझकर जब मेरी परिणति अपने आप ही सर्व विकल्पोंको त्यागकर निर्विकल्प और शुद्ध हो जाती है तब उसीमें मुझे अपना सर्वस्व दिखता है। उसीमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना आदि सद्गुण स्वयं झलकने हैं, और जब मैं अनंत गुणरूप आत्म-समुद्रमें डुबकी लगाता हूं तब वहां अलग२ सद्गुणोंका भान नहीं होता, सिर्फ एक परम शांत अद्भुत समुद्र झलकता है, जिसमें डूबनेसे मौ मिष्के १५।

लेनेसे जो कुछ अनुभवगोचर होता है वही आत्माके शुद्ध स्वभावका आलम्बन है। इसीको आत्मसमाधि भी कहते हैं। इस अवस्थामें मन, वचन, काय इन तीनोंका गुजर नहीं होता। इन तीनोंके प्रपचजालोंसे रहित होना ही वास्तवमें अभेद रत्नत्रय, वीतराग सम्यक्त, स्वसवेदनज्ञान और वीतराग चारित्र है। यही निश्चय धर्म है, यही परम पुरुषार्थ है, यही उपादेय कार्य है। इसीका मनन मुमुक्षु जीवके लिये हितकारी, आनन्दकारी और मोक्षदायक है।

१५-अपूर्व विश्रांति*

कर्म फदोंसे अतीत आत्मा जब अपनी अटल सपदाको आपके शात सुखदाई भडारमें एकत्रित देखता है तो महा आनदमें फूला नहीं समाता है। एक प्रकारकी उन्मत्तता उसपर आजाती है जिसकी बेहोशी उससे तीन जगतको भुलवा देती है। वह तृप्त हुए सिंहके समान निर्भय हो अपनी त्रिगुप्तिमय वीतराग विज्ञानमई गुफाके भीतर विश्राम करता है। मानों उसका सब सम्बध सबसे छूट ही गया है। उसकी इस निश्चल दशामें भीतरी निद्रा नहीं है। वहा तो एक अद्भुत तरगोंका समुद्र लहलहा रहा है। अनत गुणोंकी परिणतिया होती ही रहती है। इनके होते हुए भी इस अनुभवीको एकाकार स्वरसका ही स्वाद आता है। यह तो अपनेको निर्विकल्प ही समझता है। वह अपनेको निर्विकल्प समझता है या सविकल्प यह बात भी कौन कह सकता है? वहा तो ऐसी एकाग्रता व तन्मयता है कि प्रमाण, नय, निक्षेप आदि सब मारे भयके कापते हैं, उसके स्पर्श करनेका भी साहस नहीं कर सकते। शुद्ध निश्चयनय सर्व जीवोंको एक शुद्ध चिन्मात्रमय धातु पिंड ही देखती

है। नर नारक आदि भेद कहीं नजर ही नहीं आते। रागद्वेष आदि विभावोंका कहीं मैल ही नहीं दीखता। पुद्गल आदि अजीवोंका तो कहीं पता ही नहीं चलता, फक्त एक चैतन्य परिणतिका महान् लोकव्यापी समुद्र दिखता है। समुद्र दिखता है या क्या यह भी कौन कह सक्ता है? वह इस शात सुखदाई आत्म-समुद्रमें डूब जाता है और फिर ऊपर उठनेका भी उत्साह नहीं करता। इस निराली अटल तल्लीनताका भी कोई ठिकाना है? इसी लयतामें कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणका भी पता नहीं चलता। इस परम योग, परम समाधि, परम मग्नताका आनंद जो प्राप्त करते हैं वे अवश्य सदा काल आनंदित रहते और अपनी अनुभूति तियासे उत्पन्न अनुभवरूपी रसका सदा पान करते रहते हैं।

१६–अपूर्व वीरता।

आत्मा जबतक प्रबल जोरमें पड़ा हुआ था तबतक अपने आपके तीव्र वैरी मोहके विजय करनेका कोई उपाय नहीं कर सक्ता था और जब इसकी आत्मश्रद्धाविहीन अवस्था थी तब तो यह जगतके क्षणिक पदार्थोंके लिये न्याय अन्यायका विचार छोड़ चाहे जिससे लूटफाट कर व मार धाड़कर धनादि लेनेमें ही अपनी वीरता दिखलाता था और कहीं अपनेसे अधिक शरीर बलधारीके द्वारा मार भी खाता था। कभी आत्मश्रद्धा होनेपर भी कषायोंके वशमें होकर बड़े२ शत्रुओंसे मुकाबला करनेको रणक्षेत्रमें जाता और उनको विजयकर वीरताकी उपाधि उपलब्ध करता था। पर जन्मभर परिश्रमसे एकत्र की हुई विभूति सदा इस आत्माके साथ रह नहीं सक्ती। आत्मा आयु कर्मके आधीन है। आयु कर्मकी

रमरमें उपेक्षासंयमकी बहुत ही पुरन्दत कटिमेखला डाली है, वीत राग चारित्रका मौर बांधकर स्वसंवेदन ज्ञानका जामा पहन अति ाहीन आत्मानुभव रूपी स्व प्रेममें रक्त रक्त दुपट्टेसे कमरको अल कृत कर पगमें शुद्धोपयोगके अति मनोहर चर्मरहित कपड़ेके बने हुए फेशनेबुल उपानत धार तथा एकाग्रताके घोड़ेपर सवार हो, तेरह प्रकार चारित्रके कुशल बरातियों सहित स्व आनन्दरूपी बाजोंकी गरजके साथ शिवकन्याके परम शान्त सुखदाई परम शुद्ध परिणाम-रूपी महलपर जाता है और क्षणभर विश्राम करता है। उससमय इसके अद्भुत शुद्ध शृंगारको देखकर शिवकन्या यकायक रीझती है और इसे वरकर सदाके लिये इसे अनन्त आनन्दानुभवी बना देती है।

१८—चन्द्रकला।

अनेक संकल्प विकल्प रूपी वृक्षोंसे अति सघन संसार वनमें अज्ञान अंधकारके व्याप्त होनेके कारणसे एक पथिक मार्गको भूल कर इधर उधर भटक रहा है। यद्यपि यहां वृक्ष हैं, पर शांत सुधा-मय सुखरूपी जलका कोई स्थान नहीं है जिसको यह यात्री ढूंढ़ रहा है, क्योंकि इसको अति चाहकी तृषाने सताया है। यह प्यासका मारा फिरतेर अति दुःखी होकर एक वृक्षकी छायामें लेट जाता है। उसको चैन नहीं पड़ती है, निद्रा भी नहीं आती, लेटेर उस वनके संकल्प विकल्परूपी वृक्षोंको एकर करके विचारने लगता है, हरएकके स्वभावको अलगर सोचने लगता है। इस विचारमें पड़ेर ज्योंही वह ऊपरको दृष्टि फैलाकर देखता है तो वृक्षोंके बीचसे ही एक मनोहर ज्योति स्वरूप आत्मचन्द्रसे निकली हुई सम्यग्दृष्टिरूपी कला चमक रही है, जिसका प्रकाश वनमें होरहा है। बस, यह तुर्त

उठा और जो कुछ झिलमिला प्रकाश व्याप्त होरहा था उसके सहारेमें जल स्थानको ढूढ़ने लगा। थोडी ही देर पीछे एक ज्ञानरूपी पर्वतके नीचे आत्मानुभव रूपी सरोवर दिखलाई पडा। उसे देखते ही पथिकका हृदय कमल जो प्यासके कारण म्लानित होरहा था सो यकायक विकसित होने लगा। यह जाता है और खूब जी भरके अपने उपयोग रूपी चुल्लूसे उस सरोवरमें स्थित आनन्दामृतको पीता है और परम सुखी होजाता है। यह उस सम्यग्दृष्टि रूपी चन्द्रकलाकी अपूर्व महिमा है। पथिक इसी हीके प्रकाशमें चलने लगता है। कुछ देर बाद ही उस बनसे निकलकर शिवनगर जानेका जो चारित्ररूपी मार्ग है उसे भी वह पालेता है। धन्य है यह चन्द्रकला। इसके विना यह पथिक ज्ञानकी आख रखते हुए भी अन्धा था, इसको इच्छित मार्ग प्राप्त ही नहीं होता था, इसकी सुखकी तृषा बुझती ही न थी। इस सम्यग्दृष्टि चन्द्रकलाका निवास ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा हीके भीतर है, यह मिथ्यात्व मेघाच्छन्न आत्मामें गुप्त थी जो अब मोहके बादलोंके हटनेसे प्रगट हुई। इस चन्द्रकलाके प्रकाशके विना ११ अग ९ पूर्वके पाठी प्रौढ़ विद्वान् द्रव्य लिंगी मुनिको भी शिवनगरका पथ नहीं हाथ लगता है। इसके प्रकाशमें बैठा हुआ एक मातग आनद पाता हुआ बड़ा ही भाग्यशाली है, उतना एक वह क्षत्री वीर नहीं जो इसके प्रकाशके विना सकल्पविकल्परूपी बनमें बहुत काल तक घूमा करता है और कदाचित सब कुछ बाह्य पदार्थोंको छोडकर भी तपस्वी और ध्यानी होजाता है।

इस चन्द्रकलाकी सदा जय हो जो गुमराहोंको राह बताती है, दुखियोंको सुखी बनाती है, खोजियोंको वस्तु स्वरूप जताती है,

तथा बहिरात्माको अतरात्माकी श्रेणीमें बिठाती है। जो इसके उपादान कारण हैं व जो इसके प्रकाशमें अपना काम करते हैं वे जगतके क्षणिक सुखोंसे अतीत अनुभवानंदका स्वाद ले परम सुखी रहते हैं।

१९-परमौषधिग्रहण ।

अनादि भवबाधासे सतप्त, चिर दुःख ज्वालसे पीड़ित, चतुर्गतिमें विहार करनेवाला आत्मा तीव्र मोह मदके आवेशमें अति कठिन तृष्णाके रोगोंसे ग्रसित होरहा है। इन रोगोंके कारण इस प्राणीको जो दुःख है वह कहा नहीं जासक्ता। यह ससारी व्याधि पीड़ित व्यक्ति अपने रोगोकी शांतिके लिये कभी स्त्रियोंकी, कभी नाना प्रकार सुस्वादिष्ट पदार्थोंकी, कभी बहुत तरह सुगधित वस्तुओंकी, कभी रगविरगे चमकीले पदार्थोंकी कभी अनेक सुरताल सहित गायनोंकी, कभी भविष्यमें पानेवाले सुखोंकी आशाकी शरणमें जाता है, पर हर ठिकाने आकुलता ही आकुलता पाता है। रोग यद्यपि किंचित् बाहरसे दब जाता है पर वह भीतर घर करके और भी जोरसे उठ आता है। अनेक चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र, आदि पदोंकी विभूतियां भी भोगीं, पर खेद है तृष्णा रोगकी कुछ भी शांति नहीं हुई।

स्याद्वाद विद्याके पारगामी तत्वज्ञानी गुरुके प्रसादसे प्राप्त भेद विज्ञानकी अति पुष्ट जड़ीसे बनी हुई स्वसवेदन ज्ञानरूपी परमौषधिका सेवन करते ही तृष्णारूपी रोग एकदम शांत होजाता है। इस परमौषधिमें रत्नत्रयका शुद्ध रस हरजगह व्यापक है। इसीका सेवन करके अनेक जीव बहिरात्मासे परमात्मा हुए, होते हैं और होंगे। मैं निश्चयसे परम वीतराग शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अविनाशी हूं। मैं असख्यात प्रदेशी अखड पर पदार्थोंकी सत्तासे रहित एकाकी

द्रव्यापेक्षा नित्य और परिणामकी अपेक्षा अनित्य हूं। यद्यपि औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीन शरीरोंके साथ मैं व्यापक होरहा हूं तौभी मेरी सत्ता चेतनमई और इन शरीरोंकी अचेतनमई है। इनका मेरा कभी भी एकमेक सम्बन्ध नहीं हो सक्ता। मैं वीतरागी, ये रागद्वेषादि उपाधिके होनेमें सहकारी, मैं आनन्दरूप, ये आनन्दके बाधक इन्हींको अपने सुखका कारण माननेसे मैं रोगी हुआ, इसलिये मैं इनसे भिन्न और अपनी ही सत्तामें विराजित आनन्दका इच्छुक होता हुआ जबर तृष्णा रोग अपना जोर करे तो भेदविज्ञानसे उत्पन्न स्वसंवेदन ज्ञान व आत्मज्ञान, व वीतराग विज्ञानकी परमौषधि ग्रहण करता हूं। इस औषधिके लेते ही यह रोग उसी समय दब जाता है। इतना ही नहीं, किंतु इस रोगकी जड़ कटती है और साथ ही जितने अंश निरोगता होती है उतने अंश अपूर्व आनन्दका अनुभव होता है। इस अद्भुत स्वादका रसिक होकर मैं इसका इतना शौकीन होजाता हूं कि जबतक मैं सर्वथा निरोग न होऊं तबतक पुन पुन मैं इसी औषधिको पीता हूं। ज्यों२ इसका सेवन होता है, मेरा आत्मबल भी बढ़ता जाता है। पुष्टताकी वृद्धिसे रूप भी बढ़ता जाता है। इस निश्चय नयरूपी अनुभवसे पी जानेवाली औषधि पुन पुन सेवनसे कभी न कभी ऐसा समय आजाता है जब इसका सर्व मोहका रोग दूर होजाता है। यह परम स्वास्थ्ययुक्त अनन्तबली, अनन्तज्ञानी और अनन्तसुखी होजाता है। मैं निरंतर वीतराग सम्यक्त स्वसंवेदनज्ञान और वीतराग-चारित्रमई इस परमौषधिके लेनेसे परम आनन्दित रहता हूं।

२०—पुरुषार्थ।

अनादिकालसे यह आत्मा मोहके जालमें उलझा हुआ जिस किसी वस्तुको इंद्रियों व मनके द्वारा ग्रहण करता है उसीमें राग या द्वेष कर लेता है। निराकुलता, चिन्ता रहितता और शांतताको चाहता हुआ भी आकुलता, चिंता और अशांतिके उत्पन्न करनेवाले भावोंमें पड़ जाता है, इसीसे और अधिक अशांत हो जाता है। वास्तवमें आत्माको शांति व सुख तब ही होसक्ता है जब यह अपने घरकी विभूतिमें संतोष करे और परके भंडारमें लोभकर उसकी याचना न करे। इसके ऊपर जगतको नचानेवाले मोहने ऐसी भुलानेवाली मोहनी धूल डाल दी है, जिससे यह बेखबर हो रहा है। दयालु परोपकारी श्रीगुरु इसको बारबार पुकार कर समझाते हैं, पर यह कुछ भी नहीं समझता। इसके चित्तमें कभी आता भी है कि इस भूलको छोड़ दूँ, परंतु आलस्य इसको झट दबा लेता है। पर अब यह सम्हला है। इसने अपने पुरुषार्थको सम्हाला है। शुद्ध ज्ञान दर्शन आनंदमय शरीर व्यापी परम वीतराग यह आत्मा है, क्रोधादि विकारी भाव इसके स्वभाव नहीं, इस तरहका मेरा असल स्वरूप है ऐसी श्रद्धापूर्वक ज्ञानकी परिणतिमें आत्माका कल्लोल करना, रमना, चलना और थिर होना ही पुरुषार्थ है। यह एक सत्य परम दृढ़ ढाल है जो मोहके आक्रमणोंको दूरसे ही उलट फेंक देती है। यही पुरुषार्थ निश्चयसे वह साधन है जो आत्माके पाससे मोहको बिलकुल दूर भगानेवाला है और आत्माको परमात्मा कर देनेवाला है। जो अप्रमादी होकर इस पुरुषार्थपर कमर कस लेता है वह निश्चय स्वरूपके ध्यानमें अरप होता हुआ अपने त्रिगुणमय

परम शात घरमें जब शुद्ध दृष्टि फैलाकर देखता है तो वहा क्षमा, मृदुता, शातता, निराकुलता, समता, ऋजुता, शुचिता, निर्ममता, सहिष्णुता, चेतनता, वीतरागता आदि महा मनोहर देवियोंके दर्शन पाता है। बस फिर पुरुषार्थको छोड़ता नहीं। इसीके बलसे यह उन देवियोंमें रमता हुआ स्वाभाविक आनदका परम अद्भुत स्वाद लेता है।

२१–मूर्छा ।

इस भव वनमें भटकते हुए एक वियोगी मनुष्यको विश्रातिका कोई स्थान न मिलनेसे और पद पदपर आपत्तियोंका सामना होनेसे जो कष्ट भोगना पड रहा है उसका वर्णन किसी भी तरह नहीं हो सकता। अनन्तकालके लिये क्षुधा, तृषा आदि रोगोंको शमन करनेवाली औषधिके प्राप्त न होनेसे तथा जो वास्तवमें औषधि नही, पर औषधिसी मालूम पडती है उसको सहनशक्तिके अभावमें लेनेसे इसे अपने रोगकी वृद्धि ही करनी पड रही है। कहीं माया, कहीं मिथ्यात्व, कहीं निदान शल्योंके चुभनेसे इसका सर्वाङ्ग अति पीडित और दोषमय होरहा है। यह जिस ओर सुखकी इच्छासे जाता है वहीं दु ख, निराशा और धोखा पाता है। जिस किसीका आश्रय शातिलाभकी भावनासे लेता है वहीं अतमें अशातिको भोगकर पछताता है। यद्यपि यह आत्मा अनन्त बलशाली है, ज्ञानका भडार है, वीतरागताका पर्वत है, सम्यक्तरससे पूर्ण है, चारित्रके अपूर्व बलको रखनेवाला है और परमात्माकी जाति होनेसे परमानन्दमय है, तथापि इस समय इसकी सारी शक्ति इसीके भ्रमपूर्ण विचारोंमें पड जानेसे दब गई है। इसका परम मनोहर मुख म्लानित होगया है। उदासीमें पडकर यह विचारा एक वनमें एक विचाररूपी वृक्षके नीचे

बैठ जाता है और नाना प्रकारके परिणामजालोंमें उलझता हुआ कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी चारों तरफ देखता है इस तरहकी दशामें यह व्यक्ति पड़ा हुआ है। यह भीतरसे बहुत ही आकुलित और चिन्तावान है कि इतने ही में इसकी आंखोंके सामने एक स्वात्मानुभूति तिया अपना बहुत ही मनोहर रूप धारण किये हुए अति प्रफुल्लितवदन और अनुपम गुणरूपी वस्त्र अलंकारोंसे सुसज्जित आती हुई दीख पड़ती है, और वह धीरे२ इसीके निकट आरही है। इस मनुष्यकी दृष्टि ज्यों ही इसके रूपपर जाती है त्योंही इसका सारा शरीर और मन उसके मोहमें डूब जाता है। यह जितना ही सम्हलता है पर नहीं सम्हला जाता और ज्यो ही वह इसके पास आकर इसकी दृष्टिसे दृष्टि भिड़ाती है त्योंही इसको आनंदानुभवमें मगनता रूप ऐसी मूर्छा आजाती है कि इसे सिवाय स्वात्मसंवेदनके और कुछ माल्स्म ही नहीं पड़ता। स्वात्मानुभूति तिया इसके मूर्छित मुखको अपनी गोदमें रखकर समताकी शांत पवन चलाकर उसे सजीवित रखती है। यह व्यक्ति यद्यपि बाहरसे मूर्छित दीखता है पर अंतरंगमें यह निश्चय धर्मके मननसे अब अपनी गुप्त शक्तियोंका अनुभव लेता हुआ परम सुखी और परम तृप्त होरहा है।

२२–एक हवाई विमान।

संसाररूपी नाटकशालामें एक पुरुष नाना प्रकारकी वस्तुओंको देखते२ थक गया है पर न देखनेकी चाह मिटती है और न वस्तुओंके भेष व रूप व उनकी पर्यायोंका ही अंत आता है। अनेक चक्करोंको लगाते हुए नयेर रूप ही इसकी दृष्टिके सामने आते हैं, उनको भोगकर ये औरोंके देखनेकी चाह करता है। इस विचारेमें

यह शक्ति नहीं कि जिनको देख चुका है उनके रूपकी स्मृति चिरकालतक रख सके अथवा एक समयमें सर्व वस्तुओंकी भूत भविष्यत् वर्तमान पर्यायोंको देख सके। इस अनंत भेषवाली भवरूपी नाटकशालामें पुन पुन रूपोंको देखकर विस्मरण होनेसे और आगेके रूप देखनेकी चाह होनेसे यह निर्बल व्यक्ति घबड़ा गया है थक गया है लाचार होगया है। इसको ऐसे किसी स्थानकी जरूरत है जहांमे ये सर्व रूपोंको एक साथ देखा करे, इसे न तो विस्मरण हो और न कोई चाह हो। एक दयालु श्रीगुरुको इसके ऊपर बड़ी ही करुणा उपजी और उपकार बुद्धिने ऐसा जोर दिया कि श्रीगुरुके चित्तमें यही आया कि अब इसका अधिक चक्कर लगाकर क्षोभित होना ठीक नहीं है। ऐसा वाहन बता दो कि जिसपर चढ़कर वह तुर्त ही उस अनुपम स्थानपर पहुंच जावे। यद्यपि श्रीगुरु भी उसी स्थानपर पहुंचनेके यत्नमें है और उस क्षणभरमें ले जानेवाले वाहनको भी जानते है पर अपनेमें निर्बलताके कारण उस वाहनपर आरूढ नहीं होसके। श्रीगुरुमें ईर्षा भाव नहीं है। जो कोई आकुलताओंसे सर्वथा छूटे सो ही अच्छा है ऐसा जिनका उदार और गंभीर भाव है।

मन, वचन, कायकी एकताके आधारमें निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता और दृढतासे बना हुआ यह त्रिगुप्तिमय वाहन मोह, काम, क्रोध, लोभ, मान, माया, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुंसकवेद आदि दोषोंसे रहित निर्मल, स्वसंवेदन ज्ञानके रंगसे रंगा हुआ, आत्मानुभवरूपी कान्तिसे [illegible] ताके अद्भुत यत्नसे सुसज्जित तथा

शुक्लध्यानकी पवनसे एकदम ऊपरको जानेवाला और निराकुल स्थानमें पहुचानेवाला है। यह ऐसा अद्भुत हवाई विमान है कि भरत चक्रवर्ती राज्यपाट छोड़ वस्त्रादि परिग्रह फेंक केशोंका लोचकर यथाजात रूप धारी हो जब साहसकर इस विमानमें बैठे तब अंतर्मुहूर्तमें ही भावमोक्षके सर्वदर्शी और सर्व स्थानपर पहुच गए। श्रीगुरुने इस वाहनकी महिमा और इसके बनानेकी सर्व रीति जैसीकी तैसी विना किसी कपटके इस चिरदु:खित प्राणीको बता दी। जैसे उष्णताके असह्य तापसे पीड़ित कोई प्राणी किसी पर्वतपर भी पानीके सरोवरको देखता है तो उससे रहा नहीं जाता वह शीघ्र ही साहस कर जाता है उसीतरह यह पुरुष श्रीगुरुके वचनोंपर अंजनचोरकी तरह विश्वासकर एकांतमें आता है और जिस रीतिसे सुगुरुने बताया था उसी तरह निर्विकल्प समाधिरूप हवाई विमानको बनाने लगता है। विमान बनाकर ज्योंही यह आरूढ़ होता है इसे निज परम शांति और आनन्दका लाभ होने लगता है उसीकी कुछ झलकको इस विमानकी भावना करनेवाले भी पाकर स्वात्मरसके लाभसे परम तृप्तताका अनुभव करते हैं और इस रसको सदा भोगनेके उत्सुक होजाते हैं।

२३–यथार्थ जीवन.

जगतमें जलको जीवन कहते हैं। वास्तवमें यह जीवन ही है क्योंकि इसके विना प्राणी अपने प्राणोंकी रक्षा करनेको असमर्थ हो जाते हैं। परंतु यह जीवन भी यथार्थ जीवन नहीं है क्योंकि यह प्राणोंको आयु कर्मके प्रमाण ही रख सक्ता है, आगे नहीं। वास्तवमें वही है जिसके द्वारा यह आत्मा अपने सुख, सत्ता, चैत-

न्य, वोध इन चार निश्चय प्राणोंको सदा ही विना किसी अतरायके अपनेमें रखता रहे अनन्तकालमें भी इन प्राणोंका वियोग न हो। इनके द्वारा शुद्ध जीवन-शक्ति सदा ही व्यक्त रहा करे। वह जीवन जो इन निश्चय प्राणोंकी रक्षाका आधार है, रत्नत्रय स्वरूप आत्मानुभव ही है। यही वह अमृतरस है जिसके पीनेसे फिर प्राणीका व्यवहार ससारमें आवागमन नहीं होता। यह अमृत रस उसी समय वहने लगता है और उसका पान एक अदभूत आनद प्रदान करता है, जब यह आत्मा अपने उपयोगको अपने शुद्ध नित्य अनित्य, एक अनेक, भेद अभेद रूप ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई स्व भावकी तरफ ले जाता है और वहीं इसे रोक देता है। आत्मभूमिमें रत्नत्रयकी एकतारूपी अति सुन्दर पर्वत है। उसीसे यह जीवन वहता है। जो इस जीवन पानके रसिक हो जाते हैं उनके मनमें रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार स्थान नहीं पाते। वे यदि व्यवहारमें रहते भी हैं तो भी स्वधर्म श्रद्धाके अनुरागमें दत्तचित्त रहते हुए भ्रमजालके समूहमें स्वय नहीं उलझते। उनकी वास्तविक सृष्टिमें उनकी आत्मा होती है। वे उस सृष्टिमें शुद्ध परिणतियोंकि उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी अपेक्षा ब्रह्मा विष्णु महेशका काम करते है। शुद्ध परिणतिके उत्पाद करनेसे ब्रह्मा, शुद्ध परिणति स्वभावको स्थिर रखने या पालनेसे विष्णु और प्राचीन शुद्ध परिणतिका ध्वंश कर देनेसे महेश रूप व्यवहार करते हैं। इन तीन स्वरूपमय होते हुए भी वे अपने शुद्ध आत्मद्रव्यमें जमे होनेकी अपेक्षा एकरूप रहते हैं। इस अनेक और एक रूपमई स्वभावके विलासमें जो आनन्दरस होता है वही इस आत्मानुभवरूप

यथार्थ जीवनके पान करनेका परम मगलमय फल है, जिसको भोग जैसे निश्चयधर्मका मनन होने हुए परम तृप्तिका लाभ होता है।

२४-गाढ़ निद्रा।

इस जगतमें भ्रमण करते हुए इस आत्माको यकायक स्वात्मानुभूति रूपी अतिमिष्ट और मादक जलके पान करनेसे एक ऐसी गाढ़ी निद्रा आगइ है कि यह उसके जोशमें पड़ा हुआ "सोहं" "सोहं" का मनन कर रहा है पर बाहरसे कितने ही विकल्प जगाने आते है, परन्तु यह जागता नहीं। यह एक अतिशय गुप्त महलमें विराजमान है जहां मन वचन, काय रूप तीनों द्वार बन्द है। इस महलमें बैठे हुए इस प्राणीको कोई कष्ट नहीं है क्योंकि दुःखका कारण दूसरेकी वस्तुको अपनाना है। सो इसने अपने आत्माको द्रव्य अपेक्षा नित्य, टङ्कोत्कीर्ण, ज्ञाता, दृष्टा, आनन्दमई और महा शक्तिशाली माना है। इसने अपने आत्माके प्रदेशोंके भडारमें अनेक गुण रूपी रत्नोंका दर्शन किया है। उनके ममकारमें लीन होनेसे यह अपनेको तीन लोकका नाथ सिद्ध समान अविकारी देख रहा है। अति शीलवती प्रेमपात्रा ज्ञानचेतना रूप स्त्री है जिसके सयोगसे इसे अतींद्रिय आनन्द रूपी पुत्रका लाभ हुआ है यह ज्ञानी इस आनन्द पुत्रको गोदमें खिलाते हुए जगतके प्रपच जालोंसे वेखबर है, मानों यह जगतकी तरफसे गाढ़ निद्रामें शयन कररहा है। आश्चर्य यही है कि यह पवित्र पुरुष इस निद्रामें भी जाग रहा है। देखनेको सोता है पर वास्तवमें यह स्वकार्य्यके लिये तन्मय ही है। इसने मोह और उसके द्वारा एकत्र किये हुए कर्म्म समूहोंको भगा-[illegible] पुरुषार्थ उत्साह किया है। सच है जो स्वरूपकी निर्वि-

कल्प समाधिमें लीन होजाते हैं उनकी गाढ निद्रा परम पुरुषार्थको सिद्ध कराती हुई सदा सुख प्रदान करती है।

२५—अलौकिक लाभ।

इस अनादि अनन्त जगतके भीतर भ्रमण करते हुए इस आत्माकी दृष्टि जो आपसे बाहर२ भ्रमण कर रही है इस दोषके कारण इसको अनेक पदार्थ जो जगतमें स्नेह रखनेवाले प्राणियोंको कभी रमणीक कभी असुहावने मालूम होते हैं, बार२ प्राप्त हुए पर कभी भी स्थायी रूपमे ठहरे नहीं क्योंकि उनके सम्बंधमें कारण जो पुण्य व पाप कर्म है वह जब फल देनेको सन्मुख होता है तब शनै २ झडता हुआ रहकर कुछ कालमें अपनी फलधारा से बंद कर बिलकुल झड जाता है। तब वह साथ भी छूट जाता है। जगतके जितने ही दृश्य हैं वे सर्व बदलनेवाले हैं। मोही जीव किसी विशेष समयके किसी दृश्यपर मोहित होकर यह चाहता है कि यह दृश्य ऐसाका ऐसा सदा बना रहे पर ऐसा नहीं होता इसीसे इसको कभी भी सन्तोष नहीं होता और न इसके भीतरका क्षोभ मिट कर शांतताका लाभ होता है। यही आत्मा जब अपने सिवाय सर्व पदार्थोंसे दृष्टि फेर उसे अपनी ओर लाता है और लाकर अपने असली स्वरूपपर लगाता है जो असली स्वरूप शुद्ध आत्माके समान अनन्त गुणरूप तथा ज्ञाता दृष्टा, आनन्दमई, निर्विकार, निर्मोह और निर्दोष है तब उस क्षण जो स्वस्वरूपके निश्चयपूर्वक ज्ञान और थिरता रूप चारित्रमई निश्चय रत्नत्रयके द्वारा स्वात्मानुभव होता है और उससे जो आनन्दामृतका प्रवाह होता है वही एक ऐसा लाभ है जो यथार्थ परम शांति और सन्तोष प्रदान करता ... ही एक अलौकिक लाभ है। जो एक

दफे भी इस सच्चे अमृतरसके रसिक होजाते हैं वे फिर अच्छी तरह अपनी भ्रमबुद्धिको समझ जाते हैं कि सांसारिक परपदार्थोंके मिलने व बिछुड़नेसे जो मैंने कभी हर्ष व कभी विषाद किया था सो मेरी बड़ी भारी मूर्खता हुई। बस फिर वे उस रसको पीनेकी गरजसे लाखों जगतके आकर्षणोंको रहते हुए भी अपने आत्माके शुद्ध स्वभाव पर अपनी दृष्टि ले जाया करते हैं और वहां यत्नपूर्वक जमा कर जो आनन्दलाभ किया करतेहैं वह वचन अगोचर है। वास्तवमें यही एक अलौकिक लाभ है जिस लाभको ही सच्चा लाभ सम्यग्दृष्टिसे लेकर सर्व ही महात्मा और परमात्मा जानते हैं। यही वह लाभ है जिसके विना जगतके प्राणी भव वनमें भटकते हुए निरंतर दुःखी रहते हैं और जिसके पाने पर जीव परम सुखी होजाते हैं।

२६-भूशांति।

अजर अमर अविनाशी आत्मा अपनी सत्ता भूमिमें अनन्त गुणोंको धारनेवाला है। सर्वज्ञ, वीतराग और आनन्दमई इसका खास स्वभाव है। पांच भावोंमेंसे परम शुद्ध पारणामिक भावोंका यह धनी है। यद्यपि इसका यह स्वभाव है तथापि अनादिकालसे कर्मोंके सम्बन्ध होनेके कारणसे यह प्रगटपने अपने स्वभावका भोक्ता न होकर सुख शांतिके लिये भटक रहा है। राग व द्वेष कषाय भावोंके निमित्तसे इस आत्माकी बहुत ही अवनत अवस्था हो रही है। अतएव इस दशाकी प्रगति करनेका विचार मनमें ठान एकतान हो यह स्वसंवेदन ज्ञानके अनुभवमें अपनेको लीन करता है। ज्यों२ यह अपनी चित्परिणतिको अपने गुणोंके सन्मुख करता है त्यों२ इसके ऊपरसे अज्ञानका मूल हटता जाता और इसके स्वभावका

विकाश होता जाता है। परिणामोंका स्वस्वरूपमें लीन होना एक अद्भुत आनन्द बरसाता है। उस लीनतामें सकल्प विकल्प रूपी तरगें लुप्त होजाती हैं और ऐसी शातिका समुद्र उमडकर आजाता है कि वह इस आत्माकी भूमिको चारों ओरसे व्याप्त कर लेता है। तब इस व्यक्तिको अनुभव दशाका स्वाद होता है जिस समय सिवाय अपने शुद्ध स्वरूपके और किसीकी तरफ यह देखता नहीं, किसीकी बात सुनता नहीं, किसीकी भक्ति या सेवा करता नहीं। वास्तवमें जब आप ही सेवक और स्वामी है, आप ही पूज्य और पूजक है तब अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको छोडकर और किसी तरफ आत्माका जाना ठीक नहीं होसक्ता, वहीं तिष्ठकर जिस अतीन्द्रिय आनदका लाभ करता है वह इद्रियाधीन क्षणिक सुखोंसे सर्वथा भिन्न और परम तृप्ति रूप है। उस सुखमें सिद्ध परमात्माके अनत सुखोंकीसी गध व जाति है। जो इस सुखके भोक्ता होते हैं वे निश्चयधर्मके मननसे परमात्म अवस्थाकी प्रकटता रूप प्रगतिमें अग्रसर होते जाते हैं।

२७-संत समागम।

जगतमें रहनेवाला, पर जगतसे उदासी आत्मा जब अपनी शक्तिका पता लगाता है तब इसको यही भासता है कि मैं सिद्ध समान शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनदमई हू। मेरे अनतगुण एक२ प्रदेशमें व्यापक हैं। मैं गुणोंसे कभी न छूटनेवाला होनेके कारणसे नित्य, परंतु सदा ही परिणमनशील होनेके कारणसे अनित्य हू। मैं अपने गुण और पर्यायोंके साथ एकमेक होनेके कारणसे अभेद हू पर प्रत्येक गुण सर्वांगमें अलग होनेसे भेदरूप हू। मैं अपने

ञोंमें आप थिर रहनेके कारण अपने प्रदेशोंमें व्यापक और अन्योंमें अव्यापक हूं, पर सम्पूर्ण जानने योग्य पदार्थोंका ज्ञाता होनेके कारण अथवा सम्पूर्ण पदार्थोंके आकार ज्ञानज्योतिमें झलकनेके कारणोंसे मैं सर्वव्यापक हूं। ऐसी शक्ति होने हुए भी जब यह अपनी वर्तमान दशापर जाता है तो इसे बहुत बडी लज्जा आती है। अपने स्वरूपसे भिन्न वस्तुओंको अपना मान लेनेसे इसके जो राग, द्वेष, मोहकी परिणतियें होती हैं वे ही इस आत्माको मलीन करनेवाली हैं। यह अपनी इस दशाको मिटानेका इच्छुक होकर उपायकी तलाश करता है। मन वनमें भटकने हुए जब उसको ऐसे व्यक्ति दिखलाई पडते हैं जो ससाराशक्त व इन्द्रियोंके दास न होते हुए अतींद्रिय आनंदके रसिक हैं और उसके स्वादको पाने व उसका रस अन्योंको चखानेके लिये भी उत्सुक हैं ऐसे अध्यात्म प्रेमी सत पुरुषोंके समागममें यह व्यक्ति अपनेको धारण करके उनकी सगतिसे मैलको मेटता हुआ निर्मल होने लगता है। वास्तवमें यद्यपि व्यवहारसे वहा सत पुरुषोंका समागम है, पर निश्चयसे वहा केवल आत्मरसके प्रवाहोंका ही झमघट है, क्योंकि सबीके मन, वचन, कायोंकी ऐसी ही परिणतिया हैं। इस सत समागमके वासमें लीन रहता हुआ व अपनी शक्तिका अनुभव करता हुआ निश्चयधर्मके मननसे परमसुखी रहता है।

२८-स्वदेश-प्रेम।

आत्माका आत्मा ही स्वदेश है। जो जहा सदा रहता है वहीं उसका स्वदेश है। आत्मा एक वस्तु है। जो वस्तु होती है वह आकाशको अवश्य घरती है। जो आकाशको नहीं घेरे वह कोई वस्तु नहीं। अवस्तु कुछ भी कार्यकारी नहीं होसक्ती। वस्तु अन

३७-गुण और गुणी।

मैं चैतन्य स्वरूप अनत गुणोंका धनी कहलाता हूं। बिना गुणोंके नाम लिये कोई मुझे पहचान ही नहीं सक्ता। जिसको पहचान है उसे तो किसीके गुणोंको अलग २ चितारने व कहनेकी आवश्यक्ता नहीं पड़ती है। अज्ञानी जीवोंका अज्ञान छुडानेके लिये व्यवहार नयने यह अपनी आदत पकडी है कि वह थोड़ी बहुत गुणावलीको बतलाकर एकको दूसरेसे भिन्न अनुभव कराती है। बड़े खेदकी बात है कि अभेद वस्तुमें भेद करनेवाली यह व्यवहार नय है। बुद्धिमान् वही है जो इसके द्वारा बतलाए हुए कुछेक गुणोंसे अनन्त गुणी वस्तुको जान लेवे। पर जो कोई वस्तुशे न पहुचे उसने व्यवहार नयके अभिप्रायको नहीं समझा। दूसरी ओर निश्चय नय कहती है कि वस्तु तो अभेद है, उसमें गुण गुणीकी कल्पना व्यर्थ है। ज्ञानी इस वचनको भी सुनकर ठीक २ वस्तुके ज्ञानकी स्थिरतामें रहता है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञानी, अनुभवी व सच्चा पुरुष वही है जो व्यवहार और निश्चयके पक्षपातको छोड़कर जैसा अपना शुद्ध वीतराग ज्ञानानन्दमय स्वभाव है उसीकी तरफ जाकर उसमें स्वलीन होजाय—ऐसा डूब जाय कि उसकी सारी कल्पनाएं विलय हो जाय और वह उस स्वरूप समाधिमें बैठा हुआ मार्गणा और गुणस्थानोंकी चर्चाको छोड़कर सिद्धसम आपको अनुभव करे। गुण क्या और गुणी कौन इसका विकल्प भी इस अनुभवदशामें बाधक है। जहां यह भाव है वहीं वीतरागता, शांति और परम आनन्द है। यही दशा परमात्माकी है और यही दशा मेरी है। इस दशा हीका नाम धर्म है। यही धर्म मुझे प्यारा, सुहावना और

कर्मरूप होव, तौभी निश्चयसे सबकी शक्ति, सबका स्वरूप भिन्न है। जैसे अनन्तानन्त परमाणुओंकी एक समाज है जो व्यक्तिगत भिन्न होनेपर भी सब ही स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त हैं, समान गुणधारी हैं, अतएव समानरूप हैं, ऐसे ही सर्व अनन्तानन्त जीव व्यक्तिगत सत्ता और स्वतन्त्र अनुभवकी अपेक्षा भिन्न२ हैं। तौ भी सर्व ही अस्तित्वादि सामान्य और चेतना, आनन्द, सम्यक्त, चारित्र, वीर्य आदि स्वाभाविक विशेष गुणोंकी अपेक्षा समान हैं। निश्चयसे सर्व जीवराशिकी एक ऐसी समाज है जो एक सिद्ध परमात्माकी राशिके समान परम तृप्त, कृतकृत्य, परमानन्दमई, शुद्ध, चैतन्य धातुकी निर्मल मूर्तिधारी और परम स्वाधीन, अपने ही स्वभावमें गुप्त, परम समतारससे परिपूर्ण दिख रही है। जो कोई भी समाजसेवाका इच्छुक इस महान एकताकी शृङ्खलामें बद्ध समाजकी सेवा, आराधना, भक्ति, वैय्यावृत्य, मनसे प्रेम, वचनसे गुणगान, कायसे सर्वांग नमन करता है वही सच्चा समाजसेवी है। इस समाज सेवाके अनुपम कार्यको वह किसी खुशामद या प्रसन्न करनेकी गरजसे नहीं करता है, किंतु उसे इस सेवामें आनन्द आता है, उसकी शक्ति बढ़ती है, उसका आलस्य और प्रमाद मिटता है व उसको स्वस्वामित्व और स्वावलम्बन प्राप्त होता है। उसके भीतर अद्भुत प्रेमरसका संचार होता है। वास्तवमें जो ऐसी समाजसेवा करते हैं वे ही निश्चयधर्मका मनन करते हुए जो साम्यचारित्र और अतीन्द्रिय स्वाधीन आनन्दका लाभ करते हैं उसका वर्णन नहीं होसक्ता। जो स्व हितू हैं वे ऐसी ही समाजसेवा करके स्वस्वभावासक्त बनें और आनन्दामृत रसको पीवें।

३७-गुण और गुणी।

मैं चैतन्य स्वरूप अनंत गुणोंका धनी कहलाता हूं। बिना गुणोंके नाम लिये कोई मुझे पहचान ही नहीं सक्ता। जिसको पहचान है उसे तो किसीके गुणोंको अलग २ चितारने व कहनेकी आवश्यक्ता नहीं पड़ती है। अज्ञानी जीवोंका अज्ञान छुड़ानेके लिये व्यवहार नयने यह अपनी आदत पकड़ी है कि वह थोड़ी बहुत गुणावलीको बतलाकर एकको दूसरेसे भिन्न अनुभव कराती है। बड़े भेदकी बात है कि अभेद वस्तुमें भेद करनेवाली यह व्यवहार नय है। बुद्धिमान् वही है जो इसके द्वारा बतलाए हुए कुछेक गुणोंसे अनन्त गुणी वस्तुको जान लेवे। पर जो कोई वस्तुको न पहुंचे उसने व्यवहार नयके अभिप्रायको नहीं समझा। दूसरी ओर निश्चय नय कहती है कि वस्तु तो अभेद है, उसमें गुण गुणीकी कल्पना व्यर्थ है। ज्ञानी इस वचनको भी सुनकर ठीक २ वस्तुके ज्ञानकी स्थिरतामें रहता है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञानी, अनुभवी व सच्चा पुरुष वही है जो व्यवहार और निश्चयके पक्षपातको छोड़कर जैसा अपना शुद्ध वीतराग ज्ञानानन्दमय स्वभाव है उसीकी तरफ जाकर उसमें लवलीन होजाय—ऐसा डूब जाय कि उसकी सारी कल्पनाएं विलय हो जाय और वह उस स्वरूप समाधिमें बैठा हुआ मार्गणा और गुणस्थानोंकी चर्चाको छोड़कर सिद्धसम आपको अनुभव करे। गुण क्या और गुणी कौन इसका विकल्प भी इस अनुभवदशामें बाधक है। जहां यह भाव है वहीं वीतरागता, शांति और सच्चा आनन्द है। यही दशा परमात्माकी है और यही दशा मेरी है। इस दशाहीका नाम [illegible] धर्म मुझे प्यारा, सुहावना [illegible]

आदरणीय है। मैं इस धर्मके आश्रय ले जो अपना उपकार कररहा हू वह उपकार उस व्यक्तिका भी होगा जो इस धर्मको धारण करेगा।

३८—कुंजी।

परम आनन्दमई चैतन्य शक्तिधारी आत्माके हाथमें अब वह कुंजी आगई है जिसके द्वारा आत्माके रत्नत्रय भंडारके कपाट खुलते हैं। वह मानव ही क्या जिसने परमानन्द दायक आत्म खजानेके दर्शन न किये और उसका लाभ न लिया। क्योंकि जो कुछ वास्तविक आनन्द है वह वहीं है—उसीमें है—उसीकी सत्तामें हैं। जो बाहर२ ढूंढ़ते हैं वे नित्य क्षोभित हुए उसका लाभ नहीं कर सके। यह कुंजी स्वसंवेदन ज्ञानमई है, सम्यक्त धातुकी बनी हुई है। ज्ञान और चारित्रकी पालिशसे बहुत दृढ़ और चमकदार है। यद्यपि इसका नाम अचेतनकी उपमाको लिये हुए है, पर यह अचेतन नहीं परम चैतन्य स्वरूप है। ज्ञाता दृष्टापन इसका लक्षण है। इस कुंजीमें कोई कषायकी कलुषता या कालिमा नहीं है, शुक्ल लेश्याके रंगमें रंगी हुई है। इस कुंजीका जिस समय व्यवहार किया जाता है अर्थात् जब स्वरूप समाधिका भंडार इसके द्वारा खोला जाता है तब आप ही आप वहां आनन्द रसकी वर्षा होने लगती है और यह आत्मा स्वयं ही एक ऐसे चमत्कारके सामने पहुंच जाता है जहांपर चारों ही ओर शांतताका नृत्य और वीतरागताकी सजावट देखनेमें आती है। तथा वहांपर चैतन्य राजाका एक अद्भुत दर्बार ही दीखता है। विवेकरूप मंत्री और उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दशलक्षण धर्ममई मुख्य सभासद नजर आते हैं। इसके सिवाय अनेक गुणरूपी साधारण सभासद हैं। दरबारमें स्वाभाविक वीतरागता और

आनन्दका राज्य छा रहा है। जबसे इमने इस कुनीका व्यवहार किया है, इसको अपने भडारका पता लगगया है, इसे अच्छी तरह अपनी अटट निधिके दर्शन होगए हैं। यह खोजी जब कभी सासारिक चिंताओंसे अलग होता है, इस कुनीके द्वारा आत्मकपाट खोल परम प्रभु, परमात्मा, परमब्रह्म, ज्योति स्वरूप, अविनाशी, कृतकृत्य, परमशुद्ध, निरजन देवके दर्शनकर जो लाभ लेता है व जैसा अनुभव अमृतका पान करता है वह अकथनीय है केवल स्वादनेही योग्य है।

३९–मेरा दशलाक्षणी महोत्सव.

स्वानुभूति पटरानी आज इसीलिये आनन्दमें उन्मत्त है कि उसका परम मनोहर आदरणीय महोत्सव आनकर उपस्थित हुआ है। इससमय चिदानद अन्य सर्व आरभोंको त्यागकर केवल मात्र स्वानुभूतिके त्रिगुप्तिमय अत पुरमें विराजमान होकर निर्विकल्प और क्षोभरहित अवस्था सहित स्वानुभूतिके अद्भुत प्रेममें आशक्त होगा और इस आशक्ततासे उत्पन्न जो आनन्द अमृत उसको पानकर तृप्त होगा। उसका अत पुर सुनसान नहीं रहेगा, किन्तु वहा बडाभारी दशलाक्षणी पर्वका महोत्सव मनाया जायगा। उत्तमक्षमा क्रोध कालिमासे रहित हो परम सौम्य श्वेत वस्त्र पहने हुए नृत्य करनेके लिये आएगी। उत्तम मार्दव मानके पर्वतसे उतरकर उस नृत्यके साथ तबला बजानेका काम करेगा। उत्तम आर्जव कपटकी कुटिलाईसे रहित हो सारगी बजायगा और उत्तम शौच लोभकी कीचडसे सर्वथा पवित्र हो दूसरी सारगी बजाकर नृत्य और बाजोंके साथ एक तान करेगा। उत्तम सत्य, उत्तम क्षमाको नृत्यके साथ ठीक ताल रखने व उसके शात सुरीले गानके साथ गाने व मदद देनेका काम करेगा। उत्तम

सयम असावधानीसे हठकर बहुत ही थिरताके साथ किसीको कष्ट न देता हुआ तथा उत्तम क्षमाके मनको हर्षायमान करता मर्दगे बजानेका काम करके सर्व बाजोंकी और नृत्यकी रंगतको सुहावनी कर देगा। उत्तम तप अपनी दीप्तिका प्रकाश कर इच्छाओंके अंधकारको ऐसा मिटा देगा कि उस नृत्यके आंगनमें कोटि सूर्यके प्रकाशसे भी अधिक परम शांत और शीतल उजाला ही दीख पड़ेगा। उत्तम त्याग उस आंगनकी रक्षाका कार्य हाथमें लेकर किसी भी उपाधिजनक भावरूप व्यक्तिको आंगनमें नहीं आने देगा। तथा यदि कोई दर्शक व्यक्ति इस नृत्यको देखने आयगे तो उनको आंगनके बाहर रखता हुआ तथा उनके मनको प्रफुल्लित करनेके लिये उनके ऊपर कभीर अतींद्रिय आनन्दके परम सुगंधित जलकी वृष्टि कर देगा। उत्तम आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य द्वादश भावनाके मनोहर स्तम्भोंसे शोभायमान ज्ञानकी बहुत ही आश्चर्यकारी छतसे सरक्षित तथा सम्यग्दर्शनकी नींवपर रचित वैराग्यके आंगनमें विराजित ध्यानरूपी सिंहासनपर एक सरल श्रेणीमें शल्य रहित आसन जमाए हुए चिदानन्दराय और स्वानुभूति पटरानीके दोनों ओर खड़े हुए समताके चवर ढोरेंगे तथा अपने भेदविज्ञानरूपी चमकदार तलवारोंको कंधेपर कमरके सहारेसे जमाए हुए इन मुख्य नृत्यके रंगमें रंगे हुए दोनों व्यक्तियोंकी रक्षा करेंगे। अनंत गुणरूपी आभूषणोंसे झलकता धर्म रूपी महान छत्रको उनके ऊपर शोभायमान करता हुआ अपना कर्तव्य बजाकर आनंदित होगा। इसतरहका महोत्सव जिन२ आत्माओंने किया उन्होंने अपनेको स्व भावमें रक्खा, और जो२ करेंगे सो अपने स्व भावमें रहेंगे। इस महोत्सवको इस तरह

है, अपनेको सर्व प्रकारकी निर्बलताओंसे हटा दिया है, सिद्ध व ऐश्वर्यीय आनन्दका लाभ इसने प्राप्त कर लिया है। शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा जब कभी यह विकल्प करता है तब इसको सर्व ही ससारी और मुक्त आत्माए साम्य जलमें निमग्न पूर्ण शुद्ध ज्ञायक अविनाशी और आनन्दमय ही प्रदर्शित होती हैं। दशलाक्षणी और रत्नत्रय धर्म जो भेद अपेक्षा भिन्न हैं पर अभेद अपेक्षा आत्मा हीका स्वभाव है, ज्ञानी आत्माके चित्तमें सदा ही कल्लोल करते हैं। अतएव मैं सब विभावोंको त्यागकर अपने ही एक शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावमें रत होकर परम सुखी और परम तृप्त होरहा हूं।

४१ आत्मरति.

परम पुरुष आत्मा निज आत्मानुभव रसको स्वादनेका जब उद्यम करता हुआ अपने उपयोगको सर्व पर द्रव्योंसे हटाकर अपने ही आत्माके शुद्ध ज्ञानानदमय स्वरूपके विलासमें तन्मय करता है उससमय जो आनद परिणति कल्लोल करती है वह एक प्रकारका ऐसा रस उस उपयोगको प्रदान करती है कि जिस रसको लेकर वह उपयोग सदाके लिये उसी परिणतिका ऐसा प्रेमालु होजाता है कि वह फिर सासारिक रसोंके स्वादसे बहिर्मुख होजाता है। उसकी रति आत्म तत्वमें ऐसी दृढतासे थिर हो जाती है कि यद्यपि वह चिरकालसे चले आए हुए मोहके उदयवश अथिर हो छूट जाती है तौ भी वह बार बार स्वरूप स्वाद लेनेमें ही उत्सुक रहती है। आत्मा अनत गुणोंका समुदाय है। इसकी महिमा अगाध है, तौ भी वीतरागताके रससे सनी हुई ज्ञानचेतना सामान्यपने अनुभवमें आई हुई ही परम कार्य करनेको समर्थ हो जाती है। ज्ञानचेतनामें रति

ही आत्मरति है। यही स्वरूप साधनका श्रेष्ठ उपाय है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना जब व्यवहारमें फसानेवाली है तब ज्ञानचेतना व्यवहारसे निश्चय मननमें दृढ़ करनेवाली है। आत्मरतिमें कोई बाधा नहीं है–यह स्वाधीन है, अनुपम है, परम तत्त्व प्राप्तिका बीज है। अतएव जो सुखका चाहक है सो सर्व विकल्पोंको त्यागकर एक शुद्ध ज्ञानघन स्वभाव आत्माका ही ध्यान करता हुआ परम आनंदित रहता है।

४२–अमिट आनन्द।

जिस स्वरूप साधनमें साधुजन लवलीन होते हुए साध्यकी सिद्धि करते हैं उस साधनमें कोइ प्रकारका कष्ट नहीं है। वहां तो वह अतीन्द्रिय आनन्द है कि जिसका वर्णन किया ही नहीं जासक्ता, तथा जिस आनंदके अनुभवमें किसी प्रकारकी पराधीनता नहीं है, न उसमें कोई शारीरिक और मानसिक बाधाए ही हैं। यदि बाधक कर्मोंका आवरण न हो तो वह आनन्द ऐसा झलक उठता है कि किसीतरह मिट नहीं सक्ता। इसीसे अमिट आनन्द शुद्ध परमात्मामें रहता है। मैं भी शक्ति अपेक्षा परमात्मा ही हूं। मेरी परिणति वीतराग विज्ञानमई और सुखरूप है। मैं इसी परिणामका नित्य कर्त्ता और भोक्ता हूं। इस मेरे स्वभावके आराममें नित्य कल्लोल करनेवाली मेरी आत्माका भवन ऐसा विशाल है जिसमें सर्व ही ज्ञेय (जाननेयोग्य) चेतन व अचेतन पदार्थ अच्छी तरह यथायोग्य स्थान पाए बैठे हुए हैं। न तो उस भवनसे पदार्थोंको कष्ट है न भवनको पदार्थोंसे है। परस्पर साम्यभावका दर्बार है। इस दर्बारमें किसी तरहकी आकुलता भी नहीं है। आत्मा अपने भवनमें बैठा हुआ उस

शांत रसका दर्शन करता है जो परम सुखमई और आत्मोन्नतिकारक है। मुमुक्षु जनोंके लिये यही योग्य है कि वे इस उचित धर्मक्रियामें वर्तन करके आपके गुणोंकी महिमाको पहचाने और उससे अमिट आनन्दका भोग करें। सतोंके लिये सिवाय इस आनन्दामृत भोगनके और कोई भोजन ठीक नहीं है। अन्य भोजन जब मात्र शरीरपोषक है तब यह आत्मा पोषक है।

४३–परम सूर्य।

मैं एकाकी, अनादि, अविकारी, निर्द्वन्द, निरामय, निष्कलंक, वीतराग, शुद्ध, चैतन्यमय, अविनाशी, परम, उत्कृष्ट, साकार, निराकार, एकरूप, अनेकरूप, अभेदरूप, भेदरूप, नित्य, अनित्य, वक्तव्य, अवक्तव्य आदि सुन्दर और सार्थक विशेषणोंका धारी एक विशेष्य चैतन्य द्रव्य अपनी सत्ताका आप स्वामी हूं। मेरा न कभी किसीसे जन्म हुआ और न कभी मेरा किसीके द्वारा स्वयं मरण होगा। भले ही मेरे गुणरूपी अवयवोंमें समय२ नूतन परिणतिया जन्में और पुरानी नष्ट हों तौभी मेरी विभूतिका वियोग मेरेसे कभी न हुआ, न होगा, न अभी है। मैं जब अपनी विकाररहित शुद्ध निश्चय दृष्टिसे आपको देखता हू, उसे अपने शुद्ध गुणोंमें विलासरूप कल्लोल करनेवाला पाता हू, वहा मुझे कोई उदासी, हर्ष व शोक, कोई निराशा, आशा या वियोग, कोई राग, द्वेष या मोह कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता। मेरी यह वचनप्रणाली अतीव तरंगकी घनी हुई यद्यपि मेरी ही उन्मत्त चेष्टाका एक दृश्य है तौभी मेरे स्वरूपमें इसका सर्वथा अभाव है। वह तो मनके विकल्प, वचनके जल्प और कायकी चेष्टाओंसे अतीत है। उसमें किसी अन्य चैतन्य द्रव्यका भी असर नहीं

होता। यद्यपि वह परम मार्दव रूप अतिशय कोमल है तो भी वह ऐसा कठोर है कि अनत द्रव्योंके मध्यमें पड़ा हुआ भी वह उनके किसी असरसे बाधित् नहीं होता। दु ख सुखकी धूप छाया उस परम सूर्यसे कभी नहीं होती। वह सदा ही सर्वांग और सर्वत्र प्रकाश रूप रहता है। उसका शुद्ध ज्ञान ही सर्व व्यापक प्रकाश है, जिसने सम्पूर्ण ज्ञेयोंको मानो ग्रसीभूत कर लिया है। ऐसे पदार्थमें एक विलक्षण आनन्द और शातता है, जिसके लिये किसी इन्द्रिय आदि करण व किसी शीतल और सुगधमय बनकी आवश्यका नहीं है। मैं इससमय सर्व विकल्पोंको त्यागकर उसी आनन्दमय पदार्थके भीतर मग्न होगया हू, उसीमें तन्मय हो गया हू, उसीके शात रसके स्वादमें मानो छक गया हू। मैने अब जो कुछ लेना था सो लेलिया और छोड़ना था सो छोड दिया, जैसा कि कहा है —

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथ स्मादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मन सहृतसर्वशक्त पूर्णस्य सन्धारणमात्मनात्म ॥४३॥ स० क०

भाव—अपनी सम्पूर्ण शक्तिको सकोचे हुए पूर्ण आत्माका अपने आत्म स्वरूपमें जो धारण करना है वही मानों जो कुछ त्यागना था उसे बिल्कुल त्यागना और जो कुछ ग्रहण करना था उसे बिलकुल ग्रहण कर लेना है।

४४–स्वराज्यका अनुभव।

मैं आज सर्व विचारोंको त्यागकर एक स्वराज्यपर ही आरूढ हुआ हू। मुझे मेरी त्रिलोक और अलोकव्यापी सपदाका स्वय प्रबध करना है। दूसरा कोई चाहे तौभी वह कर नहीं सक्ता, क्योंकि मेरी शक्तिका अनुभव मुझे ही है। जो २ गुण और ...

यह सम्यक्त नामा गुणकी वचनअगोचर महिमा है कि जिसके कारण यह आत्मा अशुद्ध होता हुआ भी अपनी शुद्ध परिणतिका मनन करता है। यद्यपि अनेक परदे पड़े हैं तौभी उनके भीतर झल-कती हुई शुद्ध ज्ञान ज्योतिको अपनी सूक्ष्म दृष्टिसे देखता है और पुन पुन देखकर अपने आत्मबलको बढ़ाता है। जिन मानवोंने इस सम्यक्त गुणको पहिचाना है—अपने अनुभवमें लिया है वे शुद्ध चित्त होते हुए सदा निश्चय धर्मका मनन करते हैं, जिसके प्रभा वसे वे ससार अवस्थामें भी अतींद्रिय आनन्दकी झलकको मात्र श्रुत-ज्ञानके द्वारा पाकर सिद्ध समान सुखके विलासी रहते हैं।

८६–सुधापान.

सुधाका इसीलिये नाम जगतमें प्रसिद्ध है कि जो इसको पान करता है वह अमर होजाता है। वास्तवमें यह बात सत्य है। वह अमृत जिसके पीते ही अनादिसे लगा हुआ कर्म रोग शमन होता है, किसी अन्य स्थानमें नहीं है। जो रोगी है उसीकी शक्तिमें वह अमृत गुप्त है। जो कोई अमृतका पिपासु उसके भीतरी गुणोंके सन्मुख होता है उसके उपयोग रूपी मुखमें उस अमृतका अतींद्रिय स्वाद आजाता है। अजीव द्रव्योंसे रहित जब शुद्ध जीव द्रव्यके सूक्ष्म स्वरूपपर दृष्टिपात किया जाता है और उसे चैतन्यमय, परम शात, परम सुखी, निराकुल और अनत गुण समुदाय एक अखड परम ज्योति स्वरूप अनुभव किया जाता है अर्थात् अपने उपयो-गको अन्य अनात्म पदार्थोंसे व उनके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे हटाया जाता है और उसे अपने ही शुद्ध ज्ञानानदमय स्वरूपमें जमाया जाता है तब वहा निरतर अतींद्रिय आनद रूपी अमृतका

स्वाद आता है। इस अमृतमें ऐसा निर्मलपना है कि कोई कषायकी कालिमा इससे कलुषित नहीं करती है, कोई असत् विकल्प इसे क्षेशित नहीं करते हैं। समाधिगुप्त अवस्थामें इस अमृतकी नदीका प्रवाह बहता है, जिस नदीके द्वारा आत्मा स्वय निर्मल होता जाता है। ससार इस आत्मजनित अमृतके स्वादसे विमुख है इसीलिये कष्ट उठा रहा है, रात्रिदिन रागद्वेषमई भावोंका ही अनुभव कर रहा है, वीतराग विज्ञानमय भावोंकी छटाको नहीं पा रहा है। धन्य है वे गृहस्थ सम्यग्दृष्टी भी जो आत्माको भेद ज्ञानके द्वारा भिन्न अनुभवकर परम अमृतका पान करते हैं।

२७-सिद्धचक्रचर्चा।

आज मैं सर्व सासारिक विकल्पोंको त्याग और परम निर्विकल्प समाधिमें तिष्ठकर उन अनत सिद्धोंकी पूजन करता हू जिनका स्वरूप मेरे स्वरूपके बराबर है। इतना ही नहीं, जितने आत्मा इस जगतमें है उन सबका वास्तविक स्वरूप इन सिद्धोंके समान है इसीसे सिद्धपूजनमें सर्व आत्माओंकी पूजन है। या यो कहिये कि सम्पूर्ण आत्माओंका समुदाय एक सिद्धचक्र है, उसीकी अर्चा करनी है। जिसका विधान यह है कि जब मैं शुद्ध अनतज्ञान, शुद्ध अनतदर्शन, शुद्ध अनतसुख, शुद्ध अनतवीर्य आदि शुद्ध गुणोंके समुदायस्वरूप आत्मामें स्थिर होता हू तब मुझे अपने ही अदर एक ऐसा शात समुद्र दीखता है कि जिसकी थाह नहीं मिलती, उसीमें सर्व लोककी आत्माओंके स्वरूप मानों समा गए हैं, ऐसा प्रतीत होता है। अर्थात् यही एक सिद्धचक्र है जिसकी अर्चा स्वात्मानुभव व वीतराग चारित्रके द्वारा हो जाती है। इस पूजामें पूजक और

यह सम्यक्त नामा गुणकी वचनअगोचर महिमा है कि जिसके कारण यह आत्मा अशुद्ध होता हुआ भी अपनी शुद्ध परिणतिका मनन करता है। यद्यपि अनेक परदे पडे हु तौभी उनके भीतर झल- कती हुई शुद्ध ज्ञान ज्योतिको अपनी सूक्ष्म दृष्टिसे देखता है और पुन पुन देखकर अपने आत्मबलको बढाता है। जिन मानवोंने इस सम्यक्त गुणको पहिचाना है—अपने अनुभवमें लिया है वे शुद्ध चित्त होते हुए सदा निश्चय धर्मका मनन करते हैं, जिसके प्रभा वसे वे ससार अवस्थामें भी अतींद्रिय आनन्दकी झलकको मात्र श्रुत- ज्ञानके द्वारा पाकर सिद्ध समान सुखके विलासी रहते हैं।

८६–सुधापान।

सुधाका इसीलिये नाम जगतमें प्रसिद्ध है कि जो इसको पान करता है वह अमर होजाता है। वास्तवमें यह बात सत्य है। वह अमृत जिसके पाते ही अनादिसे लगा हुआ कर्म रोग शमन होता है, किसी अन्य स्थानमें नहीं है। जो रोगी है उसीकी शक्तिमें वह अमृत गुप्त है। जो कोई अमृतका पिपासु उसके भीतरी गुणोंके सन्मुख होता है उसके उपयोग रूपी मुखमें उस अमृतका अतींद्रिय स्वाद आजाता है। अजीव द्रव्योंसे रहित जब शुद्ध जीव द्रव्यके सूक्ष्म स्वरूपपर दृष्टिपात किया जाता है और उसे चैतन्यमय, परम शात, परम सुखी, निराकुल और अनत गुण समुदाय एक अखड परम ज्योति स्वरूप अनुभव किया जाता है अर्थात् अपने उपयो गको अन्य अनात्म पदार्थोंसे व उनके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे हटाया जाता है और उसे अपने ही शुद्ध ज्ञानानदमय स्वरूपमें जमाया जाता है तब वहा निरतर अतींद्रिय आनद रूपी अमृतका

ाद आता है। इस अमृतमें ऐसा निर्मलपना है कि कोई कषायकी
ालिमा इससे कलुषित नहीं करती है, कोई असत् विकल्प इसे
शित नही करते हैं। समाधिगुप्त अवस्थामें इस अमृतकी नदीका
ाह रहता है, जिस नदीके द्वारा आत्मा स्वय निर्मल होता जाता
। ससार इस आत्मजनित अमृतके स्वादसे विमुख है इसीलिये
ष्ट उठा रहा है, रात्रिदिन रागद्वेषमई भावोंका ही अनुभव कर रहा
, वीतराग विज्ञानमय भावोंकी छटाको नहीं पा रहा है। धन्य हैं
गृहस्थ सम्यग्दृष्टी भी जो आत्माको भेद ज्ञानके द्वारा भिन्न अनु-
वकर परम अमृतका पान करते हैं।

२७-सिद्धचक्रचर्चा।

आज मैं सर्व सासारिक विकल्पोंको त्याग और परम निर्वि-
ल्प समाधिमें तिष्ठकर उन अनत सिद्धोंकी पूजन करता हू जिनका
वरूप मेरे स्वरूपके बराबर है। इतना ही नहीं, जितने आत्मा
स जगतमें हैं उन सबका वास्तविक स्वरूप इन सिद्धोके समान है
सीसे सिद्धपूजनमें सर्व आत्माओंकी पूजन है। या यों कहिये कि
म्पूर्ण आत्माओंका समुदाय एक सिद्धचक्र है, उसीकी अर्चा करनी
। जिसका विधान यह है कि जब मैं शुद्ध अनतज्ञान, शुद्ध अन
दर्शन, शुद्ध अनतसुख, शुद्ध अनतवीर्य आदि शुद्ध गुणोंके समु
ायस्वरूप आत्मामें स्थिर होता हू तब मुझे अपने ही अदर एक
सा शात समुद्र दीखता है कि जिसकी थाह नहीं मिलती, उसीमें
र्व लोककी आत्माओंके स्वरूप मानो समा गए हैं, ऐसा प्रतीत
ोता है। अर्थात् यही एक सिद्धचक्र है जिसकी अर्चा स्वस्वानुभव
वीतराग चारित्रके द्वारा हो जाती है। इस पूजामें पूजक और

पूज्य भिन्न२ नहीं है। जो ही पूजक है सो ही पूज्य है। इसी एकताके विलासमें उस आनन्दका झलकाव है जो अतींद्रिय स्वाधीन और निर्विकार है। इस एकतामें ही स्वरूपका भोग है। यही योग, समाधि और ध्यान है। यही सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और परम कल्याण है। यही वह स्थान है जहां परम तीक्ष्ण भेद ज्ञानरूपी खड्गका स्थान है। इस स्वरूप साधनमें न कोई कष्टका भान है न कर्मबंधका मकान है। यही निश्चय मोक्षमार्ग है। इसीके सेवक साधुजन निरंतर परम आनंदका भोग करते हुए सिद्धचक्रकी पूजा करते हुए व परम तृप्त रहते हुए अपने जीवनका सच्चा फल भोगते हैं।

४८-सेवा।

अद्भुत गुणोंको रखनेवाला परमानंदमई चैतन्य स्वरूप तीन लोक और अलोकके राज्यका धनी परम प्रभु जो अपनेही शरीरमें है उसकी सेवा करना यद्यपि व्यवहारमें दो रूप है, परंतु निश्चयसे एक रूप ही है। जो ही सेवक है सो ही सेव्य है। इस एकतामें रमना साम्य रस है। यही रस उन आत्माओंके भीतर निरंतर बहा करता है जो अपने दृढ आसनमें बैठे हुए योगाभ्यासके बलसे विषय कषायोंके दास न होते हुए परम पूज्य सुखमई आत्माके पूजक होते हैं। मैं शुद्ध दर्शन ज्ञानमई अविनाशी हूं यही भावना परमसुखका कारण है।

बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिसके अनंत गुणोंकी थाह एक कालमें व अनेक कालमें एक छद्मस्थका मन भी नहीं पासक्ता, उसके लिये शब्दोंका प्रयत्न होना आकाशको अपने अंगुलोंसे मापना है। ...पर किया क्या जावे? जो पूर्ण आत्मज्ञानी हैं उनको तो कुछ समझने व कहे जानेकी आवश्यक्ता नहीं है और जो स्वरूपको नहीं

दत्तचित्त होगया है। यह अपने भीतर एक ऐसे भानुको पाता है जो इस प्रकाशरूप लौकिक सूर्यसे अनतगुणा प्रकाशरूप है। यद्यपि अनन्तानत द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी बातोंको एक समयमें जाननेके कारण यह सूर्यकी उपमासे कहीं अधिक है, पर समताभाव सूर्यके समान इसमें भी झलक रहा है। सूर्य जैसे विना किसी रागद्वेषके केवल अपने स्वभावमें प्रकाशता है, उसे कोई निन्दो या अच्छा कहो तब भी वह सदा अपने प्रकाशके लाभको प्रगट करता रहता है। सब कोई अपनी२ इच्छानुसार उस प्रकाशसे लाभ उठा लेते हैं, पर उस सूर्यको इससे कोई विकार नहीं होता, वैसे यह आत्मा भी स्वभावसे अपने शुद्ध, चैतन्य रूप परम समता और वीरागताके भावको रखनेवाला है। जैसे बुद्धिमान जन सूर्यके प्रकाशको पाकर स्वय ही जागृत हो अपने कार्यमें लग्न हो सदुपयोगी होजाते हैं वैसे ही तत्त्वखोजी जन इस आत्माके सच्चे ज्ञानरूप प्रकाशको पाकर मोह मिथ्यात्वके अन्धकारसे बाहर हो परम जागृतिको उपलब्ध कर अपनी ही आत्मारूपी नगरीमें अनेक लाभकारी तत्त्व मननरूप व्यापारादि करने लगते हैं। परन्तु जैसे चोर, उल्लू, हानिकारी प्राणी प्रकाशके अभावमें जागते और पर वस्तुओंको ग्रहण करते हुए अपराधी होते हैं तथा सूर्योदय होते ही छिपकर बैठ रहते हैं वैसे ही मिथ्यात्वी अज्ञानी जीव तत्त्वज्ञानरूपी प्रकाशके अभावमें अपनेसे बाहर वस्तु व भावोंको ग्रहण कर अपराधी बनते हुए कर्मबंधके जालमें पड़ जाते हैं। परन्तु ज्ञानसूर्यके प्रकाशके पहले ही अपने अज्ञान नगरमें छिपके बैठ जाते हैं।

इस अनुपम ज्ञान सूर्यमें कोई ताप नहीं, कभी ग्रहण नहीं,

होजाता है तो मुझे यही दृष्टिगत होता है कि वह हंस कहीं
नहीं है, मैं जो ढूंढनेवाला हूं सो ही मेरा वह प्यारा हंस है
अपनी भ्रम बुद्धिसे आपको और कुछ समझ अपने आपको ही उन्म
तरह तलाश कररहा था। पर आज मुझे पता लगगया कि वह ई
परमात्मा, प्रभु, सिद्ध, निरंजन, निर्विकार कृतकृत्य, स्वभाव
केवली, ज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीर्यवान, परम तेजस्वी,
सुखी व परमानन्दरूप जो कोई है वही मैं हूं, मेरा ही नाम
प्यारा हंस है। मैं निरंतर शुद्ध रहता हुआ सिवाय दुग्ध स
अपने निर्मल स्वभावके अन्य किसी निःसार वस्तुको ग्रहण
करता हूं। मेरे ही आत्माके निर्मल स्वाभाविक गुण रूपी
भरे हुए असंख्यात प्रदेशी परम निर्मल मानसरोवरमें, जहां अ
त्मिक रसकी निर्मल सुगंधसे परिपूर्ण अनेक प्रफुल्लित भाव
पुष्प विकसित होरहे हैं और अगुरुलघु गुणके उत्पाद व्ययकी
तरंगें उठ रही हैं व जहां उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार धर्म
मछलियें बड़े अनुरागसे कल्लोल कररही हैं मेरा प्यारा निर्मल
अपने आप रमण करता हुआ जो स्वाधीन सुखका विलास
है वह वास्तवमें अकथनीय है, पर सम्यग्दृष्टियोंके अपने स्वा
ज्ञानकी परम गुप्त समाधि दशामें अवश्य अनुभवगोचर है।

५० - साधु - माहात्म्य.

परम पुरुष परम आत्मा जो व्यक्त अवस्थामें सिद्धात्मा
अव्यक्त अवस्थामें असिद्धात्मा, अशुद्धात्मा व संसारी है तथा
मोहकी अशुद्ध तरंग प्रवाहोंमें उलझा हुआ गोता खा रहा है
यकायक एकांतमें बैठ अपने निश्चय रूप व असली स्वरूपके अ

५२–मेरा निर्मल सरोवर।

जिससमय मैं दृढ़तापूर्वक परम आनन्दके साथ अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमय निर्मल सरोवरमें प्रवेश करता हू मुझे सिवाय शांति व सुखके कोई वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती। इस सरोवरमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अनंत गुणरूपी निर्मल जलका प्रवाह है। आत्मीक आनन्दके परम विकसायमान कमल प्रफुल्लित होरहे हैं। आत्म हंसको यही उपादेय और माननीय है। मैं इस सरोवरमें मज्जन करते हुए उस परम समाधि भावकी उपलब्धि करता हू जो सर्व विकल्पोंसे दूर, अव्याबाध और परम पारिणामिक भाव स्वरूप है। इसी भावमें उस रत्नत्रयका लखाव है जो सिद्धोंके स्वरूपका आभूषण है। इस भावसे तृप्तिता सर्व इच्छाओंका निरोधरूप है। यही भाव निश्चलताका मंदिर है, यही भाव आनंद और प्रेमका स्थान है, यही आत्माके गुणोंके खोलनेकी कुंजी है। इसी भावकी स्थिरता सर्व बन्धनोंको मेटनेवाली है। धन्य हैं सत् पुरुष जो इस आत्म-ज्ञान सरोवरमें नित्य लीन रहते हुए उस आनन्दका विलास करते हैं जो कि वास्तविक और यथार्थ है।

५३–जगतसेवा।

यद्यपि व्यवहारमें जगतकी सेवा जगतके साथ उपकार करना है पर वास्तवमें यह सब व्यवहारिक उपकार पुद्गल और उसकी पर्यायोंके साथ है। यह उपकार शुद्ध आत्माके साथ नहीं है। वह सेवा जो शुद्ध आत्माके साथ की जाती है एक विलक्षण है। तथा उसका प्रकार यह है कि जो कोई शुद्ध निश्चय नयको ग्रहण कर उसके द्वारा विचार प्रणालीमें रहता है उसको जगतके संपूर्ण आत्म-

कभी अस्तता नहीं, कभी इतस्ततः भ्रमण नहीं, यह नित्यही अपने स्वाभाविक गुणोंमें परिणमनशील है । आज मैं इसी सूर्यके दर्शन, इसीकी पूजा, भक्ति और इसीके गुणोंमें आसक्तता करता हुआ परमानंदको पाता हुआ अपनेको कृतकृत्य मान रहा हूं ।

५१–परमपवित्र आत्मस्वभाव.

ज्यों२ बहुत ही विचारके साथ पदार्थका अनुभव किया जायगा यही फल निकलेगा कि आत्मा एकाकी परमानंद स्वरूप और स्व-रूपासक्त है । जो जिसका स्वभाव है वह किसी तरह मिट नहीं सक्ता । भले ही कोई नय कहे कि आत्मा परका कर्ता भोक्ता है, संसारमें रहकर गुणस्थानोंकी श्रेणियोंमें उतरता चढ़ता है–गति, इन्द्री आदि मार्गणाओंमें पाया जाता है । पर वास्तवमें इस आत्माकी अज्ञान दशा ही इसके लिये कारण है । इसका यह निज स्वभाव नहीं । यह सब विभावता पुद्गल कर्मके संयोग जनित है । आत्माको इस विचारमें स्वहित नहीं । स्वहितके लिये आत्माका सच्चा पवित्र परम पारणामिक शुद्ध जीवत्व भाव है वही अपना है । भेद विज्ञानी आत्मा अपने स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे परको भिन्न जान निजसे निजको निजमें निजके लिये ग्रहण करके अपने हीमें ऐसा घुल जाता है कि जैसे अमृत–अपने अमृतमय स्वभावमें तन्मय हो । यह स्वरूपका दर्शन सर्व तरह सुखकारी और स्वाधीन है । मैं आज सर्व विभाव तरंगोंसे ऊपर निजस्वरूपानन्दके निर्मल आसनमें बैठकर अपने आप मनोहर आत्मनृत्य करता हूं और परमानंदका उपभोग करता परम तृप्त होता हूं ।

ॐ

५२-मेरा निर्मल सरोवर।

जिससमय मैं दृढ़तापूर्वक परम आनन्दके साथ अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमय निर्मल सरोवरमें प्रवेश करता हू मुझे सिवाय शांति व सुखके कोई वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती। इस सरोवरमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अनत गुणरूपी निर्मल जलका प्रवाह है। आत्मीक आनन्दके परम विकसायमान कमल प्रफुल्लित होरहे हैं। आत्म इसको यही उपादेय और माननीय है। मैं इस सरोवरमें मज्जन करते हुए उस परम समाधि भावकी उपलब्धि करता हू जो सर्व विकल्पोंसे दूर, अव्याबाध और परम पारिणामिक भाव स्वरूप है। इसी भावमें उस रत्नत्रयका लखाव है जो सिद्धोंके स्वरूपका आभूषण है। इस भावसे तृप्तिता सर्व इच्छाओंका निरोधरूप है। यही भाव निश्चलताका मंदिर है, यही भाव आनद और प्रेमका स्थान है, यही आत्माके गुणोंके खोलनेकी कुञ्जी है। इसी भावकी स्थिरता सर्व बन्धनोंको मेटनेवाली है। धन्य हैं सत् पुरुष जो इस आत्मज्ञान सरोवरमें नित्य लीन रहते हुए उस आनन्दका विलास करते है जो कि वास्तविक और यथार्थ है।

५३-जगतसेवा।

यद्यपि व्यवहारमें जगतकी सेवा जगतके साथ उपकार करना है पर वास्तवमें यह सब व्यवहारिक उपकार पुद्गल और उसकी पर्यायोंके साथ है। यह उपकार शुद्ध आत्माके साथ नहीं है। वह सेवा जो शुद्ध आत्माके साथ की जाती है एक विलक्षण है। तथा उसका प्रकार यह है कि जो कोई शुद्ध निश्चय नयको ग्रहण कर उसके द्वारा विचार प्रणालीमें रहता है उसको जगतके संपूर्ण आत्म-

द्रव्य समहनयकी अपेक्षा एक परम निश्चयरूप सुख सत्ता चैतन्य बोधके पुन मालूम होते हैं। इस दृष्टिको ध्यानमें लेकर एकाग्र होजाना ही वास्तवमें जगतकी सेवा है। यह जगत सेवा परम शांत सुखमई भावोंके समुद्रको दिखलाती है। इस सुखमई समुद्रमें उपयोग परम स्थिरताको पाकर ऐसा मग्न होजाता है कि फिर उसके भीतरसे द्वैतभाव ही चला जाता है। इस अनुभव स्वरूप दशाको ही अद्वैत भाव कहते हैं। यह जगत सेवा परम समतारूप है, रागद्वेषसे रहित है। इसी भावका विचार निश्चय धर्मका मनन है। यही भववनको विध्वंस करनेके लिये अग्नि है। इसीके सेवी परम शुद्ध हो शुद्ध सुवर्णके समान दीप्तमान रहते हैं।

५४--प्रिय समागम।

अनादि कालीन संसारमें भ्रमण करते हुए इस मानवको जिस प्रिय पदार्थकी इच्छा थी, जिसके बिना इसकी भवपिपासा शान्त नहीं हुई थी जिसके लिये इसको उत्कंठा लगी हुई थी, वह प्रिय वस्तु आज इसको प्राप्त होगई है। इस प्रेमपात्रके समागमसे इसकी सारी मानसिक आपत्तियां नष्ट हो गई हैं तथा वह विभव जो इसकी ही सत्तामें गुप्त था, यकायक अपना दर्शन देने लग गया है। इसके दर्शनसे वह आनन्द जो स्वाधीन, निरुपम और अखेदजनक है इस भव्यके उपभोगमें आरहा है। अब इसको जो प्रेम इस स्वरूपानन्दधारी वस्तुका होगया है वह ऐसा अमिट है कि लाख यत्न करनेपर भी दूर नहीं होसक्ता। इस प्रिय समागममें जबतक भावकी ऐक्यता प्राप्त नहीं होती, वह रस जो शुद्ध और स्वच्छ है, हृदयमंदिरमें प्रवाहित नहीं होता। इस एकताके

भावका जमाव जब अपना पूर्ण स्वाव करता है, द्वैतताकी गंध निकल जाती है—मात्र शुद्ध अद्वैत आत्म तत्त्व ही झलकता है, तब वह समाधिभाव जो परम पूज्य परमात्माके लामका आदर्श है, जम जाता है और एक ऐसा सुन्दर महल बना लेता है कि उसमें पूर्ण निराकुलता होती है और अपनी अनुभूति प्रियाके समागमका सतत आनन्द प्रज्वलित रहता है।

अब मैं जगतके नष्ट होनेवाले महलोंसे अलग होकर व अविनाशी महलका आश्रय लेकर शुद्ध तत्त्वका नित्य विलास भोगता हूं।

५५-परम धर्म।

सत्यताकी खोजमें घूमता हुआ एक यात्री यकायक किसी ऐसे निर्जन स्थानमें जाता है जहां सिवाय भयानक शून्य आकाशके और किसीका पता नहीं। न वहा कोई जन है न कण है और न घन है। उस आकाशमें विना किसी आश्रयके बैठकर जब आपको आप ही देखता है तो सिवाय आपके आपमें किसीको भी नहीं पाता है। आप ही द्रष्टा होता है। आप ही दृश्य होता है। वास्तवमें द्रष्टा दृश्यकी कल्पना ही बनावटी है। वहा तो यह आपही आप होता है। जैसे कोई बावला आपही देखे, आप ही हसे, आप ही नाचे, आप ही लोटे, व आप ही उछले वैसे यह आप आपीमें रहता हुआ नाना प्रकारकी कल्लोलें उठा रहा है, इसको दूसरेकी परवाह ही नहीं रही है। इस प्रकारकी दशामें उस यात्रीको अपनी यात्राका यथार्थ फल प्राप्त होरहा है। वह उत्तम सुख जो सिद्धोंका मुख्य भंडार है इस यात्रीको मिल रहा है। इसीसे यह अपने परम धर्ममें स्थित है।

वास्तवमें निज स्वरूप श्रद्धान, निज स्वरूप ज्ञान और निज स्वरूपमें तन्मयता ऐसा जो अभेद रत्नत्रय सो ही आत्माकी निज सम्पत्ति और यही परम धर्म है। मैं आज अन्य सर्व विकल्पजालोंको त्याग कर इस ही परमधर्ममें स्थित होकर अपने स्वानुभव रसका पान कर रहा हूं।

५६-चन्द्रप्रभा।

परम प्रतापी आत्मा अपने स्वरूपके अनुभवमें दत्तचित्त होता हुआ जब आप और जगतको देखता है तब अपने समान सर्व चैतन्य प्राणियोंको पाकर उनके साथ साम्यभावके बंधनमें ज्यों ही बंधता है त्यों ही एक ऐसे चन्द्रका उदय होता है कि जिसकी प्रभामें परम शांत धाराका प्रवाह बह निकलता है जिस धाराके रसको पान करनेसे अनादिकालकी जो सुख सम्भोग करनेकी तृष्णा सो शमन होजाती है। इस चन्द्रकलाके उद्योतसे वह अज्ञान अंधकार जिसमें सर्व वस्तुए एकरसरूप मालूम होती थीं-जीव और अजीव एकसे ही नजर आते थे-यकायक दूर होजाता है। ज्ञान ज्योतिका निर्मल विकाश होना सर्व पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको जैसाका तैसा झलका देना है। भ्रमके जाते ही निर्भ्रान्त पद जो अपने परम शुद्ध पारिणामिक भावमें है झटसे उछलकर आ जाता है। इस पदमें आसीन होकर एक भव्य जीव चन्द्रकलाके प्रतापसे आकुलताके झकोरोंसे बचता रहकर अव्याबाध भावमें विकसित रहता है। जिस भावकी महिमा अगाध, अपार और वचनसे अगोचर है। मैं शुद्ध पदका धनी शुद्ध भावका अधिकारी शुद्ध रसका पान करनेवाला सदा ही जैसाका तैसा बना हुआ अपने ज्ञान रसका आप ही पीनेवाला हूं

यही भावना स्वरूप आसक्तताका कारण और परमानदका बीज है। मैं इसी भावनामें रत रहकर आत्मदुर्गमें बैठा हुआ निश्चय धर्मकी अनुभूतिमें कल्लोल करता हुआ परम सुखी होरहा हू।

५७–कर्ता व भोक्ता।

मैं ज्ञानी ज्ञान साम्राज्यका स्वामी हू। सर्व विश्व मेरी ज्ञान सम्पत्तिका एक अश मात्र है। मुझे किसी अन्यसे सम्बन्ध करनेकी न चाह है और न वह सम्बध हो ही सक्ता है। मेरा सम्बध मुझसे ही है। मैं अपनी ही सहज परिणतिका आप कर्त्ता हू और उसीका ही भोक्ता हू। न मैं परद्रव्य, परभाव, व परनिमित्तसे होनेवाले भावोंका कर्ता हू न भोक्ता हू। मैं चैतन्य स्वरूप, ज्ञानदर्शनमय हू, जानना देखना मेरा काम है, बधना या खुलना मेरा काम नहीं है। मैं सतत सुखमई व निराकुल हू, सुख भी मेरा धर्म है। मैं अनत गुणोंका धनी हू। कहनेको मेरे पृथक् २ गुणोंकी नामावली है जैसे सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र, वीर्य, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्त्व, अवगाहनत्त्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्त्व पर वास्तवमें इन सबको अपने सर्वस्वमें व्यापकर बैठा हू। भले ही भेद दृष्टिसे कोई मुझे इन गुणोंमें निरंतर होनेवाली उत्पाद, व्ययरूप परिणतियोंका कर्त्ता कहे व उसके फलका भोक्ता कहे पर मैं इस कर्तृत्व भोक्तृत्त्वके सकल्पसे भी परे हू।

इस दशामें मैं आप आपी आपको जानता, देखता व अनुभवता हू। यह कहना भी उपचार है। मैं जो कुछ हू सो हू। मेरा प्रत्यक्ष मुझ हीको है। मैं स्वय सर्व चिंता जालसे वर्जित हो जब स्व सन्मुख होता हू, अगाध आनदका लाभ करता हू। यही स्वानुभूति और उसका विलास है। इसीसे ही भव्योंके भव्यत्वका प्रकाश है।

५८-जागृत अवस्था।

मैं आज सर्व विकल्पोंको त्यागकर अपने निज ज्ञानानन्द स्वरूपमें तन्मय होरहा हूं। चाहे कोई मुझे सोता हुआ आलसी या प्रमादी समझे पर मैं तो अपनी अटल चिन्मय राजधानीमें पलक रहित निरंतर जाग रहा हूं। मेरी यह जाग्रत अवस्था पहले भी थी, अब भी है तथा आगे भी रहेगी। वास्तवमें जो सदा जागृत ही है उसे जागृत कहना बदनाम करना है जो कभी सोया हो उसे जागृत कहना तो ठीक है पर जो बंध मोक्ष व शयन जागृत दशासे दूर है उसे मुक्त व जागृत कहना कभी भी शोभित नहीं होता। मेरी शक्ति शुद्ध पारिणामिक भावोंकी आधार आपमें आप ही आपसे आपके लिये रमायमान होरही है। मेरी इस शक्तिमें न कोई आवरण था न है और न होगा। वह सदा ही प्रकाशमान है अनन्त गुण समुदायरूप है, भले ही ऊपर ऊपर कितने ही कर्मावरण आवें पर अनंत कर्मवर्गणाओंका समुदाय मिल करके भी आत्माके किसी प्रदेशको व किसी गुणको नष्ट भ्रष्ट नहीं कर सकता। शुद्ध निश्चय नय वस्तुके शुद्ध व असल स्वभावको झलकानेवाली है वही नय इस आत्माको परमात्माके समान शुद्ध बुद्ध अविनाशी दिखलाती है।

उसी नयके द्वारा देखा जाय तो जगत भरके आत्माओंका यही हाल है। सर्व ही निर्विकार आनन्दमय, चित्स्वरूप और एक जाति धारी हैं। यद्यपि निश्चयसे प्रत्येक आत्माकी सत्ता भिन्न२ है तथापि जैन सिद्धांत यह बतलाता है कि लोक उसे कहते हैं जहां हरस्थानमें जीव और अजीव पाये जावें। जीव शरीरधारी इतने हैं कि उनसे तीन लोक भरा है। कोई स्थान जीव बिना खाली नहीं

है। इस लोक स्थानमें निवासी सर्व जीवराशि शुद्ध नयसे शुद्ध निर्विकार, परमानन्दमय दीख पड़ती है जो जगतमें नाना रूप, नाना वर्ण, नाना शब्द, नाना जाति, नाना गुण प्राणियोंके दीखनेमें आते हैं सो सर्व अशुद्ध पराश्रित व्यवहार नयकी दृष्टिसे हैं। शुद्ध नयकी दृष्टिसे एक चैतन्यमय समुद्र दीखता है जिसमें अवगाह करना परमानदका कारण है। जो भव्य धर्मेच्छु हैं उनसे प्रेरणा है कि वे सर्व असत विकल्पोंको त्याग इस शुद्ध नयके विषयभूत पदार्थको ही जानें, मानें तथा अनुभव करें।

५९-सुगम पथ।

एक व्यवहारी जीवको व्यवहारमें फँसे हुए जनको श्रीगुरु निश्चयका मार्ग दिखाते हैं, तो उसको वह पथ महान् गहन नजर आता है, उसका जीव कांपता है और अकुलाता है कि मैं किसतरह इस सुगम व्यवहार मार्गको छोड़ निश्चयको ग्रहण करूँ। व्यवहारी जीवको व्यवहारसे ऐसा कुछ मोह है कि श्रीगुरु द्वारा बार२ चिताए जानेपर भी वह नहीं सोचता-समझता है। यदि निश्चयसे देखा जाय तो निश्चय मार्ग अतिशय सुगम है। इसके लिये किसी पर द्रव्य, पर गुण और पर पर्यायकी आवश्यकता नहीं है। न किसी कर्म और उसके उदयकी जरूरत है। इस मार्गमें कोई कांटे व कंकड़ पत्थर व कोई खाई व खन्दक नहीं है। सीधा, स्वच्छ अविकार मार्ग है जो एकसा चला गया है। जहांतक यह मार्ग है उस स्थानकी भी इस मार्गसे सदृशता है। जैसा स्वरूप मार्गका है वैसा ही पहुचनेके स्थानका है। जैसा ही साधन है वैसा ही साध्य है। जैसे साध्यमें परम अनुपम रत्नत्रयका झलकाव है वैसे साधन या

मार्गमें भी हर स्थलपर रत्नत्रयका जड़ाव है। कहनेको यहां वहां रत्नत्रय हैं पर वास्तवमें दोनों ही स्थानोंपर अनंतगुण रत्नसमूहोंका अस्तित्व है। जो भव्य जीव एकताके रंगमें रंगा होता है वह सीधा चलता हुआ अवश्य२ निश्चित स्थानपर पहुच जाता है। मैं शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, आनंदमय, अव्याबाध, क्रोधादि विकारोंसे रहित परम वीतराग हू। ऐसा श्रद्धान तथा ज्ञान और इस श्रद्धायुक्त ज्ञानमें आचरण ऐसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकताके मार्गको जो गहन, कठिन व दुस्तर माने वह महा अज्ञानी, मोही, व अनत ससारी है। धन्य हैं वे महान् पुरुष जो इस गहनको सुगम जान, इस मार्गको निकट ही मान इसपर आरूढ़ हो समभावके निर्मल फल चखते सदा निराकुल होते हुए परम सुखी रहते है।

६०–चैतन्य विलास।

आनन्द मंदिर, परम प्रभु, शुद्ध चैतन्य अभिराम आत्माराम अपने ही अनन्त गुणमयी आराममें परम उल्लास और सुखमयी प्रेमके साथ अनुभूति तियाके चेतन्य विलासमें क्रीड़ा कर रहा है। कोई भले ही सुन्दर वर्णवाले वृक्ष समुदायसे विभूषित वनमें क्रीड़ा करे पुद्गलके दृश्योंमें आप रंजित हो, पर मेरे लिये तो यह क्रिया बिलकुल ही असंभव है। मै तो आप ही अपनी शक्तिका स्वामी हू। मेरा क्रीड़ा स्थान भी मेरा ही प्रदेश समूह है। मै उस स्थानको छोड़कर न कभी बाहर गया, न जाता हू और न जाऊंगा। कोई मुझे भले ही अकर्मण्य कहे पर मैं स्वभावसे ही अपने शुद्ध अनुभवविलासके रसपानमई कर्मको करता रहता और उसीसे अद्भुत आनन्दका भोग करता हू। मैं चाहे जिस आकारमें रहकर चाहे

जितने आकाशको अवगाहन करूँ। पर मेरा बल, मेरा प्रभाव, मेरा धन, मेरा सुख सब मेरे हीमें रहता है। मैं उनसे कभी अलग न होता हू, न हुआ था और न होऊँगा।

सरोवरके जलपर सिवाल भले ही आवे और वह सरोवर एक जमा हुआ मलीन मिट्टीका पिंड ही दिखलाई दे पर वह जल जहाका तहा तैसा ही है। सिवाल हटनेपर जल, जलरूप स्वच्छ नजर आता है। इसी तरह भले ही मेरे गुणोंपर कर्मोंका आवरण हो और वे गुण अपने स्वभावरूप न झलकें पर आवरणके हटते ही वे स्वच्छ स्वभावमय झलकने है। मै अपने सुख सत्ता चैतन्य बोधको लिये हुए अपने स्वभावमें सदा ही अस्तिरूप हू। जब मै विकल्प उठाता हू तब पर द्रव्य, पर गुण, व पर निमित्तसे होनेवाले भावोंकी अपेक्षा नास्ति रूप भी हू पर निर्विकल्प दशामें मै जैसेका तैसा वचन व मनके विकल्पोंसे रहित केवल अनुभवगम्य ही हू। यही मनन निश्चय धर्मकी प्राप्तिका सहज उपाय है।

६१-महान उत्सव।

परम वीतरागी ज्ञाताद्रष्टा आत्माकी खोज करनेवाला जब अपनेमें ही एक चित्त हो देखता है तो उसे यकायक जिसकी खोज करता था उसका पता लग जाता है। उसका दर्शन पाते ही जो आनन्द लाभ करता है वह वचनातीत है जो लाभ चिरकालसे कभी न पाया था उसकी उपलब्ध कर गद्गद होजाता है। पुत्र जन्म, पुत्र विवाह, चिंतामणि रत्नलाभ, व समुद्रसे खोई हुई रत्नमणिकी प्राप्तिसे जो आनद नहीं होता उसका अनत गुणा सुख उसके अनुभवमें आजाता है। इस अपूर्व लाभसे परमानदित हो वह मुमुक्षु

अपने असंख्य प्रदेशोंके आंगनमें एक ऐसा उत्सव रचता है कि जिसकी उपमा जगतमें प्राप्त ही नहीं होसक्ती। इस उत्सवमें अनुभूति तिया सानंद आत्म कल्लोल नामका अद्भुत नृत्य करती है जिसके अविनाभावी सहायक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, वीर्य आदि बड़े२ प्रवीण वादित्री होते हैं। इस नृत्यका दर्शक व ज्ञाता तथा इसका स्वाद वास्तवमें उसे ही आता है जिसके आंगनमें यह नृत्य है। अन्य कोई मुमुक्षु भले ही अनुमान करें पर जबतक स्वय उनके ही यहां यह नृत्य नहीं होता तबतक उनको इसका स्वाद कदापि नहीं आसक्ता। इस उत्सवको मनानेवाला अपने उपयोगको इस नृत्यादि क्रियाकी ओर ऐसा तल्लीन कर देता है कि फिर उसको और कुछ खबर नहीं रहती है। उसकी दृष्टिमें सामान्य आपके स्वरूपका सर्वस्व या यों कहिये कि अपने ही अनंत स्वभावोंका एक रस इसी तरह वचन अगोचर स्वादमें आता है जिस-तरह कोई बहु औषधियोंकी बनी गोली खानेवालेको बहु औषधि-योंका एकदम सम्मिलित स्वाद करावे। इस दशाको ही अद्वैतानंद दशा कहते हैं। धन्य है वे महापुरुष जो इस अध्यात्मरसके रसिक हो इस रसके पानसे निरंतर स्वको पुष्ट करते हुए अनंतकाल तकके लिये परमानन्दी होजाते हैं।

६२–अद्भुत वैराग्य.

परम शांत सुखमय ज्ञानमई आत्मा आज अपने आत्मदर्पणमें छ द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको देखकर तथा रागद्वेष नष्ट कर परम वैराग्यमें एकतान होरहा है। उसकी इस दशाको ही परम वीतराग कह सक्ते हैं। इसमें साम्य भावका झलकाव है। इसीमें परम

ज्ञानका झुकाव है, यही आनद मदिर और सर्व दु खोंकी शातिका द्वार है। यही सतोंके लिये अनुपम हर्षका लखाव है। मैं न कर्ता हू, न भोक्ता हू, न बद्ध हू, न अबद्ध हू, न मूर्तिक हू, न अमूर्तिक, न क्रोधी और न क्षमावान हू, इत्यादि अनेक विकल्प जालोंके समुदायमे रहित जो है सो हू, इन चार अक्षरोंका भी विकल्प, विकल्पमात्र है। अनत गुणमय परम शात सुख समुद्ररूप आत्मतत्वमें किसी भी विकल्पका दर्शाव नहीं है। वह विकल्परूपी वायुके जालोंसे रहित अक्षोभ समुद्रसम निर्मल स्फटिकमई मूर्तिमान है उसके इस स्वरूपमें वचनातीत रचनाका घमसान है। एक प्रदेश मात्र सूक्ष्म आकाशमें अनत गुणोंका वास है। एकर गुण अनत शक्ति अशोंका पुज है। एक ३॥ हाथके आकाररूप पुरुष देह सम आकारवान आत्मामें जिनर अनत गुणोंका वास व्यापकरूपसे विद्यमान हैं वे सब एक दूसरेसे अनोखे होते हुए भी किसी भी तरह एक दूसरेसे न मिलते हुए भी समता रसके आनदमई ठिकानेसे भलेप्रकार तर हैं और इसीलिये अद्भुत वैराग्य रसको प्रदर्शित कर रहे हैं। जो कोई इस गुण समुदाय रूप पदार्थका आस्वादन करते हैं उसीके अनुभवमें लवलीन होते हैं उनके सर्व कर्म बधन टूट जाते हैं, वे स्वय शुद्ध परमात्मा होते हुए अपने अनोखे धनके अनिन्दनीय मदमें गर्क रहते हुए जैसा जीवन विताते हैं वह सभीके लिये उपादेय और सुखरूप है।

६२-ज्ञानका बाग.

एक भववनके त्राससे दु खित और थकित प्राणी भटकतेर ज्योंही अपने ही आत्माकी ओर दृष्टि डालता है तो वहा एक

ान बागका दर्शन पाता है जिसमें अनन्त गुणरूपी वृक्ष अपनी
दभुत शोभाको विस्तृत कर रहे हैं। दृष्टि पड़ते ही जिस अपूर्व
ातताका अनुभव इस प्राणीको हुआ वह वचनातीत है। परम शांत
ई सुखानुभवने मानों उसके चित्तको मोहित कर लिया। बस क्या
ा? वह तो किसी शरणकी खोजमें ही था। महामनोहर व निरा-
ल आश्रय पाकर कौन ऐसा है जो अपने चित्तमें प्रफुल्लित होकर
स आश्रयको अपनाने नहीं? यह तुर्त दृढ़ इरादा बांधकर उसी
ानबागमें प्रवेश करता है और सम्यक्त्व, चारित्र, आनंद, चेतनत्व
ादि जिस किसी गुणरूपी वृक्षमें सूक्ष्मतासे कल्लोल करता है,
कसा ही आनंदलाभ करता है। इस स्व आरामके क्रीड़ा करनेसे
चेर वासित त्रास मिटाता हुआ निज स्वाधीन सुखका स्वादी हो
हा है यही वह सुख है जो सिद्ध, अर्हत तथा साधुओंके अनुभ-
में आता है। ऐसे ज्ञान बागमें हरएक सज्जन रमण करके सुख
त्पादन करे यही निश्चय धर्मपर जानेकी भावना है।

६४-पुरुष-पूजा.

जो पुरुषार्थ करे वही पुरुष है। उत्कृष्ट पुरुषार्थ स्वयं आप
है। इसलिये आप ही पुरुषार्थ और आप ही पुरुष है। आप ही
मोक्ष और आप ही मोक्षका धनी है। पुरुषकी पूजा महान् गुण
कारी है। इसीसे आपकी आप पूजा करना भक्ति करना या आपके
ही अनंत गुणमय एक रसमें भीज जाना सच्ची पुरुष पूजा है। इस
पूजाके लिये सिवाय मोह, राग, द्वेष रहित भावरूपी नैवेद्यके और
किसी वस्तुकी जरूरत नहीं है। उस पुरुषका आसन उस हीका
... नामका अमिट और अखण्ड गुण है। इस पूजाके होते

ही एक अद्भुत आल्हाद पैदा होता है जो अज्ञान और मोहके भीतर दब रहा था सो आत्मज्ञान और वीतरागताका राग आलापते ही उमड़के आजाता है। कोई इसे ऋषभदेव पूजा कहो, कोई अजित तीर्थंकर पूजा कहो, कोई शीतलनाथ व कोई शांतिनाथ पूजा कहो, कोई नेमनाथ या कोई पार्श्व अथवा वीर पूजा कहो, चाहे इसे अर्हंत पूजा या सिद्ध पूजा कहो, चाहे आचार्य, उपाध्याय, या साधु पूजा कहो, व्यवहारमें जो चाहे सो कहो पर पूजनेवाला तो सिवाय निज चैतन्य पुरुषके और किसीकी पूजा करता नहीं, क्योंकि इन सबोंके भीतर जो सार है, सो यह है और यही उनके भीतर जाज्वल्यमान होरहा है। यही कारण है जो अशुद्ध सुवर्णोके अनेक रंगोंमें भी ज्ञानी केवल सुवर्ण मात्रको ही सुवर्ण रूपसे अनुभव करता है उसी तरह अनेक नामधारी अवस्थाओंमें भी ज्ञानी पूजक निज पुरुषको ही देखता है और आप आपमें आशक्त होना ही इसकी यथार्थ पूजा है यही पूजा वास्तवमें निश्चय धर्मका मनन है।

६५-प्रेमपुष्प।

एक चिरकालसे विरहके आतापसे संतप्त प्राणी जो अनेक विषय व कषायोंके वनों व मार्गोंमें घूमा फिरा किया था इस आशासे कि मेरा यह ताप शांत हो तथा जिसके बिना मेरा संताप रोग दिन प्रतिदिन बढ़ता चला जारहा है, वह कोई अद्भुत अनुभूति जिसकी महिमाका वर्णन नहीं हो सक्ता मुझे प्राप्त हो जाय। आज यकायक ज्योंही तत्त्वज्ञानके अति प्रफुल्लित बगीचेमें पहुंच जाता है त्योंही उसको भेदविज्ञानके अति मनोहर अशोक वृक्षके नीचे अपनी

प्रेमपुष्प उसके मनके भीतर पड़ा हुआ म्लानित होरहा था सो एकदम विकसित होजाता है। उसका सारा शरीर परम यौवनवान होजाता है, उसका सारा सताप विलय होजाता है, उसकी मनोकामना पूर्ण होजाती है। यह विरहातुर विना किसी सकोचके उस अनुभूतिको गले लगाता है, उसे अपनाता है, उसके रगमें रग जाता है। अपना परम मनोहर प्रेमपुष्प उसकी भेट करता है। वह इस पुष्पकी परम शात सुगधमें उन्मत्त हो इस प्राणीसे तन्मय होजाती है। उस समय जो अतींद्रिय आनदका उछलना होता है वह वचनातीत है। यह आनद सदा ही पौष्टिक, शात और स्वाधीन है।

६६–समूर विजय।

ज्ञानी आत्मा अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंको एकत्र कर एकचित्त हो मोहशत्रुके सहारके लिये कटिबद्ध होगया है। मोह अपनी रणभूमिमें अपने सर्व सम्बन्धियोंको लिये हुए खड़ा है। ज्ञानी आत्मा अपनी भेदज्ञान भूमिमें दृढ़ताके साथ जमा खड़ा है। तथा इस ज्ञानी आत्माका जो चारित्र है सो जब पूर्णपने अपने ही आधारमें रहता है ऐसा कि वहापर इसके सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र तीन रत्नोंपर कोई मलीनता नहीं रहती तब इसकी विजय होजाती है और वह युद्ध जो बहुतकालसे ठना था कि जिसमें कभी मोहको यह दबाता था, कभी यह मोहसे दब जाता था, सदाके लिये समाप्त होजाता है। ऐसी दशामें ज्ञानी आत्मामें स्वानुभवकी अमोघ शक्ति ऐसी दीप्तमान होजाती है कि उसकी दीप्तिके प्रभावसे मोहकी फिर कभी हिम्मत नहीं पडती कि वह ज्ञानी आत्माके राज्यमें अपना पग रख सके। वह तो तब अपनी ही भूमिकामें मानो कील जाता है।

वह मानो गहला या बावलासा होता है। उसको सुधि ही नहीं रहती है कि ज्ञानी आत्मा कहा है व मैं उसको आक्रमण करूं। ज्ञानी आत्मा इसतरह समरमें विजयी होकर अपनेमें भरा हुआ जो सुखरूपी समुद्र उसमें नित्य कल्लोल करता व उसीके परम शात अमृतका पान करता हुआ ऐसा तृप्त हो जाता है कि उसको फिर कोई इच्छा या तृष्णा कभी सताती नहीं, उसके भावोंमें कभी कोई विभाव परिणति आती नहीं। हम ऐसे समर विजयीको स्वय आप अनुभव कर उसी स्वस्वभावमें ठहरते हैं जहा न कोई बाधा है और न आकुलता है।

६७-मर्मछेद।

बहुत कालसे बिल्कुल दो भिन्न२ स्वभावधारी पदार्थ एकमेक होकर उन्मत्तवत् जगतमें कल्लोल कर रहे थे। भेदविज्ञान अपनेको ज्यों ही पुन पुन उनपर प्रयोग करता है त्यों ही वह अनमिल एकताका मर्म छिद जाता है और दोनों अलग २ रह जाते हैं। उस समय एक तो साक्षात् जड़, अज्ञानी, परमाणुओंके बन्धसे बना हुआ है पर दूसरा परम शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई एक अपूर्व पुरुष चैतन्य धनका धनी है ऐसा दीखता है। यही उस परमात्मा परमेश्वरका दर्शन है-जो मानों एक जड़ स्तम्भसे निकलकर दीप्तमान हो रहा है। ऐसे प्रत्यक्ष प्रभुको जो आपमें ही विराजमान हैं, पुन पुन अवलोकन करना निश्चयधर्मका मनन है।

६८-वैराग्यशक्ति।

आत्मामें वैराग्यशक्ति है पर वह इस विकल्पसे रहित है कि मैं भिन्न हू व रागद्वेष भिन्न हैं, न उसके यह विकल्प है कि मैं

शक्तिधारी हू और वैराग्य मेरी शक्ति है। आत्मा तो यथार्थ स्वरूपमें रहनेवाला ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परम पदार्थ है। एक विकल्पधारी जब वर्णन करता है तब यह कहता है कि आत्माके राग द्वेष मोह नहीं हैं–वह तो शुद्ध निराकुल परमात्म स्वरूप मय है। उसी समय वह यह भी विचार लेता है कि ज्ञानी आत्मा ऐसी अनुपम ज्ञान शक्ति रखता है कि उसके स्वभावमें ही कोई परवस्तुसे राग व कोईसे द्वेष नहीं झलकता है। सम्यग्दृष्टी जीव षट्द्रव्यमय लोकके स्वरूपको जानता हुआ रहकर वस्तुको वस्तु स्वरूपसे मानता है, किसीमें रागद्वेष नहीं करता है। इस प्रकारकी शक्तिके ही प्रतापसे आत्मा अपने घरमें आरामसे ठहर सका है और वहां जो स्वाधीन ज्ञानानंद रस है उसका पान करता है। यह शक्ति भेद विज्ञानके प्रतापसे स्फुरायमान होती है। शक्ति गुण है–आत्मा गुणी है–गुणीसे गुण अलाहदा नहीं किया जासक्ता है। निश्चयदृष्टि पदार्थको अपने स्वरूपमें दिखलाती है। यद्यपि मैं अशुद्ध हू ऐसा व्यवहार दृष्टि दिखाती है तथा निश्चय दृष्टिके सामने व्यवहार दृष्टि अत्यन्त गौणरूप होजाती है। निश्चय दृष्टि द्वारा पदार्थका दर्शन जब परमसुख दाता है तब व्यवहार दृष्टि द्वारा विचार अशुद्ध अनुभवमें रखकर आत्माको सुखके मार्गसे परे रखता है। यह जगत द्रव्योंका समुदाय है–सब द्रव्य परिणमनशील हैं। इससे यह जगत भी परिणमनशील है। इस जगतकी परिणमनशीलताको देखते रहना पर उसके किसी भी परिणमनमें रागद्वेष न करना वैराग्य शक्तिकी महिमा है। जो इस शक्तिके रोचक हैं वे ही निश्चय धर्मका मनन करके स्वरूपमें गुप्त हो परमानंदका विलास करते हैं।

६९–निर्जन भजन।

निश्चयसे शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परन्तु व्यवहारमें संकल्प विकल्पोंसे छाया हुआ तथा अपनी आत्मज्योतिके प्रकाशको गुप्त रखता हुआ ऐसा एक मुमुक्षु जन नानाप्रकार जप, तप, पूजन, भजन, दान, सन्मान, भक्ति, परोपकार, गुरुवैयावृत्य, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान, धर्मध्यान आदि व्यवहार धर्मरूपी जनोंकी संगतिसे दूर निर्जन एकाकी चिद् ब्रह्ममय आराम (उद्यान)में जाता है और वहां स्वस्थचित्त हो बैठकर आप ही आपसे अपने लिये अपनेमेंसे अपनेमें अपने आपको अपना प्रभु मान सत् स्वरूपके अनुभव रूप भजनमें लवलीन होजाता है जिस भजनको करनेमें न बाहरमें वचनोंका प्रयोग है और न अन्तरङ्गमें मन द्वारा वचनोंका विकल्प है। इसे ही निर्जन भजन कहते हैं। इस प्रकार भजनके व्यवहारमें यद्यपि स्व स्वरूपका झलकाव है पर किसी अन्य वस्तुकी संगति नहीं है। इस भजनको ही निश्चयधर्मका मनन कहते हैं। जो कोई मुमुक्षु परम शांत व सुखदाई पदके इच्छुक हैं, उनका कर्तव्य है कि थोड़ी देर भी निर्जन भजन करके अपनेमें जो अद्भुत अमृत-रस है उसका स्वाद लेवें और अद्वैत भावका आनन्द लेते हुए अनात्माके साथ जो द्वैतभाव होरहा है उसको मिटाकर परम तृप्त हों।

७०–हमारा साम्राज्य।

मैं जब सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर एकचित्त हो अपने साम्राज्यकी ओर दृष्टि देता हूं तो उसे इतना महान् पाता हूं कि लोकाकाश अलोकाकाश सब अपने सर्व द्रव्योंके लिये हुए इसके एक भाग मात्र होते ~ इतने महान् राज्यका धनी हूं एक

अपने राज्यके अतर्गत जो चेतन और अचेतन पदार्थ हैं उन सर्वकी त्रिकाल सम्बन्धी अव थाओंको जानता है। कोई गुण व कोई गुणकी पर्याय उसके ज्ञानसे अतीत नहीं है। इस साम्राज्यके धनीमें अद्‌भुत बात यह है कि यह इन सर्व ज्ञेय पदार्थोंमेंसे किसीसे भी राग और द्वेष नहीं करता है। इसके अन्तमें पूर्ण वीतरागता और समदर्शित्व सदा विद्यमान रहते हैं जिससे यह बिल्कुल निस्पृह है। दूसरी अद्‌भुत बात यह है कि यह सदा काल अपने आपके आनन्दमय स्वादमें तन्मय रहता है। यह अपनी शुद्ध परिणतिका ही कर्त्ता तथा उसीका ही सम्यक् प्रकार भोक्ता है। द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म सब पुद्गल जड़का पसारा है—इसकी सत्तासे बिल्कुल भिन्न हैं। ऐसे परम साम्राज्यके धनीपनेकी शक्तिका धारी जो मैं सो इसी ही भावनाके बलसे उस शक्तिको व्यक्त कर पाऊंगा, यह मेरा गाढ़ निश्चय है।

७१ समयसार.

अनादिकालीन जगतमें भले ही इस मेरे और तेरे जीवने नर नारकादि अनेक पर्यायोंमें भ्रमण किया हो, अनन्तोंको माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भ्राता, भगिनी, स्वामी, सेवक, पूज्य, अपूज्य, गुरु, शिष्य माना हो, अनेकों दफे निराशाके साथ पौद्गलिक देह छोड़ी हो, अनेकों दफे अक्षरके अनन्तवें भाग ज्ञानका धारी भया हो। चाहे कैसा भी नाटक इस जड़ पुद्गलके सम्बन्धसे मैंने और तैंने खेला हो तथापि मैं और तू जैसेके तैसे ही हैं न कुछ बिगड़ा न कुछ आया, भले ही चांदी और सोनेको एक साथ गलाकर चाहे कितने ही आभूषण बनाओ और चाहे इनको सहस्रों वार पहन २ कर घिसाओ पर जब सर्राफके पास भेजोगे तो वह सोनेका सोना और

चांदीको चांदी कर दिखाएगा। क्योंकि दोनों मिले हैं पर किसीने रत्तीभर भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ा। जगतकी जो२ वस्तु हैं वह अपने स्वभावको कभी त्यागती नहीं, अतएव मैं और तू भी जो कुछ है सो है। वास्तवमें मैं और त दोनों ही समयसार हैं अर्थात् शुद्धात्मा हैं या यों कहिये जो कुछ सब आत्मीक गुण हैं और उनका धारी जो असली आत्मा है वही मैं और तू है। निश्चयमें यह सभी कथन या विचारका प्रपंच जाल वहां नहीं है। वह तो एक सार अपने स्वरूपमें अविकार रहनेवाली एक चैतन्य धातुकी मूर्ति अखंड अविनाशी है। ऐसे समयसार साररूपका अनुभव करना ही निश्चय धर्मका मनन है।

७२--उच्च पद।

एक एकाकी आत्मा परमानन्दमें निमग्न होकर ज्योंही अपने आपका निरीक्षण करता है उसे एक परम उच्च पद जो उसका स्वाभाविक धर्म है उसमें तिष्ठा हुआ पाकर ऐसा आल्हादित होता है कि जिसका वर्णन नहीं होसक्ता। मोहकी गहरी नींदमें हटना ही स्वरूप विकाशका साधन है। ज्ञानी आत्मामें वास्तवमें देखा जाय तो ऊँच नीचका विकल्प ही नहीं है। वह अनादिसे अनंत कालतक जैसाका तैसा है। उसमें बंध मुक्तकी कल्पना ही व्यवहार मात्र तथा असत्यार्थ है। बद्ध, अबद्ध, स्पर्श अस्पर्श भावसे रहित स्वच्छ स्फटिकवत् स्वभावधारी जो कोई है वही मैं हू, अन्य नहीं। न कभी अन्यरूप था, न हू और न कभी अन्यरूप होऊंगा। शक्तिसे परम अविनाशी राज्यका भोक्ता अपनी ही निश्चित परि-णतिका कर्ता और अपनेसे अन्य परिणतियोंका अकर्ता हू। द्रव्यसे

एक परन्तु अनन्त गुण और अनन्त पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक है।

मैं अद्भुत परम विलासका स्वामी हूं। परम ज्ञाता दृष्टाका जो कोई पद है वह मेरा पद है, अन्य सब पद हैं सो अपद हैं। इसी भावका मनन स्वरूप प्राप्तिका परम साधन है।

७३-शक्ति।

शक्ति भी कैसी अमूल्य चीज है जो अपनी सत्ताको सदा स्थिर रखती हुई परिवर्तन करती हुई भी बनी रहती है। जब मैं अपनी चारों ओर देखता हूं मुझे कुछ पदार्थ विचार करनेवाले व कुछ विचार न करनेवाले दीखते हैं इसी प्रत्यक्ष दिखावने पदार्थोंके सजीव और निर्जीव ऐसे दो भेद कर दिये हैं। एक शाखा जब बढ़ती, पत्ते फूल फल जनती, हरीभरी रहती तब सजीव कहलाती, वही जब तोडकर डाल देनेसे अपना बढ़ना बन्द कर देती व पत्ते आदि जननेको असमर्थ होती प्रत्युत सूखती हुई काष्ठके नामसे पुकारी जाती निर्जीव कहलाती है। जीवन शक्ति जीवमें है। इसी जीवन शक्तिको चेतन शक्ति भी कह सक्ते हैं। इस शक्तिके वियोगका जिसमें झलकाव है वही अजीव, जड़ या अचेतन है। जीवन शक्तिका आधार जो मैं सो जीव स्वरूपको रखता हुआ चेतनपने अर्थात् जानने देखनेके कार्यको करनेवाला हूं। नेत्र देखकर अग्निको अग्नि और समुद्रको समुद्र जानते हैं न अग्निमें जलने और पानीमें डूबते हैं न उनसे जल जाते या डुबाए जानेका भय है—इसी तरहमें जीव पदार्थ ज्ञाता दृष्टा हूं। जैसा जो पदार्थ है उसको वैसा ही जानना मेरा स्वभाव है। उनमें किसीको इष्ट मान उसके रागमें अन्धा होना व किसीको अनिष्ट समझ उनके द्वेषमें अभिमानी होना

मेरा स्वभाव नहीं है। मैं जैसे अपने ही परिणामोंका कर्त्ता वैसे अपने ही परिणामोंका भोक्ता हू। मेरी शुद्ध निर्विकार जीवन शक्ति मेरेमें भी है व सदा रहेगी। मैं इसी शक्तिका उपासक होता हुआ शक्ति नामका धारी होकर आपसे ही आपमें अपनी शक्तिके साथ रमण करनेमें जो आनन्द होता है उसे भोगकर परम तृप्त रहता हू।

७४-मोहनिद्रा।

परम प्रतापी आत्मा जो अनादिकालसे मोहकी नींदमें सो रहा था, यकायक जागता है और जिस प्रकाशमें रहनेसे कभी मोहकी घुमेरी नहीं आती वही प्रकाश जब इसके अन्दर व्याप जाता है तब यह परम आनन्दको प्राप्त करने लगता है। यही आनन्द समता रसका स्वाद है। यही अभेद रत्नत्रय स्वरूप है। यही स्वसवेदन ज्ञान है। यही जागृत अवस्था है। यही कर्मोंके विजयी होनेकी तय्यारी है। यही वीतराग सम्यक्त्व है। जब एक दफे भी मोह निद्रा छूट जाती है वह ऐसा अवसर ला देती है कि फिर कभी भी ऐसी अचेत अवस्था न हो जिससे चिरकाल तक अवश्य रहे। वास्तवमें देखा जाय तो यही जागृति मोक्षवधूको मिलानेके लिये सखीके समान है जो इस सखीके प्रिय बनते हैं वे स्वात्माश्रित रसका पान करते हुए सदा ही ध्यानमें लवलीन रहते हैं। मैं सदा शुद्ध सहज स्वभाव धारी अविनाशी हू, यही भावना परम मगलकारी और हितकारी है।

७५-ज्ञान एंजिन।

एक जगतमे भ्रमण करनेवाला आत्मा अनतवार चक्कर लगाकर बारबार उन्हीं स्थानोंको स्पर्श करता रहता है और सुख व शातिको ढूढते हुए भी उसका अनुभव नहीं कर सक्ता है, क्योंकि

जिस चक्रमें वह जाता है वह दुःख और अशांतिका मार्ग है। यकायक उसको आत्म श्रद्धाका मार्ग मिलता है। इस मार्गपर आत्म ज्ञानरूपी एंजिनका सम्बन्ध होते ही जब यह वीर पुरुषार्थकी गाड़ीपर चलता है इसकी आत्मानुभवरूपी दौड़ शुरू होजाती है। इस अनुभवकी परम आल्हादक कल्लोल रगमें रगा हुआ यह वीर पुरुष सीधा स्वस्थानको गमन करता है। एकर परकी दौड़में इस जीवको वह आनद प्राप्त होता है जो इस आत्मामें है और इसका निज स्वभाव है। मैं शुद्ध बुद्ध अविनाशी, ज्ञाता, दृष्टा, आनन्द रूप, सिद्धसम शुद्ध हू। यही अन्तरग और बहिरग प्रवृत्ति रहित मौन सहित अनुभव निश्चयधर्मका मनन है। यही साधन और यही साध्य है।

७६-मंगल समय।

भेद विज्ञानी आत्मा अपनी शुद्ध परिणतिसे ही अपनी समस्त रुचीके ध्यानमें अपने आपको जिस क्षण जोड़ता है वह क्षण परम मंगलका समय होता है। जिसवक्त आनन्दका लाभ होवे वही मगलीक समय है। स्वाधीन अतीन्द्रिय आनन्द जिस वस्तुमें है उस वस्तुमें उपयोग रखते व उसका स्वाद लेते हुए कौन ऐसा व्यक्ति है जिसको वह आनन्द प्राप्त न हो। सिद्ध भगवानकी आत्मामें नित्य मगल है क्योंकि वहा अविच्छिन्नरूपसे आत्मानन्दका भोग है। मैं भी यथार्थदृष्टिसे जैसा हू वैसा ही हू। सिद्धकी जातिको धरनेवाला होनेसे सिद्धसम शुद्ध निर्विकार आनन्दमय हू, ऐसा ही हू और कुछ नहीं हू, न और रूप हू। यही प्रतीति मेरे अनुभवमें मुझे प्रेरणा करती हुई जगतके शुभ या अशुभ विकल्प जालरूपी अमगलोंसे बचाकर चिद्विलास नाट्यके मगलमई उत्सवमें मुझे वि-

राजमान करके जैसी कुछ शोभा मेरी झलकती है उसका रंचमात्र भी वर्णन नहीं होसक्ता। अब रत्नत्रयकी परमपवित्र ज्योति मेरेमें प्रकाशमान होकर मुझे त्रिकाल व त्रिलोकज्ञ बनाकर अमृतमई धारावरकी वर्षासे परमशांतिमें धारण करती है। यही इस ज्योतिमें अपूर्वता है।

७७–आत्मस्वभाव।

यदि कोई महानुभाव एकचित्त हो अपने आपको विचारे तो उसे अपने आत्माका स्वभाव जैसेका तैसा दीख जायगा। उसे यही झलकेगा कि यह आत्मा किसी भी परद्रव्य, परद्रव्यके भाव तथा परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे पृथक् है। यद्यपि भेद दृष्टिसे अनंत गुणोंका रखनेवाला है ऐसा विचारा जाता है, परंतु अभेद दृष्टिसे यह एकाकार ज्ञायक भावरूप ही स्वच्छ दर्पणकी तरह झलक रहा है। इसमें कोई सङ्कल्प विकल्प नहीं है। क्योंकि ये सब विकल्प आदिरूप विचार मनका परिणमन है। आत्माका स्वभाव मन, वचन, कायसे भिन्न है। आश्रवके कारण जो योगोंका परिस्पन्दन है सो भी आत्माका निज धर्म नहीं। आत्मा टकोत्कीर्ण एक स्वभावमय है। यह आत्मा अपनी संपूर्ण शक्तियोंसे पूर्ण है। न यह कभी जन्मा और न यह कभी अतको प्राप्त होगा। इसका लक्षण चेतना है। वही अपनी पारिणामिक दशामें सदा परिणमता हुआ कारण समयसारसे कार्य समयसाररूप हो जाता है। वास्तवमें न उसमें कोई कारण है न कोई कार्य है। वह तो द्रव्यरूपसे जैसाका तैसा बना है। उसके स्वभावको सिद्ध कहें, परमात्मा कहें, ज्ञाता दृष्टा कहें, अविनाशी कहें, ईश्वर कहें, भगवान कहें, सो सब

यथार्थ है। वह तो एक अखंड चित्पिंड ज्ञान गम्य है। उसकी महिमा उसीमें है। ऐसे आत्मस्वभावको जो सदा परमानंदरूप अनुभव करता है वही ज्ञानी तथा निश्चय धर्मका मनन करनेवाला है।

७८--अध्यात्म--रस।

जिधर देखता हू उधर रस ही रस रहा है। यह रस षट् रसोंसे व जलादि द्रवी पदार्थोंके रसोंसे विलक्षण है। इसमें न कोई गध है, न रूप है और न स्पर्श है। यह रस शातता, वीतरागता और चेतनताके महान् अदभुत गुणोंसे व्याप्त है। इस हीको अध्यात्मरस कहते है। जगत यद्यपि जीव पुद्गल आदि छ द्रव्योंका समुदाय है, पर जब अध्यात्मरसको देखते है तो सर्व जीव, जातिके प्रत्येक व्यक्तिमें चमक रहा है। जीव अनन्तानन्त है। लोकाकाशमें ऐसा कोई स्थान नहीं है जहा जीवोंकी सत्ता न पाई जाय उन सर्व जीवोंके ऊपर चाहे कितना भी पुद्गलका सम्बन्ध रहो पर वे सर्व जीव अध्यात्मरसके समुद्र हैं। अतएव यही झलकता है कि यह लोक ही अध्यात्मरसका समुद्र है। मैं अब इसी रसमें स्नान करता, इसीको पान करता व इसीके रगमें रगता व इसीको अपना सर्वस्व मानता इसी रसके स्वादमें मगन हू। इस मगनताके प्रतापसे स्वभाव धर्ममें आरूढ होता हुआ जिस समताके एकत्वमें व्याप रहा हू वह परम उपादेय परम धेय परम सुन्दर तथा अध्यात्म रसके अनुभवका मिठ फल है।

७९--चेतन--धर्म।

ज्ञान जब अपने स्वामीकी ओर दृष्टिपात करता है तब वह एक अदभुत ठाठ देखता है। कोई जाता है, कोई आता है, को

कल्लोल करता है, कोई विश्राम करता है, कोई रोषरूप होता है, कोई मानरूप होता है, कोई लोभरूप, कोई मोहरूप होता है, इस तरह सर्व विश्व नाटक जो अनेक अनिर्वचनीय स्वांगोंमें हो रहा है सो सब वहां जैसाका तैसा दीख रहा है। स्वामीके अंदर विश्वका दर्शन कर ज्ञान यही समझता है कि यह स्वामीके चेतनधर्मकी अपूर्व महिमा है कि दर्पणवत् वहां सर्व झलकाव होनेपर भी वह चेतन धर्म उनरूप नहीं होता। यह चेतन धर्म अपने धर्मी चैतन्य प्रभुमें सर्वांश व्यापक है, तन्मय है, एकाकी है। इसका अच्छीतरह दर्शन किया जाय तो यह परम प्रफुल्लित आनन्दरूप विकसित कमलकी तरह विकाशमान है। इसमें न कोई कालिमा कभी थी, न है और न आगामी होवेगी यह निर्मल, इसकी अनुभूति निर्मल। जो इस निर्मल अनुभूतिको स्वादमें लेते हैं वे निश्चयधर्मका मनन करते हुए सुखिया स्वभावी रह परम संतोष पाते हैं।

८०—अद्‌भुत देह।

परम प्रतापी आत्मारामकी परम अमूर्तीक परमानन्दमई असख्यात प्रदेशवाली चैतन्यमई धातुकी बनी हुई पुरुषाकार स्वरूपमगन स्फटिक सदृश अतिनिर्मल देहका दर्शन एक विलक्षण ही प्रेम उत्पन्न करता है। इस देहमें यद्यपि किसी अपेक्षासे कहीं संकोच विस्तार हो जाता है परन्तु उसका खंड कभी होता नहीं, उसका ध्वंश कभी होता नहीं, उसपर अग्निका असर लगता नहीं, उसको कोई किसी भी उपसर्ग या परीषहके द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर सक्ता नहीं, उसका रुकाव कहीं होता नहीं, महानज्रका बना शरीर तो कभी नष्ट भ्रष्ट भी होजावे पर यह चेतनामई देह कभी रचमात्र भी बिगडती नहीं।

इस देहमें अनत शक्तियां हैं। वे सब इस देह भरमें व्यापक हुई सदा बनी रहती हैं। एक अखंड ज्ञानपिंड परम स्वपरप्र ज्योतिधारी यह देह है, इसमें कोई भी द्रव्यकर्म व उसकी भावकर्म व नोकर्म कभी अपना अड्डा जमा नहीं सके। क जलबूंद जैसे अलिप्त हैं वैसे पुद्गलोंके मध्यमें रहते हुए भी य जड़की वासनाओं व खेलोंसे जुदा है, अस्पर्श है, अबध्य यह देह चेतनामई निर्मलताको रखती दर्पणसम स्व और वि स्वभावसे झलकाती है पर कभी अन्य रूप नहीं होती है तरह यह अपनी अदभुतताको विस्तारती हुई एक नानीके ढ आती हुई जो आनन्द प्रदान करती है उसका कथन कोई कर सक्ता, मात्र ज्ञानी जानता ही है। इस ज्ञान द्वारा वे प्रीति जो भव्य जीव करते हैं वे सदा सर्वोपिन रह स्वरूप सके हुल्लाशमें मग्न रहते हैं।

८१-मेरा दुर्ग।

परम अतींद्रिय सुखका धारी आत्मा अपने अखण्ड अप्र परम गुप्तिमय अत्यन्त दृढ लोहा, चांदी, सुवर्ण आदि धातु विलक्षण चेतन्य धातुके रचे हुए किलेमें बैठा हुआ है। यह स्वरूप किला अनादिसे अनन्त एकसा ही बना रहता है, किस शक्ति नहीं जो इसको ढा सके, तोड सके, बिगाड़ सके। भले कर्मरूपी रज वायुके हलके या तीव्र वेगकी तरह इसमें स्पर्श व इसके चारों ओर घूमे तथापि वह कोई भी असर उस दु स्वभावके नष्ट करनेका नहीं कर सकते। कदाचित दुर्गके चारों बालूका ढेर देकर कोई अज्ञानी उसे दूरसे देखकर बालूका ढ

समझ ले, परन्तु जाननेवाला अच्छी तरह जानता है कि यह बाह्य ऊपर ही ऊपर है भीतर वह दुर्ग अपने स्वरूपमें यथावत् स्थित है। इसी तरह अज्ञानी आत्मा दुर्गकी पहचान न रखता हुआ वर्तन करता है परन्तु ज्ञानी अपने दुर्गको अपने स्वभावसे ही अभेद्य जान उसके लिये किसी प्रकारकी शका न करता हुआ निशक रहता है और स्वाधताके साथ अपने दुर्गमें रह अपनी अनुपम विभूतिका विलास करता है। धन्य है निश्चय धर्मका मनन जो मनन करनेवालेको स्वपद साध्यका साधन होजाता है।

८२–अनुपम स्वरूप।

जो परम पदार्थ आप रूप है वह सदा ही नि शक, निर्द्वन्द्व निरूप, तथा अव्याबाध है। कोई उसे स्फटिकमणि, कोई दर्पण, कोई सूर्यका दृष्टान्त देते हैं परन्तु वह कोई ऐसी अद्भुत वस्तु है कि जिसके लिये इस जगतमें कोई उपमा नहीं है। जो कोई मानव नोकर्म, द्रव्यकर्म, तथा भावकर्मकी गुफाओंके भीतर घुसकर अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टिसे देखता है उसे वह आपही आप अनुभवगोचर होता है। वास्तवमें उस परम पदार्थका वर्णन पूर्णरूपसे नहीं किया जासक्ता। वह सम्यक्त्वरूप है, ज्ञानरूप है, चारित्ररूप है, प्रत्याख्यानरूप है, आनदरूप है, देहमें रहते भी देहसे अत्यन्त भिन्न है, चैतन्य धातुकी अकृत्रिम मूर्ति है, इत्यादि कुछ भी भेद कल्पना उठानेसे यह अनुभव होता है कि यह एक ऐसा पदार्थ है जिसमें परमाणु मात्र भी परद्रव्य, परभाव आदिका सम्बन्ध नहीं है। यह ज्ञाता दृष्टा है, अन्य सर्व ज्ञेय है। यह स्वपरका सहज ज्ञाता है। जो यह है सो मैं हूं। इस ही बातका पुन पुन,

मनन करते रहनेसे जब मनन करनेवालेका विचार पसे हट जाता है तब स्वय ही उसको वह चैतन्य स्वरूप जो आप है सो अनुभवमें आजाता है। जैसे वह वस्तु अनुपम है, वैसे उसका स्वाद भी अनुपम है, उसी तरह जो एक आनन्दका अनुभव होता है वह भी अनुपम है। इस उपमा रहित परम पदार्थका अनुभव अपना परम श्रेय तथा स्वकल्याणका उपाय है।

८३-उत्तम क्षमा।

आज सर्व सवरर विकल्पोंको और उनके कर्त्ता मन, वचन व कायको अपनेसे पर अनुभव कर तथा सर्व कर्म, नोकर्म, भावकर्मकी पद्धतिसे दूरवर्ती होकर ज्यों ही मैं अपने एक टकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा, परमानदमय स्वभावकी महिमा पर दृष्टिपात करता हू और वहा बहुत ही सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करता हू तो उसमें क्रोधका किंचित् अश भी नहीं दिखलाई पड़ता है। हा, एक परम मनोहर उत्तम क्षमा रूपी देवीका दर्शन होता है। इस देवीकी परम सौम्य ज्ञानमय मूर्तिकी कोई उपमा जगतमें देखनेको यदि दृष्टि फैलाई जाती है तो जितने आत्मा इस लोकमें अपना अस्तित्व रखते हैं उन सर्वके भीतर इसी ही रूपके बिल्कुल समान उत्तम क्षमा रूपी देवीका दर्शन प्राप्त होता है। वे सर्व एक जातिमय एकसी ही हैं। इस जातिके सिवाय त्रिलोकमें कोई ऐसी मूर्ति नहीं है जिससे इनकी उपमा दी जाय। यह जगत अपने सर्व आकाशमें हर स्थल पर आत्माओंको विराजमान किये हुए है। इनमेंसे हरएक आत्मा अपने सर्वांशमें इस देवीको व्याप्त कर तिष्ठा हुआ है। जिससे एक अपूर्व दृश्य दिखलाई दे रहा है कि उत्तम क्षमा रूपी देवी भिन्नर

आत्मामें तिष्ठी हुई दर्शकको अनत रूपोंसे अनत, पर जातिकी बिल्कुल सदृशता होनेसे एकरूप त्रिलोक व्यापी नजर आरही है। इस जगत व्यापिनी उत्तम क्षमा देवीकी थोडी देर भी स्वानुभूतिमय परम शान्त व सुखदाई पुण्योंसे यदि कोई भक्ति करता है तो उसको जिस परमामृतका स्वाद आता है उसका वर्णन हो नहीं सक्ता, उस स्वादको जो जाने सो ही जाने, सो ही माने, सो ही अनुभवे। वचनातीतका वचनोंसे कहना एक न होने योग्य साहसका करना है। तथापि सकेत मात्र है। जो कोई स्वय रागद्वेष मोहसे परे रहकर आपमें परिशिलन करे तथा वैसे ही सर्व जगतमें आप सम सर्वको अनुभव करे वही समताके सुखमय समुद्रमें निमग्न हो, सुखी हो, द्वैतभावसे परे हो जावे।

८४–आत्मावलोकन।

नाना प्रकार आधि व्याधियोंसे रहित परम सुखी और ज्ञानी आत्मा जब अपनी निर्मल निश्चय दृष्टिसे देखने लग जाता है तब इस जगतमें एक ज्ञानसमुद्रको भरा पाता है जो निर्मल क्षीरसमुद्रवत गम्भीर उदार और रागद्वेष मोहरूपी विकल्पत्रयोंसे रहित है। उसमें कोई भी सकल्प विकल्परूप ग्राह मच्छादि नहीं हैं। यह विश्व एक चन्द्र बिम्बकी तरह जिसमें झलकता है, उसकी स्वच्छता ऐसी ही है कि ऐसे२ अनन्त विश्व उसमें प्रतिबिम्बित हों तो भी वह विकारी न होता हुआ अविकारी रहता है। इस समुद्रकी एक २ बूद अस्तित्व, वस्तुत्व आदि साधारण तथा ज्ञान, सुख, वीर्य आदि असाधारण धर्मोंको पूर्णतया रखनेवाली है। जो स्वाद इसकी एक बूदके पीनेमें है वही स्वाद इसके एक लोटा पानीके पीनेमें है।

इस समुद्रकी मर्यादा कभी कम व अधिक नहीं होती, न इसका कभी आदि, मध्य व अन्त है। अगुरुलघु गुणद्वारा षट्गुणी हानि वृद्धि होते हुए यद्यपि उत्पाद व्यय सहित है तथापि अपने सर्वस्वको आपमें रखनेके कारण परम ध्रौव्य है। इस समुद्रको देखनेर तब देखनेवाला स्वय डूब जाता है, जब दृष्टा और दृश्य दोनों एक हो जाते है तब अभेद भावमें यथार्थ आनन्द विकास है इसको वही जाने जहां ज्ञान और सहज वैराग्य है।

८५–स्वयं जागृति।

निश्चयसे परम तत्त्वज्ञानी आत्मा अनादि अविद्यासे विरक्त रहा हुआ आप स्वय अपने अनन्त गुणोंके अनुभवमें जागृत होरह है। इसकी यह जागृत अवस्था ऐसी स्वच्छ प्रकाशमय है कि जिसमें जगतके पदार्थोंकी सर्व अवस्थाएं यथार्थ रूपसे झलक रही हैं। और शुभ और अशुभ भाव है वे भी सर्व इसकी चैतन्यमई निर्मल भूमिकामें प्रतिबिंबित होरहे हैं, पर यह ज्ञानी उनसे विकारी नहीं होता। यह जानता है कि मैं शुद्ध चिदानन्दमय सिद्ध भगवानके समान हूं। मेरी और सिद्धोंकी एक जाति है। मेरी यह जागृति ही आश्रव चोरोंको मुझसे दूर रखनेवाली है। तथा यह मेरी जागृति ही मेरेको जो आनन्द प्रदान कर रही है उससे मेरेको ऐसी रुचि होरही है कि मैं इस जागृतिमें ही जमा रहू और अपने परमानन्दमय स्वरूपका अनुभव किया करू। क्योंकि इस आनन्दको छोड़कर तीन लोकके पदार्थोंमें उपयुक्त होनेसे कहीं कोई आनन्द दृष्टिगोचर नहीं होता है। वास्तवमें आपकी जागृति ही एक अपूर्व विश्रांति घर है जो भवमें भ्रमते हुए थकित प्राणीके लिए एक भारी

अवलम्बन है। इसको मोक्ष कहें, शिव महल कहें, सुखरस-कूप कहें, जो कुछ कहें सो ठीक बन सकता है। यही वह आत्माराम है जिसमें आत्मा स्वय विना किसी सहायताके कल्लोल किया करता है। जब इसकी कल्लोल दशा होती है तब वहा कोई सकल्प विकल्प नहीं रहता है। क्या रहता है उसे वही जानता है जो इस दशामे तन्मय हो आप आपका अनुभव करता है। यही अनुभव स्वय जागृतिरूप, आनन्दमई तथा निर्मल प्रतापरूप है।

८६-मैं निरपराधी।

परमात्मतत्ववेदी निजानन्दरसवेदी आत्मप्रभु भले ही इस नो कर्म, द्रव्य कर्म, भाव कर्मसे निर्मित घरमें रह रहा है व अनादि कालसे रहता चला आया है तथापि इसका स्वभाव जैसाका तैसा ही है। यह अपनी स्वभाव सम्पदाका स्वामी होकर स्वाभाविक ज्ञान दर्शन विभूतिका ही विलास करता रहता है। मैं अपने भीतर जब देखता हू तब ऐसे ही आत्मप्रभुके दर्शन पाता हू। वास्तवमें जो मै हू सो आत्मप्रभु है वा मै स्वय आत्मप्रभु हू, ज्ञाता दृष्टा अविनाशी हू। मैंने अनादिकालसे कभी भी परको अपनाया नहीं, न भविष्यमें किसी भी परको अपनाऊगा, न अब कोई परवस्तु मेरी है। इसीसे मै सदाका निरपराधी हू और ऐसा ही सदा रहूगा। यही कारण है जो मुझे बध कभी हुआ नहीं न आगामी बध होगा न अब बध होता है निरपराधीको काहेका बध? जो परको अपना माने व परकृत चेष्टाका जो झलकाव अपने उपयोगमें होता है उसे अपना स्वभाव धर्म जाने सो अपराधी होय तो होय। मैं स्व स्वभावमय हू। ऐसी विपरीत बातका माननेवाला नहीं। इसीसे मैं

अपने ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभव करनेवाला सदा रहता हुआ सिद्ध, कृतकृत्य, ईश्वर, परमात्मा, परमब्रह्म, परम सुखी आदि नामोंके भावोंको रखने योग्य हूं। यही विचार निश्चयधर्मका मनन और सुख शांतिका प्रदाता है।

८७–प्रेमरस।

अनादि कालसे जिससे प्रेम किया उसीने ही ठगा–उसीने ही भव भवमें भ्रमण कराया, नरक निगोद दिखाया, पशुगति व मनुष्ययोनिमें भटकाया, कभी देवगतिको झकाया–उस अप्रेमपात्रको प्रेमपात्र समझकर मैंने जो २ संताप सहा वह अकथनीय है। जैसे रज्जूको सर्प जान कोई भयसे भागा भागा फिरे ऐसे मैं फिरा–वृथा ही क्लेशित हो दुःख सहा। अपना आनन्द अपने पास, अपना प्रभु अपने पास, अपना मित्र अपने पास, खेद है कि उसको न जाना! अतएव उससे प्रेम न किया इसीसे ८४ लक्ष योनिमें टक्करें खाईं। आज शुभ अवसर मिला जो अपनेमें ही अपने साक्षात् चेतन प्रभुको देखा–इसीहीको शरणभूत जाना। यही प्रेम समुद्र है–साक्षात् अमृतरस रूप है। अब मैंने इसीके प्रेमरसको ग्रहण करना स्वीकारा है अथवा यों कहो कि अब यह आत्मा अपने आपको जान गया है कि मैं अनादि अनन्त अविनाशी ज्ञाता दृष्टा हूं। मैं ही सिद्ध निरंजन निर्विकार, अव्याबाध, अचल, निकल और आनंदमय हूं। बस यह आप स्वयं आपमें लीन होकर स्वसंवेदन गम्य जो निज अनुभवरस है उसे पीता हुआ परम तृप्त होरहा है। अब यह त्रिगुप्तिमय परम मौनस्वरूप अनुभूति गुफामें बैठकर केशरीसिंहवत् राज रहा है।

८८-श्रीवीर प्रभु।

वीर प्रभुके गुणानुवाद सुनकर व उनके निर्वाण दिवस दीप-मालिकापर उनकी विशेष भक्ति देखकर मेरे चित्तमें इच्छा हुई कि श्रीवीर प्रभुके साक्षात् दर्शन करूँ, उनसे धर्मामृत पाकर अपनेको तृप्त करूँ। मैं उनकी निर्वाणभूमि श्री पावापुरजीके जलमंदिरमें स्थित चरणपादुकाके निकट गया और वहा अपनी खूब दृष्टि लगाई पर वीर प्रभुके दर्शन न पाए। यकायक मैं शांतिसे बैठकर अपनी दृष्टिको भीतर फेंकने लगा। दृष्टि स्थूल शरीर, सूक्ष्म कार्माण व तैजस शरीर तथा रागद्वेष क्रोधादि भाव, दया, क्षमा, शील, तप आदि शुभ भावको उल्लंघकर ज्योंही देखने लगी त्योंही यकायक परम वीतराग, ज्ञाता दृष्टा, आनन्दमई वीर प्रभुका दर्शन मिल गया। दर्शन करते ही दृष्टि वीर प्रभुके रूपमें ऐसी तन्मय हुई कि वहा ही जम गई, जमनेके साथ ही साक्षात् वीर प्रभु जिनके दर्शनकी खोज थी और देखनेवाला जो यह आप दोनों एक होगए। द्वैतका भाव मिट गया अद्वैतरूप वीरप्रभु साक्षात् प्रगट हो गया। उस समयकी जो दशा उसका जाननेवाला भी वही और अनुभव कर-नेवाला भी वही। घडीभर पीछे मन विकल्प उठाकर चिन्तवन करने लगा कि हा! जो आनन्द वीर प्रभुके दर्शनसे हुआ वह अपूर्व है। आजतक मैने कभी पाया नहीं था, ऐसा वीर प्रभुका उपकार विचार कर वह मन तथा उसका प्रेरा वचन व काय वीर प्रभुकी स्थापनारूप चरणकमल द्वन्द पर अपनी अटल भक्ति करके नमस्कार दरवन व स्तुति आदि करने लगा। वीर प्रभु आप ही है ऐसा जो जानता है वही ज्ञानी है, वही निश्चयधर्मके मननसे जो

आनन्द अनुभव करता है उसका वर्णन होना अशक्य है।

८९–संत समागम.

एक रात्रिको मैं गाढ निद्रामें बेखबर सो रहा था। यकायक निद्रा ढीली हुई और मैं एक स्वप्न देखने लगा। क्या देखता हू कि मैं स्वय अति शुद्ध आकृतिको लिये हुए पद्मासन जमाए हुए बैठा हू तथा मेरे सामने मेरे जैसे शुद्ध आकृतिधारी अनगिनती सत उसी पद्मासन स्थितिमें अतिशय मौन विराजमान हैं। सबका नकशा अपने समान देखकर मैं बहुत आश्चर्यमें पड़ गया कि ऐसा सत समागम तो आजतक कहीं देखनेमें न आया था। इस सत समागममें सब ही सत परम शुद्ध ज्ञानानदी विद्यमान हैं। कहनेको अनेक हैं, परन्तु एक रसके रसाले व एक भावके भरे हुए होनेके कारणसे एक हैं। इन स्वप्नको देखनेर मैंने ज्योंही आख खोली और अपने चारों तरफ देखा तो मुझे हरएक प्राणीमें उसी सतके समान सो स्वज्ञान मूर्तिका दर्शन होने लगा। अपनेमें देखू तो वही, पत्नीमें देखू तो वही, वृक्षमें देखू तो वही, स्त्रीमें देखू तो वही, गायमें देखू तो वही, बन्धमें देखू तो वही, चींटीमें देखू तो वही, सर्पमें देखू तो वही, मक्खीमें देखू तो वही, लटमें देखू तो वही, जल-कायिकमें देखू तो वही, दीपशिखामें देखू तो वही, ठडी पवनमें देखू तो वही, खेतकी गीली मिट्टीमें देखू तो वही, सूर्यमें देखू तो वही, चद्रमें देखू तो वही, नक्षत्रमें देखू तो वही, चडालमें देखू तो वही, भगीमें देखू तो वही, कुलीमें देखू तो वही, बाबूमें देखू तो वही, हाकिममें देखू तो वही, व्यापारीमें देखू तो वही, ब्राह्मणमें देखू तो वही, अधेमें देखू तो वही, बालकमें देखू तो वही, विशेष

क्या कहूं? जिस प्राणीको देखता हूं उस प्राणीमें ज्ञानका धनी अपनी ज्ञानकलासे झलक रहा है ज्ञानका प्रकाश होरहा है वही मेरे समान। इस तरह मैं सब सन्तोंको देखता हुआ जो आनंद अनुभव कर रहा हूं वह विचित्र है। किसीको जगत असार दीखता है, मुझे तो यह जगत परम सार आनन्दमय दिख रहा है। जहां देखो वहीं सन्तलोग अपने स्वसंवेदनमई सतस्वरूपमें कल्लोल कर रहे हैं।

९०-अज्ञान रिपुका विनाश।

आज एक विजयी आत्माने अज्ञान रिपुका संहार कर डाला है। जिसके कारण ज्ञान सूर्यका उदय होगया। वास्तवमें विचार किया जाय तो ज्ञान सूर्य अपनी गुणावलीको लिये सदा प्रकाशमान है ही। अज्ञानी लोग अपने सामने आए हुए अज्ञानतमके कारण उसको न देखकर चिल्लाते हैं कि ज्ञानसूर्यका उदय नहीं है। इतने कोलाहलके सिवाय और न मालूम क्या क्या काम करते हैं। मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं रोगी, मैं शोकी, मैं बलवान, मैं विद्वान आदि कर्मफलोंमें आपा मान कर्मफलचेतना रूप आपको अनुभव करते हैं तथा मैं एक कार्यका करनेवाला हूं, मैं पालनेवाला, सुधारनेवाला, नष्ट करनेवाला, मैं उपकार करनेवाला आदि क्रिया रूपी जो कर्म उसमें अहंकार कर कर्म चेतना रूप आपको अनुभव करते हैं। आप सदा ज्ञानी, आनन्दमई, सत्स्वरूपी, अविकारी, परम स्वच्छ, सिद्ध-सम कृतकृत्य होते हुए भी आपको ऐसा अनुभव नहीं करते हैं। इसमें बाधक अज्ञान शत्रु द्वारा फैलाया हुआ इन्द्रजाल ही है। तत्व विचार या भेद विज्ञान रूपी शस्त्रसे जब अज्ञान शत्रुका संहार होता है तब यह जीव आपको—ज्ञान् चेतना रूप अनुभव करता

हुआ सुखी रहता है । ज्ञान चेतना मेरी, वह मेरा स्वभाव, उससे मैं सदा तन्मय, जो वह सो मैं, जो मैं सो वह, वह व्यापक, मैं व्याप्य, मेरा और ज्ञान चेतनाका तादात्म्य सम्बन्ध है । इसप्रकार विकल्प करते हुए जब जो भव्य इन विकल्पोंके जालसे भी परे होजाते हैं तब आपको आप वैसा देखता, जानता और आचरता है इसका आनन्द वे स्वय ही पा लेते हैं । वास्तवमें वह द्रष्टा, ज्ञाता, परम प्रभु आप आपमें शोभायमान है ।

९१–अज्ञानकी महिमा ।

यह आत्मा इस संसारमें अज्ञानके नशेमें चकना चूर होकर अनादि हीसे आप रूपको भूल इस तरहका बेखबर होरहा है कि यह सर्व जगतकी वस्तुओंको अपनाना चाहता है । इसकी भूल इतनी गहरी है कि जो यह शरीर, धन, स्त्री, पुत्र आदि चेतन अचेतन पदार्थ बिल्कुल पर हैं उनको भी कभी कभी अपना मान कभी हर्षित कभी विषादित होता है । अन्त करणकी व्यवस्थासे बिल्कुल अजान रहकर जैसे रज्जुमें सर्पका भय करके कोई इधर उधर आकुल हो भागे व क्लेशित हो लोटे पोटे, ऐसे यह अज्ञानी जीव राग, द्वेष, मोह आदि विभावोंको अपना ही स्वभाव मानता हुआ महान् दुःखी रहता है । जैसे किसी चतुर पुरुषके कहनेसे व स्वय विचार करनेसे किसी भ्रमिष्ट जीवको यकायक यह निश्चय हो जाता है कि यह सर्प नहीं किन्तु रज्जु है और तब तुरन्त ही उसका सर्व भय, सारी आकुलता नष्ट होजाती है वह बड़ा खुशी होजाता है निश्चिन्त होजाता है । इसी तरह जब उस अज्ञानी जीवको किसी ज्ञानी गुरुके निमित्तसे व स्वय विचार करते२ यह निश्चय

होजाता है कि मैं तो राग, द्वेष, मोह रहित शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावधारी सिद्ध भगवानके समान हू तथा यह राग, द्वेष, मोह, कर्म-जनित अवस्थाए हैं, परके निमित्तसे होनेवाले भाव हैं मेरी ज्ञानकी स्वच्छताकी परिणतिकी ऐसी महिमा है जिसमें ये प्रगट होते हैं, पर यह सब उसी तरह जानेवाले भाव हैं जैसे किसी स्फटिकमणिके निर्मल पाषाणमें एक सूर्यका प्रतिबिम्ब दिखता हो वह प्रतिबिम्ब अवश्य थोडी देरमें जब उस सूर्यका सन्मुखपना न हो मिट जानेवाला है। जैसे अज्ञानकी महिमामें मै दु खी था वैसे अब ज्ञानकी महिमामें मैं सुखी और सतोषी हू। मुझे मेरा स्वभाव साक्षात् अनुभवमें आरहा है। मैंने अपनेको पहचान लिया है। मेरी पहचान होते ही जो मेरा स्वभाव मुझे प्रतिभासा था। अब मैंने अपनेको यथार्थ जानकर व अपना भ्रम मिटाकर जो सुख सपादन किया है वह अकथनीय है। उसको वही जाने जिसका भ्रम मिटे।

९२-सुखबीज.

परम अदभुत शक्तिशाली आत्मा अनादि मोहवश आप स्वरूपको भूला हुआ व जड़ पुद्गलकी परिणतियोंको अपनी मानता हुआ जितनी आकुलताओंके भारको उठा रहा था उनका विचार भी नहीं किया जा सक्ता। एक शृखलाबद्ध भारी कालके प्रपचमें उलझा हुआ दु ख सततिको भोग २ कर जगतमें एक बडा भारी नाटक खेल चुका था परन्तु आज इसको अपनी पहचान होगई है। इसको अनुभव होगया है कि मैं तो जगतका साक्षी, ज्ञाता दृष्टा हू। जिस सुखकी मैं खोज कर रहा था वह सुख कहीं अन्यत्र नहीं किन्तु मेरा ही निज स्वभाव है। मैं गुणी तथा सुख मेर' ग्ण है। इस

आपके स्वरूपकी पहचान ही उस अनत सुखकी उपलब्धिका
है जो इस आत्मामें ही है पर कर्म मेघाडम्बरके निमित्तसे
है । भेद ज्ञानके प्रतापसे आवरण हटेगा और आत्मसूर्य
आर्विभूत होगा । फिर कभी अम्बरका आच्छादन होनेका नह
फिर कभी अनत सुखका अन्यथा परिणमन होनेका नहीं । मे
च्छादित सूर्य भले ही हो पर क्या कोई प्रवीण सूर्यको मैला क
सक्ता है ? कदापि नहीं । उसी तरह कर्म आवरणसे तिरोभूत
भले ही हो पर क्या कोई भेदज्ञानी आत्माको मैला, अज्ञानी
रागी, द्वेषी, मोही, तथा दुःखरूप कह सक्ता है, जान सक्ता है
अनुभव कर सक्ता है ? कदापि नहीं । आत्माका आत्मारूप ज्ञान ही
आत्मविकाश तथा यथार्थ सुखका बीज है ।

९३-अनुभूतिका फल ।

परम शुद्ध ज्ञानानन्दमय व परम विवेकी आत्मा अपनी अनु-
भूतिको स्वरूप ज्ञानके अभ्यासके प्रतापसे शुद्धतामें प्राप्त करता हुआ
एक अद्भुत आनन्दके फलको भोगता है जिसका आजतक कभी
अनुभव नहीं किया था । इस निज अनुभूतिका इतना ही फल नहीं
है किन्तु इससे एक यह और फल होता है कि कर्मोंके सयोग छटने
है । उनमें निर्बलता होजाती है जैसे मत्रके प्रभावसे सर्प व विच्छूका
जहर उतर जाता है । यह अनुभूति वास्तवमें वह आत्मा ही है
जिसका स्वभाव वचनसे अगोचर और मनकी कल्पनासे बाहर है ।
मनके विक्षेप रहित होनेपर आत्मतत्त्व स्वय झलक उठता है । जिसका
मन, वचन, कायमें आत्मापन नहीं रहा है जो आपको ही चैतन्य-
देव मानता है और आपकी ही आप स्वयमेव उपासना करता है

यह व्यक्ति किसी अनिर्वचनीय स्थानमें पहुच जाता है जहा किसी प्रमाण, नय, निक्षेप आदिकी कल्पना नहीं रहती है, जहा न निश्चय नय है न व्यवहार नय है। जहा एक अनुभवीको चैतन्य, चैतन्य-रूप ही एकाकार अनुभवमें आता है। इसी अनुभवको आनन्दका समुद्र कहते हैं जिसमें मग्न होता हुआ यह अनुभवी ऐसी निर्विकल्प दशाको पाता है कि जिसका वर्णन होना बुद्धिके बाहर है।

९४-शांततामें वीरता।

यह जगत एक भ्रमजाल है और आपत्तिका स्थान है उसके लिये जो अज्ञान अन्धकारमें पड़ा हुआ आकुलताके महासकट भोग रहा है, पर जो सम्यग्ज्ञानकी दीप्तिसे चमक रहा है उसके लिये एक महा अनुपम क्रीड़ावन है। ज्ञानी आत्माके हृदय मदिरमें जहा शातता है वहा वीरता भी वास करती है। इन दोनोंका सहचर-पना है, विरोध नहीं है। क्योंकि ये दोनों ही उस आत्माके स्व-भाव है जो कि नित्य टकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा स्वभावधारी आनदमय और अविनाशी है। शातता उस अतीन्द्रिय अमृतमय सुखको अपने भीतर धारण करती हैं जो कि जगतके क्षणिक इद्रिय जनित सुखोंसे विलक्षण है। वही वीरता भी इसी कारण रहती है कि शातताकी सहायतासे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभाव भावोंकी दाल नही गल सक्ती, वे टकर मार मार कर थक जाते है पर आत्मा-प्रभुके स्वभावमें कोई विकार नहीं कर सकते। वास्तवमें विचारा जाय तो शातता ही एक ढाल है जिसमें वीरताकी कड़ाई रहा करती है। मोह शत्रुके प्रेरे हुए असख्यात लोकप्रमाण विभाव भावरूप योद्धा आत्माके पतनके लिये आते हैं। पर इस अनुपम ढाल

सामनेसे मुँह फिरा कर चले जाते हैं। कर्म शत्रुओंका सवर और उनकी निर्जरा तो होती है पर वे अपना अड्डा नहीं जमा सक्ते। इस तरह शातता और वीरताका स्वामी भगवान आत्मा अपने पदमें कल्लोल करता रहता है। वस्तु गुण पर्याय स्वरूप है। भगवान आत्मा भी अनन्त गुणोंका स्वामी है और अपने गुणोंमें नित्य परिणमन करता है। यह अपनी स्वभाव परिणतिका ही कर्ता और उसीका ही भोक्ता है। यह परद्रव्य, परगुण, पर पर्यायका न कभी कर्ता व भोक्ता हुआ है, न है, न कभी होगा। धन्य है इसकी महिमा जिसका पता एक सम्यग्ज्ञानी ही पा सक्ता है।

९५–स्वदेश स्थितिमें स्वतंत्रता।

परम आनदका सागर आत्मप्रभु सर्व विकल्पोंसे रहित होकर और अपना स्वदेश छोड़ परदेशमें आवागमन त्यागकर स्वदेशमें स्थिति रखता हुआ जिस स्वतत्रताका उपभोग कर रहा है उसका वर्णन होना दुर्निवार है। अपना साम्राज्य अपने असख्यात प्रदेशोंमें दृढ़ रखता हुआ अपने अनन्त गुण रूपी प्रजाके ऊपर ऐसे समान वर्तावसे राज्य कर रहा है कि उसने उन सर्व ही गुणोंको अपने हरएक प्रदेशपर सत्ता दे दी है। वे सर्व गुण एक दूसरेसे भिन्न लक्षण रखते हुए भी विना किसी विरोधके हरएक प्रदेशमें एक साथ रह रहे हैं। तौ भी यह उनका स्वामी होकर उन सबको अपने स्वदेशसे जाने नहीं देता है और परस्पर उनके साथ प्रेमभाव रखता हुआ सुख और शातिसे राज्य कर रहा है। यह आत्मद्रव्य स्वतत्रतासे अपने स्वभावकी महिमामें कल्लोल कर रहा है। वैसे ही इसके सर्व गुण भी स्वतत्रतासे रमण कर रहे हैं। वास्तवमें ऐसे एकमेक

होरहे हैं कि एक आत्मप्रभु ही अपने अखण्ड प्रतापको लिये हुए झलक रहा है। जो कोई ज्ञानी इस तरह आपको अनुभव करता है वह सहज हीमें स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा ज्ञान रसको पीता हुआ परम सुखी रहता है।

९६—परमसाधु।

ज्ञानानंद विलासी अविनाशी आत्मा स्व स्वरूपके सम्यक् प्रकाशमें प्रकाशित होता हुआ जिस तरहकी रत्नत्रय निधिके स्वामित्वको वर्त रहा है उस तरहकी प्रभुताके होनेसे ही उसको परमसाधु कहते हैं। जो परमसाधु सो ही मैं। जो ही मैं सो ही परमसाधु। दोनोंकी जाति एक, स्वभाव एक, गुण एक है। इस परमसाधुकी सेवा, वन्दना, स्तुति- स्वात्मानुभव है और परमसाधु द्वारा प्रदानकी हुई आशिष परमामृत रसका आस्वाद है। जो कोई भव्य जीव इस परमसाधुकी शरण ग्रहण करता है वह सर्व आकुलताओंसे छूटकर और पुण्य व पापकर्मकी शरणको त्यागकर एक परम ज्ञानकी शरणका आश्रय करता है। यही आश्रय निष्कर्म भावरूप है अतएव निष्कर्म अवस्थाका कारण है। परमसाधुकी संगति परम शांत और सुखमय है। धन्य है वे प्राणी जो इस संगतिका लाभ उठाते हैं और अपने जन्मको सफल करते हैं। परमसाधुकी संगति ही निश्चयधर्मका मनन है।

९७—निर्भयता।

सम्यग्दृष्टी आत्मा अपनेको अकाट्य, अजर-अमर, अविनाशी, ज्ञानस्वरूप अनुभव करता हुआ एक अपूर्व निर्भयता रखता है जिससे इसको इस लोक, परलोक, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण तथा आ-

कस्मिक भय नहीं सताते क्योंकि इस आत्माका स्वभाव ही इसका लोक तथा यही परलोक है। स्वस्वरूपका वेदन ही वेदना है। आप सदा रक्षारूप है, अपने स्वरूपरूपी किलेमें सदा स्थित है, मरण व व अकस्मात्‌का होना ज्ञान स्वभावमई आत्मामें हो नहीं सक्ता। अनतानन्त कर्म वर्गणाएं इसके ऊपर आओ, वैठो, उदय हो, रग दिखा चली जाओ तौभी उनसे इस आत्म देवका बाल बांका हो नहीं सक्ता। यह सदा ही निजानन्दमई भूमिकामें तिष्ठनेवाला तथा निज अनुभवसे उत्पन्न परम अमृत रसका पान करनेवाला है। अपने क्षेत्रमें स्थित निज विभूतिके सिवाय परद्रव्यके क्षेत्रमें स्थित किसी भी भाव, गुण, द्रव्यसे इसका उपकार व अपकार नहीं होता। इसकी तृप्ति आप अपने ही रसपानसे है। पर वस्तु इसकी तृप्तिमें कुछ भी काम नहीं कर सक्ती। अद्भुत परम स्वाधीनताको रखता हुआ आत्मदेव बिलकुल बेपरवाह है मानो अपने स्वभावकी महिमामें उन्मत्त होरहा है। तीन लोकके पदार्थ इसका कुछ बिगाड नहीं कर सक्ते इसीसे यह परम निर्भय है। मैं इस निर्भयताकी भावना करता हुआ परम सन्तोषी व शांततभोगी होरहा हूं।

९८-परम भाव।

एक ज्ञानी आत्मा परम स्वरूपमें थिरताको पाता हुआ जिस परम भावके अपूर्व आनन्दमय आराममें क्रीडा कर रहा है वह अनेक सुन्दर गुणरूपी वृक्षोंसे सुशोभित है। यद्यपि अनेक वृक्ष हैं पर वे सब उस वनके समान क्षेत्रको घेरनेवाले हैं इसलिये वे सब जगद्व्यापक हैं और सब २ हीमें उन्मग्न हैं। इसीसे यह वन किसीके द्वारा खंडित नहीं किया जा सकता, मर्दन नहीं किया जा

सकता, नष्ट नहीं किया जासकता, किसी भी तरह कम या अधिक नहीं किया जासकता, जो कुछ जिस रूपमें यह वन अपनी सत्ताको अब रख रहा है वह सत्ता पहले भी थी और आगामी भी रहेगी। इसीसे इस आत्मवनको अखण्ड, नित्य, अभेद्य और टंकोत्कीर्ण कहते हैं। एक आश्चर्य और भी है कि इस वनमें इस वनके समान सम्पदाको रखनेवाला एक ज्ञानी पक्षी कभी अभेदरूपसे पूर्ण वनका कभी उसमें व्यापक प्रत्येक वृक्षका स्वाद लेता हुआ जिस आनंदमें उन्मत्त होरहा है वह एक अपूर्व है और वर्णनसे बाहर है। इस स्वाद संवेदनमें कोई प्रकारकी भी हिंसा उस खाद्य वन या वृक्षकी नहीं होरही है प्रत्युत स्वादक और स्वाद्य दोनों ही अपने२ स्वरूपमें अन्तर्मग्न हैं इससे वह वन मानो आप ही अपनी सम्पदाको भोगता हुआ आप ही अत्यन्त प्रफुल्लित है। वैसे ही वह पक्षी भी स्वतंत्र रूपसे अपने धनको आप अनुभव करता हुआ परम आनंदित है। स्वतन्त्रताका उपभोग होना यही निश्चयधर्मका मनन है।

९९–सच्चा गुरु.

अनादि संसारके आतापसे ऊबित प्राणी यकायक अपनी अन्तर्दृष्टि खोल जब अपने असल स्वरूपको देखता है तो वहां जिस आत्माका दर्शन पाता है वही उसके सारे कष्ट मेटनेको सच्चा गुरु है। जिनका अनादिकालसे कभी सम्बंध हुआ नहीं, न अभी है, न भविष्यमें होसक्ता है ऐसे अपनेसे भिन्न किसी प्राणीको व उसके मन, वचन, कायके परिणमनको अपना गुरु मानना कि यह हमारे अज्ञानको मेट देगा हमें सुखासन पर बिठा देगा हमें मोक्ष कर देगा सरासर अज्ञान है, बहिरात्मपना है या व्यवहार नयका

वक्तव्य है। तीनकाल व तीनलोकमें अपनी परिणतिका स्वामी प्रत्येक आत्मा स्वय था, है और रहेगा। इसीसे यह आत्मा स्वय शिष्य या स्वय गुरु है। शुद्ध निश्चय नयसे विचार किया जाय तो यह गुरु शिष्यका व्यवहार निज पदार्थमें नहीं है। निज आत्मा तो टकोत्कीर्ण परम शुद्ध स्वभावका धारी अभेद अपूर्व आनन्दमय एक अद्भुत पदार्थ है। सो ही मैं हू ऐसी अनुभूति सो ही निश्चय धर्मका मनन है। ऐसी अनुभूतिकी दशामें जब आप आप ही तन्मय होजाना है तब जो कुछ अनुभवमें आता है वही वह आत्मा है या मैं हू। उसका स्वरूप वचन अगोचर होनेपर भी अनुभव गोचर है। जो स्वस्वरूप अनुभवी है वे ही अपने आपके सच्चे गुरु हैं।

१००-तीव्र प्रेम।

आज एक ज्ञानी आत्मा सर्व कर्म फन्दोंसे भिन्न रह कर जिस स्वरूपके आनन्दमें तन्मय होता है वह स्वरूप वचन अगोचर, सुखमई, निराबाध, निष्कलक, नित्य, गभीर, आत्मधर्मात्मक, चैतन्य लक्षणसे लक्षित, परम उदार, शात और परम उपादेय है। यह एक अनुपम सूर्य है जिसकी कला प्रताप और प्रकाशके समान ज्ञान और वैराग्यसे परिपूर्ण है। यह सूर्य स्वपर प्रकाशक कहाने पर भी किसीको प्रकाश इस अपेक्षासे रहित है। उसका सहज स्वभाविक, अमिट प्रकाश है। प्रकाशने योग्य जो कुछ हो वह भले ही उसकी छविमें झलको, वह किसी अग्निके दिखानेसे जलना नहीं, किसी मोतियोंके हारके दिखनेसे हसता नहीं। सुदर प्रतापशाली राजाके दर्शनसे सन्तोषित होता नहा, असुदर दरिद्रीके दिखावसे क्लानित होता परम वीतराग होनेपर भी वह ऐसा स्वरूपवान है कि जग-

त्तमें कोई उस समान रूप धारी है नहीं। उसके रूपकी यह महिमा है जो एक भेद विज्ञानी कदाचित् एक दृष्टि भरके उसकी झलक भी पा जाय तो सदाके लिये उस स्वरूपका आशक्त होजावे, ऐसा तीव्र प्रेम बढावे कि उस विना चैन न पावे। भले ही इस तत्त्व ज्ञानीका मन कहींपर भी जाने पर तीव्र प्रेमका बन्धन ऐसा गाढ होजाता है कि उसका मन अवसर पा उधर आता ही है और पुनः पुन आते आते अपने नाशका उपाय करता है तौ भी आता ही है और उस स्वरूपमें बंधे हुए तीव्र प्रेमसे पैदा होनेवाले अमृतमई आनन्दका स्वाद लेता हुआ परम तृप्त होजाता है।

१०१--परम धर्म।

ज्ञाता दृष्टा आत्मा परम धर्म जो अपना शुद्ध ज्ञान चेतनामय अतींद्रिय आनन्दका अनुभव है उससे तन्मयी होता हुआ संसारके विकार और प्रपचजालोंसे उतना ही दूर है जितना पृथ्वीसे मेघाच्छन्न आकाश दूर है। राग, द्वेष, मोह आदि विभाव जहां रञ्च मात्र भी अवकाश नहीं पाते। किसी आत्माकी ज्ञानकी स्वच्छतामें भले ही उनका झलकाव हो और मूर्ख उस झलकावके होनेपर उन राग, द्वेष, मोहोंको आत्माका धर्म समझ ले परन्तु ज्ञानी उनको ज्ञेय मात्र जानता है। उनको मोह कर्मका अनुभाग या रस पहचानता है जैसा कि वास्तवमें है। आत्माका सवस्व वही है जिसके साथ उसका व्याप्य व्यापक सम्बध है। अनन्तगुण तथा स्वभाव जो सदासे आत्मामें व्यापक हैं और सदाही व्यापते रहेंगे उन्हीके अखड पिंडको आत्मा कहते है। इन गुणोंमेंसे कोई भी गुण आत्मासे पृथक् नहीं किया जासक्ता। गुणी धर्मी है उसमें-व्यापक अनन्तगुण

स्वभाव उस धर्मीके धर्म हैं। आत्मा वस्तु अपने गुणोंसे अभेद है। इसीसे उसको नित्य टंकोत्कीर्ण, वचनातीत और अनुभवगम्य कहते हैं। जगतके अनुपकारी रसोंके स्वादसे विलक्षण जो अपूर्व अतींद्रिय अमृत रस है उस रसके रसिक आप आपमें ठहर अन्तर्मुख हो जब स्वानुभूतिकी दृष्टिसे देखते व स्वानुभूतिके मुखसे स्वाद लेते तब निज वस्तुको पाकर जैसा कुछ सुखसंवेदन करते हैं वह वचनातीत तथा निराला है वही उसका परम धर्म है।

१०२— समता मंदिर।

परम सुखका सागर, सर्व गुणसम्पन्न, सकल लोकस्वरूप, ज्ञाता, समदम शमका स्वामी, सज्जनमन आनन्ददायी, सन्त हृदय कमल विकाशी आत्मा एक निकट भव्य अंतरात्माकी अवस्थामें जब वस्तु स्वरूपका विचार करता है तब उसे अजीवोंसे भिन्न जीवोंकी सत्ता जो दीखती है उसमें जो२ अनन्तगुण प्रत्येकमें प्रकाशमान हैं उन सबोंमें ऐसी समानता दीख रही है कि किसी जीवको किसीसे कम या अधिक गुणवाला नहीं कहा जा सक्ता। समान जातीयताके कारण उस अन्तरात्माको सर्व जीव समुदाय एक समताका मंदिर प्रतीत होरहा है। उस समता मंदिरमें ऐसी शांतिका राज्य है कि वहां कहीं भी राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि विभावोंका पता नहीं चलता। साम्यदृष्टि गर्भित न्यायराज्यमें चोर डाकुओंका चिन्ह न रहे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इस समता मंदिरमें विराजना उस लौकिक शांतिसे बिल्कुल विलक्षण है जो उष्ण ऋतुमें किसीको सावन भादोंके वृक्षोंके जालके नीचे मालूम होती है। इस मंदिरका दर्शन, दृष्टाको ऐसे आनंदके अनुभवमें तन्मय करदेता है कि जिसका वर्णन हो नहीं सक्ता।

१०३—सारमार्ग।

परम प्रतापशाली, आनन्द मंदिर, जगतमें स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे स्वअस्तित्वको प्रकाश करनेवाली एक चैतन्य मूर्ति अपने सर्वस्वको छोडकर सर्व परपदार्थोंको दूर झटकाती हुई, वीतरागताकी अनुपम छटाको जमाती हुई अपने विचित्र चरित्रोंसे अपनी महिमा प्रगट करती हुई अपने ही आधारपर आप स्थित है। इस अकम्प मूर्तिकी यह अवस्था वास्तवमें वह सारमार्ग है जिसे सुखका उपाय, निर्वाणमार्ग व रत्नत्रय धर्म कहते हैं। इस चैतन्य मूर्तिके सामान्य स्वरूपका अनुभव करते हुए वही उपाय और उपेय प्रतीतिमें आता है या यों कहिये कि वहा उपाय और उपेय भावकी कल्पना ही नहीं दिखती। अध्यात्मस्थानमें चैतन्यका आसन सोही वीतराग सम्यग्दर्शन, स्वसंवेदन ज्ञान तथा वीतराग चारित्र है। यही स्वसमय है, यही वह बन है जहा ऋषभदेवादि महावीर तीर्थंकरोंने बैठकर आत्मध्यान किया था और निज अनुभूति त्रियाके साथ रमणकर अतीन्द्रिय आनन्दका उपभोग किया था, यही बन वह सारमार्ग है जिसपर चलना निश्चयधर्मका मनन है।

१०४—संतसेवा।

परमानन्दका मन्दिर एक आत्मा साधु अपने ही स्वक्षेत्ररूपी झोपड़ेमें अपनेमें सर्वांग प्रेमरससे व्यापक चेतना, आनन्द, सम्यक्त, चारित्र, आदि गुणरूपी संतोंकी सेवा करता हुआ जिस बृहत् सेवाधर्मका उदाहरण दे रहा है उसका वर्णन किया जाना अत्यन्त दुर्लभ है। संतसेवा शांतिका मूल है क्योंकि जो २ संत होते हैं वे

सब परम सुखी, परम गुणी, परम गभीर, परम वीर्यवान तथा प
आनन्द विस्तारक होते हैं। सतोंका शरीर सत नहीं होता है पर
वह आत्मा प्रभु जो शरीरमें कल्लोल करता है सतपदवीका धार
कहा जाता है। सतसेवा आत्मसेवा है, सतसेवा गुणसेवा है, सत
सेवा शांतिसेवा है, सतसेवा आनदसेवा है। सतसेवाके कर्त्ता ज्ञान
मार्गके सेवी होते हैं। सतसेवामें उस सुखशांतिका सदा निवास रहत
है जो हरएक आत्माकी पूजी है। वास्तवमें देखो तो सेवक व सेव्य
दोनों एक होते हैं। जहा एकताका अनुभव होता है वहीं निश्चय
धर्मका मनन है, जहा वह मनन है वहीं इस नरजीवनकी साफल्यता है।

१०५-शांतिधर्म।

परम प्रतापी ज्ञानवान आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित
हो जब अपने आपमें एक निज आत्माके स्वरूपका दर्शन करत
है तब उसको विदित होता है कि निज शुद्ध बुद्ध परमात्माक
नाम जगत विख्यात है वह सिवाय मेरे अन्य कोई नहीं है। मैं
ही परमपूज्य परमानदी व परम धर्मी हू। अनत धर्म या स्वभाव
मेरेमें सदाकाल व्यापक हैं। मैं उस चित्शक्तिका सदा विलासी हू
जो सर्व ज्ञेयको एक कालमें जाननेको समर्थ है। मेरी निराली
शक्तिकी मेरी महिमा मुझे ही अनुभवगम्य है। मैं अपने असल
स्वरूपको जब १४ जीव समास, १४ मार्गणा व १४ गुणस्थानोंमें
देखता हू तो वहा उसे यथार्थ रूपसे स्पष्ट प्रगट नहीं पाता हू पर
वहीं जब निश्चय दृष्टिका चश्मा लगाकर देखता हू तो हरएक जीव-
समास, मार्गणा, या गुणस्थानमें अपने ही यथार्थ रूपको देखता हू।
मेरे स्वरूपमें सर्वांग शांति धर्म छ या हुआ है। इसी ही से मेरा

स्वरूप वीतराग है, मेरी आत्मा आनदमय है। मेरा भाव शुद्धोप-योग है। मैं अपने शांतिधर्ममें तन्मय होता हुआ उस अनुभव आनदका विलास करता हू जो आनद सिद्धात्माओंके ज्ञानमें सदा स्फुरायमान है।

१०६-आत्मश्रद्धा।

अति दीर्घदृष्टिसे विचार किये जाने पर यह पता चलता है कि एक ज्ञानी आत्मा जब आत्मश्रद्धाके चबूतरे पर खड़ा होजाता है तब उसे साक्षात् आत्मदर्शन होजाता है। आत्मश्रद्धा गुप्त भटारको खोलनेके लिये कुंजी है। कर्म-शत्रुओंको भगानेके लिये एक अमोघ मत्र है। मोह विषके मारनेके लिये एक जड़ीबूटी है। भेदज्ञानके निर्मल जलको लानेके लिये परम श्रोत है। आत्मश्रद्धा आत्माको अनात्मासे भिन्न दिखाकर अपनी ओर खीच लेती है और उसे स्वज्ञान साम्राज्य सम्हालनेके लिये उद्यत कर देती है। निज साम्राज्यमें लोकालोक सर्व गर्भित होजाते हैं तो भी वे उसकी सत्तासे भिन्न ही रहते हैं। निज सत्ता कभी भी अपनी अभाव-ताको न पाती हुई जीवित रहती है और जीवको ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई व निर्विकार अनुभव करा देती है। इस अनुभवका कारण आत्मश्रद्धा है। आत्मश्रद्धा परमात्मपना साक्षात दिखाकर जिस गाढ प्रेमरसमें इस जीवको डुबा देती है उसका वर्णन करना कठिन है। आत्मश्रद्धा चिरकाल जीवित रहे यही साक्षात् अती-न्द्रिय सुख देनेको परम दाताका काम करती है। आत्मश्रद्धा मेरेसे अभिन्न मेरे ही स्वरूपमय है। आप आपको आप सा भावना ही निश्चयधर्मका मनन है।

१०७-चैतन्यसंघ।

आज चिरकालसे जिस बातका इच्छुक था वह अद्भुत समागम आकर प्राप्त हुआ है। अचैतन्य अर्थात् निर्जीव दुःखमई पदार्थोंके संगमें अनादिकालसे व्याकुल था। जड़की संगतिमें पड़ा हुआ गफलतकी नींद सो रहा था। अपार सकर्मोंके दाहमे संतप्त होनेके कारण यह गाढ़ अभिलाषा थी कि कोई उत्तम संग प्राप्त हो जिससे हर समय शांतिका राज्य रहा करे, धन्य है वह आजका समय जो मुझे एक अनुपम चैतन्य संघका समागम प्राप्त होगया है। जितने जीव इस लोकमें हैं उन सबकी चैतन्य भूमिकामें परम निर्मलता, निष्कपटता, तथा निराकुलितपना है वे सब ही यदि शुद्ध दृष्टिसे देखे जाय तो शुद्ध चैतन्य हैं इसीसे उन सबका संघ एक चैतन्य संघ है। उन्हींकी संगतिमें आज मैं एक ऐसे शांत समुद्रमें निमग्न होगया हूं कि मेरा सब भव आताप उपशम होगया है। एक निराली ज्ञान छटा छा रही है। मानो मुझे सिवाय मेरे कोई दिखलाई नहीं दे रहा है। चैतन्य संघके समागमसे हरएक व्यक्ति आनन्द अनुभव करे यही आशीवाद उन महान आत्माओंमे प्रगट होता है जो चैतन्य संघके साथ रह निरन्तर शांति और सुखका अनुभव करते हैं। यह जगत चैतन्यसंघमे व्याप्त है। ज्ञान दृष्टिवाले इस संघका दर्शन उपलब्ध कर परम तृप्त होते हैं। अज्ञानीको स्वप्नमें भी दर्शन नहीं होता।

१०८-परम विजय।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होजाता है तब एक अचिंत्य शक्तिरूपी नंदूकका चलानेवाला होकर सर्व कर्म

शत्रुओंको हटा देता है और उनके स्वामी मोहका पीछा करके उसे ऐसा भगा देता है कि वह कहीं गुप्त रीतिसे छिप जाता है तब वह अपनी विजयपताका आत्मभूमिमें गाड़कर परम तृप्त और सुखी होजाता है। यह आत्माकी परम विजय है। इस विजयके आनंदका अनुभव ही वह सच्चा सुख है जो हरएकके पास है पर अनुभव विना स्वादमें नहीं आरहा है। इस विजयके हर्षमें प्रफुल्लित आत्मा जब चारों तरफ देखता है तब सिवाय आप रूपके और किसीको दर्शन नहीं पाता है। जैसे धतूरेका खानेवाला उन्मत्त होकर चारों तरफ हरा पीला रंग ही देखता है इसी तरह आत्मानुभवी आत्मज्ञानके शांत रसमें उन्मत्त हुआ आत्माके सिवाय और किसीको नहीं देखता है। यही अवस्था परम विजयकी दशा है। जो इस दशाके आशक्त हैं वे इस जगतमें परम सुखी हैं।

१०९--गुणग्राम।

परम सुखदायी ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब अपने भीतर देखता है तो वहां अनंतगुणोंका ऐसा पिंड दिखलाई पड़ता है जो गुण सब एक दूसरेमें व्यापक हैं। इस कारण इस आत्माको गुणग्राम कह सके हैं। यह गुणग्राम आत्म प्रभु अपनी अपूर्व शक्तियोंसे अपने आपमें कल्लोल व परिणमन करता हुआ जिस महिमाको प्रगट कर रहा है उसका वर्णन किसी तरह हो नहीं सक्ता। इसका कारण यह है कि जो अनुभव करनेवाला है उसके कहनेको जबान नहीं है और जो कहनेका विकल्प करता है व कहता है वह अनुभव करनेवाला नहीं है। इसीसे आत्मकथाको शब्दोंसे कहना केवल अपनी एक उन्मत्त चेष्टा है। परन्तु मित्रोंको संकेत रूपसे

करनेकी आदतमें उन्मत्त पुरुष कुछ कहते ही हैं। मैं एक हू, निर्मल हू, शुद्ध हू, ज्ञान दर्शनमई हू, शरीर प्रमाण व्यापक आपमें आप हू, क्रोधादि विकारोंसे रहित हू इत्यादि विकल्प उठाकर जो कोई अपने उपयोगको इंद्रिय और मनके विषयोंसे अलगकर स्व-रूपमें गुप्त या मौन होजाता है वही निश्चय धर्मका मनन करता है।

२१०–गुणीकी महिमा।

इस जगतमें उसीकी महिमा है जो कि गुणी है। गुणी वही है जिसके सर्वागमें उसके स्वाभाविक गुण व्यापक हैं जिनके कारण वह गुणी द्रव्य बहुत ही असली शोभाको नित्य विस्तारता है। आत्मा भी एक गुणी द्रव्य है जिसके सर्वांगमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व जो साधारण गुण हैं तथा चेतना, सुख, सम्यक्त, चारित्र, वीर्य, अमूर्तत्व आदि जो विशेष गुण हैं पूर्णतया व्यापक हैं। इन गुणोंमें स्वभावसे ही स्वप्रकाश झलक रहा है जिससे चेतना गुण सर्व ज्ञेय पदार्थोंको देखता जानता है, सुख अतीन्द्रिय निराकुल आनन्द दे रहा है, सम्यक्त्व स्वस्वरूपमें गाढ़ रुचिकर कर रहा है, चारित्र परम शांति अथवा वीतरागताकी महिमामें स्थिर कर रहा है, वीर्य आत्मबलकी अदभुतता और अनंतताका प्रकाशक है। अमूर्तत्व आत्मा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि २० पुद्गलके गुणोंसे रहित बतलाता है, अस्तित्व आत्माके अखण्ड सत् रूपको, वस्तुत्व आत्माको सामान्य विशेष गुणोंका समुदाय व उसके कार्यकारी वस्तुपनेको, प्रदेशत्व आत्माको साकार अर्थात आकाशके कुछ स्थानको घेरनेवाला निश्चयसे असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश प्रमाण पर व्यवहारसे

स्वशरीरके आकार प्रमाण रखनेको, द्रव्यत्व आत्माको अखड गुणोंका समुदाय होते भी नित्य परिणमनशील है इस भावको, प्रमेयत्व आत्मा किसी न किसीके द्वारा जानने योग्य है इस भावको तथा अगुरुलघुत्व आत्माकी ऐसी मर्यादा रखता है कि उसके सब गुण परिणमन करते २ भी कभी उसमेंसे न छूट जायगे और न नया गुण आके मिल जायगा इस भावको बतलाता है। इस तरह और भी गुण इस आत्मा पदार्थमें हैं। जितने कथनसे हम आत्माकी पहचान लें उनके लिये इतने ही गुणोंका मानना जरूरी है। मेरा गुणी आत्मा अपने गुणोंमें व्यापक एक अखड शुद्ध चैतन्यमई पदार्थ है। इसीको परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, केवली, सिद्ध, योगीश्वर, अविनाशी, परमेष्टी, परज्योति तथा जिन कहते हैं। इस आत्मागुणीकी महिमा अपार है। जो आपको आत्मा जान उसीकी गाढ रुचि व ज्ञानचारित्रमें तल्लीन रहकर उसका आनन्द लेता है वही परम सुखी होता हुआ भविष्यके लिये अनत सुखी होजाता है।

१११-परम ऋषि।

परम प्रतापी आत्मा अपने परम त्याग धर्मको पूर्ण स्वाभाविक वैराग्यके साथ धारण किये हुए अपने ही शुद्ध आत्म प्रदेशोंकी परम गुप्तिमई एकान्त वनीमें बैठकर तथा अपने ही द्वारा अपने शुद्ध चैतन्यभावका अनुभव कर जिस अपूर्व सुख और शांतिकी मुद्रामें विराजमान होरहा है वह मुद्रा इसके लिये परम ऋषिकी उपमाको चरितार्थ कररही है। मैं परम ऋषि हू ऐसी भावना अपने आप होना ऐसी कि जिसमें कोई सकल्प विकल्प न हो स्वानुभव

है अथवा स्वानुभवका कारण है। यद्यपि मैं ऋषि हू पर जो कुछ इस जगतमें सुख शांति व अनत शुद्ध गुणोका भडार है सो सब मेरे पास है इससे मैं परम धनिक भी हू। तथा मैं विना किसी सकोच, भय, पराधीनता, अतराय या अन्तरके अपनी ही अनुभूतिका आनन्दमई रसका सदा भोग किया करता हू। इससे मैं महाभोगी भी हू। मैं परम ऋषि हू, परम धनिक हू या महाभोगी हू व और मै क्या हू, मैं इन विकल्पोंसे भी रहित वचनातीत जो कुछ हू सो हू—इसीसे मैं केवल स्वानुभव गम्य हू।

११२-परमानन्द।

जगतमें यदि कोई सार वस्तु है तो एक मैं हू। मेरे सिवाय अन्य समस्त पर हैं। मैं जब मेरी ही भूमिकामें, मेरे ही द्वारा, अपने ही असख्यात प्रदेशी आसन पर बैठकर अपनी अतरग पाचों इद्रियोंसे अपने आत्माका इसतरह उपभोग करता हू कि अपनी चित्त रूपिणी स्पर्शन शक्तिसे आत्माकी शुद्ध चैतन्य भूमिकाके अति कोमल और सूक्ष्म स्पर्शको स्पर्शताह, अपनी स्वानुभूति रसकी रसिका भेदज्ञानमई जिह्वासे अपने आत्मामें कूट कूट कर भरे हुए अतीन्द्रिय सुखमई अमृतका स्वाद लेता हू। अपनी चैतन्य वासनाकी ग्राहक चिन् परिणति रूप नासिकासे जगतके गधोंसे अतीत अनुपम निर्गंध आत्म वस्तुकी अमिट बासको सूघता हू, अपने अपूर्व बोध नेत्रसे आत्मा और उसके भीतर व्यापक अनत गुणोंको कभी एक साथ कभी पृथकर देखता हू, तथा अपने निर्मल भाव श्रुतज्ञानरूपी कर्णोंसे द्वादशागका सार जो आध्यात्मिक रसीला गान है उसको सुनता हू तब मुझे एक साथ पाचों

इंद्रियोंका उपयोग करनेसे जो परमानन्द होता है उसका वर्णन नहीं हो सकता। चतुर प्राणी पुद्गलमई पाचो इंद्रियोंके विषय भोगोंसे मुह मोड़ आध्यात्मिक इंद्रिय रस भोगमें आसक्त होकर परम तृप्तिका लाभ करता है।

११३-वीरत्व।

परम निरंजन ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व चिंताओंको छोड़-जगतके प्रपच जालोंसे मुह मोड़-मोह शत्रुके विध्वंशके लिये अपनी शक्तिको सम्हालकर उद्यत होगया है। इसका यह वीरत्व इसे सर्व कर्म शत्रुओंसे अस्पृश्य और अजय रखता है। कोई भी भावकर्म व नोकर्म इसकी सत्तामें प्रवेश नहीं कर सकता। जगतमें जो कोई वीर अपनी सर्व शक्तियोंको सम्हाल कर उनके उपयोगके लिये कटिबद्ध होजाता है वह अपने देशमें शूरमापन और साहस ऐसा रखता है कि कोई भी उसके परम पारणामिक भावके विरोधी भाव व कर्म आदि उसके देशमें घुसनेका साहस नहीं कर सके। इस वीरत्वकी सम्हालमें जो अतीन्द्रिय आनन्द होता है उसका वर्णन कोई कर नहीं सक्ता। प्रत्येक सतका धर्म है कि आप अपनेमें यथार्थ वीरत्वको रखता हुआ शंका, कांक्षा, मूढता, अप्रेम, अनुपगूहन, शिथिलता, घृणा तथा अप्रभावना ऐसे आठ दोषपात्र शत्रुओंसे बचता रहे तथा सदा ही निःशंक, निर्भय तथा अपनी अनंत शक्तियोंका स्वाभिमानी रहे। जो वीर जिस गाढ स्वस्वरूपका विलासी होता है वही स्वस्वरूपका कारणरूप और वही कार्यरूप होजाता है। वही वीर कारण कार्यके द्वैतसे रहित होकर स्वरूपाशक्त और स्वाधीन होजाता है यही निश्चयधर्मका मनन है।

ज्ञातताका दृढतर वास राग द्वेषादि विकारोंको रच मात्र भी स्थान नहीं देसक्ता। ज्ञातताकी भूमिकामें ऐसी स्वच्छता है, कि जिसकी निर्मलताईमें ज्ञेयोंके आकार झलक्ते हैं, तौ भी अपना कोई असर नहीं डाल सक्ते। ज्ञातताने अपने साथ उस अतीन्द्रिय आनंदको भी अपनेमें व्याप्त कर पूर्ण मित्रतासे बिठाया है, जिससे परम पुरुषको पूर्ण तृप्ति होरही है, उसके भीतर आकुलता और वलुषताके दर्शन नहीं होते। यद्यपि पर्यायोंके उत्पाद व्ययके कारण समयर परिणमन होता है, इससे सविकल्पता है, परन्तु एक अनुभवी आत्माके अनुभवमें यथार्थ निर्विकल्पता छारही है, ज्ञातताके स्रोतसे आनंदामृतकी धारा बहती है, उसीमें स्नान कर व उसका ठंडा जल पीकर जिसका मन संतोषी है, वही जगतमें निश्चय धर्मका मनन कर्ता और आत्माके मनोहर उपवनमें क्रीड़ा करनेवाला है।

११९ प्रेम धर्म।

इस जगतमें एक व्यक्ति प्रेम धर्मका उपासक बन उपासक और उपासकके भेदसे रहित होकर ऐसी अवस्थामें पहुच जाता है कि जिस दशामें मन, वचन, कायमेंसे किसीका गुजर नहीं होता। वह एक ऐसी दशा है जहासे न तो कुछ रखना है, और न कुछ निकालना है, जहापर आत्मा आप अपनी सत्ताभूमिमें निश्चलतासे खड़ा हुआ अपनी ही परम शक्तिसे अपनी विभूतिका विलास करता है कर्त्तापने और भोक्तापनेसे रहित होजाता है, भले ही अपने अतीन्द्रिय रसको उत्पन्न करे तथा उसीका भोग करे। वास्तवमें प्रेमधर्मने इस व्यक्तिको अपनी अनंत गुण रूपी प्रजाका सच्चा प्रेमी बना दिया है। प्रेमधर्मने इसे जिस आनन्दमें पहुचा दिया है, उसका

अनुभव उसीको है, अन्यको नहीं । प्रेमधर्म निश्चयकी दृष्टिसे जब देखता है, तब सम्पूर्ण विश्वमें एक समान आत्मा दिखलाई पड़ता है। यों कहिये कि यह विश्व ही एक शात समुद्र झलकता है, जहांपर कल्लोल करना वास्तवमें निश्चय धर्मका मनन है।

१२०–स्वसंवित्ति।

परमानन्द धारक सकल द्रव्य शिरोमणि चित् परिणति मनचक आत्मा सर्व सकल्पोंसे रहित होता हुआ स्वसवित्तिके मनोहर लोकाकाश व्यापी राज्यमें कल्लोल करता है और उस राज्यमें समान सत्ताको भोगनेवाले अनन्त गुणरूपी प्रजाको इस योग्य रीतिसे रखता है कि वे सर्व गुण उसी राज्यमें अपनी स्थिति सर्व जगह धरते हुए भी अविरोध रूपसे रहते हुए स्वतंत्रतासे अपने स्वरूपमें मग्न हैं। इसीसे वहा भले प्रकार समता देवी अपना दौरा करती है । और सुख शातिरूपी पुष्पोंकी वर्षा वर्षाती है । इस स्वसवित्तिमें स्थित आत्मा परमोत्कृष्ट गुण जो दर्शन, ज्ञान चारित्र हैं उनके द्वारा ऐसी शोभाको पारहा है कि इस दृश्यमान जगतमें न सूर्य न चन्द्रमा न रत्न न दीपक न चन्दन न अमृत कोई भी पदार्थ समर्थ नहीं है। सत्यताके न्यायसे देखा जाय तो जो कोई इस स्वसवित्ति नायक प्रभुको समझता है वही निश्चय धर्मका मनन कर्ता है।

१२१- अद्भुत रस।

परम शुद्ध निरंजन ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सासारिक रसोंसे अतीत अतींद्रिय आत्मासे उत्पन्न परमानद रसका स्वाद लेरहा है। यह वह रस है जिसकी उपमा जगतमें नहीं है। यह रस

यद्यपि सम्यग्दृष्टियोंके लिये कोई आश्चर्यकारी नहीं है परन्तु सम्यक्को यकायक पानेवालोंको आश्चर्य उपजाता है—उनको यह एक अद्भुत रस ही मालूम देता है। रत्न और काचको एकसा देखनेवाला जब रत्नकी परीक्षा जान जाता है तब उसे रत्नके गुणोंको विचारते हुए कुछ आश्चर्य होता ही है पर पुन पुन अभ्यास करनेवालेको कोई अदभुतता नहीं झलकती। यह अद्भुत रस मेरी सत्तामें कूट कूट कर भरा है। जब उपयोग उसके स्वाद लेनेको सन्मुख होता है उसी समय आत्माको अनुभव होजाता है। मैं सर्व रसोंसे निराले इस अदभुत रसको अपनी ही ज्ञानानदमई भूमिकामें बैठकर तथा अपने यथार्थ स्वरूपका मनन कर स्वाद लेता हू और परम तृप्तता लाभ करत हू।

१२२-महासत्ताका दर्शन.

एक विवेकी मन जब इस दृश्य या अदृश्य जगतमें चेतनात्मक सर्व द्रव्योंकी ओर दृष्टि डालता है और उनके निश्चय स्वरूप पर ध्यान देता है तो उसको अनुपम महासत्ताओंका दर्शन होता है। जब उनको अलग २ देखता है तब उसको यह मालूम होता है कि अस्तित्व गुणकी जैसे एक महासत्ता है तैसे चेतनत्व, वीर्यत्व, सुखपना, सम्यक्त तथा चारित्र आदिकी पृथक् २ महासत्ता विराज रही है। इन महासत्ताओंका भेदरूप दर्शन करते करते जब उन सबके धनी आत्माओंका एकाकार समुदायको एक अद्भुत ज्ञान समुद्र सदृश महासत्ता देखता है तब यकायक उसमें डूब जाता है। फिर उसको अपनी भी खबर नहीं रहती। वास्तवमें मनको तब बेहोशी होजाती है, वह अपने सकल्प विकल्प कार्यसे रहित हो

१२४–षोडशकारण भावना।

निज आनन्दका भोगी आत्मा अपनी श्रद्धाकी विशुद्धिसे स्वसंवेदन रूप विनयके साथ निज शील और व्रतमें निर्दोषता रखता हुआ, निरन्तर ज्ञान स्वभावमें लवलीन होता हुआ, पर पराधीनतासे रहित स्वाधीनता स्वरूप संवेग पर चढा हुआ, आत्मध्यानमई तथा कर्मशोषक तप और पर पदार्थ ममत्व रहित त्यागसे अलंकृत हो स्वशोभा विस्तारता हुआ, अपने ही उपवनमें विराजित परम साधु स्वरूप आत्मारामकी समतामें सहाई होता हुआ निज क्षेत्र मंदिरमें शोभायमान आत्मप्रभुकी और सम्पूर्ण आत्मक्षेत्रमें विराजित आत्माओंकी एक निश्चय तत्त्व विचारमई अनुभवके द्वारा वैय्यावृत्य करता हुआ, परमात्म स्वरूप अरहत, आचार्य, उपाध्याय और भावश्रुतकी अंतरंग गुण महिमामें तल्लीनतारूप निश्चयभक्तिको विस्तारता हुआ, अपने परम स्वाधीन स्वभावको कभी न त्यागकर आवश्यकापरिहाणमें वर्तता हुआ, आत्मानुभव रूप मार्गको प्रकाश करके प्रभावनाको बढाता हुआ, तथा शुद्ध निश्चयसे सर्व जगतवासी परमात्मस्वरूप आत्माओंसे परमप्रीतिरूप वात्सल्यभाव झलकाता हुआ जैसी सोलहकारण भावनाओंकी निश्चय पूजा कर रहा है वह अतीन्द्रिय आनन्द रूप निर्विकार और शांतता विस्तारक है। जगत ऐसी पूजा करके संतुष्ट हो।

१२५–दशलक्षण धर्म।

परम प्रतापी आत्मा अपने आपके स्वभाव पर जब दृष्टि फेंकता है तो वहां यद्यपि अभेद है तौभी भेद भाव करके क्रोध कषायके अभाव रूप उत्तम क्षमा, मान कषायके अभाव रूप उत्तम

मार्दव, माया कषायके अभाव रूप उत्तम आर्जव तथा लोभ कषायके अभाव रूप उत्तम शौचको सर्वांग व्यापक देखता है। तथा वहीं नियमित रूपम बतने वाले सत्य धर्मकी सत्ताको पाता है। अपने स्वरूपसे अच्युति तथा परभ्रमण विरमण रूप संयमकी शोभा, निज अनुभव रूप अग्निकी तप्तायमान ज्वाला रूप तप धर्मकी दीप्ति, अन्य सर्व औपाधिक भावसे विरक्त रूप त्याग धर्मकी अपूर्व छटा, सिवाय निज असंख्यात प्रदेशोंके अन्य सर्व जीवोंके सर्व प्रदेश तथा अन्य सर्व पुद्गलादि द्रव्यका सम्बन्ध रहित आकिंचन्य भावकी गर्मी तथा परम शुद्ध टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव रूप परम ब्रह्म स्वभावमें चरण रूप ब्रह्मचर्यधर्मकी सुन्दरता ये, सब सामग्रिया आत्माकी सर्वांग सत्ताको व्याप कर रहती हुई आत्माका स्वभावरूप धर्म यद्यपि एक प्रकार है तो भी उसे दशलक्षणरूप प्रगट कर रहा है। इस उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप धर्ममई निज आत्माके शुद्ध स्वभावका श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र अर्थात् उसके स्वभावमें तिष्ठकर आनंदित रहना अथवा आपका आपमें परिणमन करना यही निश्चय धर्मका मनन तथा सुख शांतिका भंडार है।

१२६–परम क्षमा।

जब कोई वीर आत्मा सर्व प्रपंच जालोंको त्यागकर अपने आत्माके सच्चिदानन्दमई स्वरूपमें तन्मई होता है तब उसको जो आत्मसंवेदन होकर थिरता होती है वह थिरता उसके सब दोषोंकी अभावरूप तथा परम क्षमारूप है। इस स्वरूपमें द्वेषका नाम नहीं है। यह वह परम शांति और समता है जिसका भोग करनेसे आत्मा फिर किसी अन्य भोगकी कामना नहीं करता है। तथा परम

तृप्ति पाता हुआ स्वस्वरूपमें पूर्णतासे मगन होजाता है। जगतके सर्व जीव आप समान गुणधारी हैं यही विचार रागद्वेषका अभाव करता और सुख, शांति और चेतनाके एकनामई रसमें लीनकर देता है। इस परम क्षमारूप निर्विकल्प दशामें रमता रामको सिवाय आप आपके कुछ सूझता नहीं है। इसीसे वह अद्वैत भावका अनुभव कर रहा है। इसी अनुभवका स्वामी स्वय आप ही ज्ञाता दृष्टा और गुणग्रामी है। इसकी यह अनुभूति स्वय विकाश रूप और प्रफुल्लित कमलिनीवत् सुन्दर है। आत्म चन्द्रमाकी ज्योतिका आनद लेती हुई यह अनुभूति परम सुखी और परम तृप्त रहती है। इसकी सत्तामें पूर्ण क्षमावणीकी महिमा राज कर रही है और वही रत्नत्रयका अनुपम और परम शोभित निवास है। वर्षभरके क्या कोटानुकोट जन्मके अपराधोंका वहा नामों निशान नहीं है। ऐसी परम क्षमाका स्वामी मैं आपको आप ही जानता हुआ निद्वन्द और निस्पृह रहता हू।

१२७–परम शांति और समता।

जो कोई भव्य सर्व दुविधाओंको दूरकर अपनी शुद्ध रंगभूमिमें अपनी वस्तुको निहारता है उसको यकायक परम शान्ति और समताका लाभ होता है। क्योंकि वहा अशांति और रागद्वेषके कारणभूत कर्मका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जिस भूमिमें सुखमत्ता चैतन्य बोधका राज्य हो वहा न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, कषायकी कालिमाका कुछ भी पता वहा नहीं मिलता। वहा दशलक्षण और रत्नत्रय अपना निवास परम सुखसे करते हुए सदा ही अपनी मनोहर शोभा विस्तारते हैं।

द्रव्य जगतमें यद्यपि छ हैं पर उनमें पुद्गलादि पाच जड हैं केवल एक जीव ही चैतन्य है। यद्यपि जीव अनन्तानंत हैं पर उन सबको सामान्य दृष्टिसे जाति अपेक्षा विचारते हुए वे सब एक प्रकार शुद्ध निरंजन निर्विकार आनन्दरूप ही दिखलाई पड़ते हैं। जैसे आप वैसे सब यह विकल्प ही क्षणमात्रमें निर्विकल्पमें ले जाता है, जहा केवल अपने आत्माके सच्चे स्वरूपका अनुभव है वहा जो शांति और समता है उनका वर्णन किसी तरह नहीं हो सक्ता।

१२८-अद्भुत मेवा।

एक भव भ्रमणसे आकुल भूखा, प्यासा व्यक्ति यकायक जब अपने आत्मारूपी बागमें पहुच जाता है तो वहा आनन्दामृतसे पूर्ण परम स्वादिष्ट पदार्थोंसे विलक्षण विज्ञान मात्र एक रसमे रसीले फलोंको भोगता हुआ और उपशम भाव रूप ठण्डे जलको पीता हुआ जो सुख अनुभव कर रहा है उसका हिसाब कोई का नहीं सक्ता। जगतकी मेवाको अनन्तकाल भोगनेपर भी जो तृप्ति नहीं होती वह तृप्ति एकवार भी आत्मा रूपी बागके फलोंके भोगनेमें होजाती है। स्वात्मानुभवके विलाससे प्रफुल्लित होता हुआ आत्मा परम समता सखीसे मित्रता करता हुआ और अपनी निर्मलतासे उसको निर्मल करता हुआ धर्म रस परिपूर्ण गोष्ठीमें तन्मय होरहा है। धन्य हैं वे भव्य जीव जो स्वामृतपूर्ण स्वसंवेदन ज्ञानके मेवोंको भोगते हुए परम सुखी रहते है।

१२९-आत्मसेवा।

इस जगतमें यदि कोई अपनी आतका देखे तो उसको विदित होगा कि अनन्तानंत जीव जो अनेक एकेंद्रियादि शरीरोंमें वास

करते हैं वे सब इसकी जातिके हैं। उन सबमें सामान्य गुण भी एकसे और विशेष गुण भी एकसे। यदि गुणीका ख्याल थोड़ी देरके लिये छोड़ देवें और केवल सर्व गुणीके सर्व गुणोंको जोड़ टालें तोभी जो एक जीवके गुणोंका बल वही सब जीवोंके गुणोंका बल आएगा। वस्तुत प्रत्येक जीवके गुणोंमें ही अपनी अनत शक्तिया परम प्रकाशको लिये हुए व्याप रही हैं। इसमे सर्व प्रपचजाल और गणनासे मुखमोड जो कोई अपने आत्माके गुणरूपी समुद्रमें कल्लोल करेगा और इसमें एकाग्र हो रम जायगा उसको निर्विकल्प अनुभव प्राप्त होजायगा। मानों वह अपने अटल दुर्गमें पहुच जायगा जहा कोई परमाणका प्रवेश नहीं हो सकता व जहा यह आत्मा स्वात्मासे उत्पन्न आनन्दामृतका पान करते हुए परम तृप्तिको पाएगा कि जिसका विचार भी दुर्लभ है। यही सच्ची जातिसेवा है।

१३०—स्वभावरूपकी महिमा।

सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित होकर जो कोई निज ज्ञान धाम अविनाशी आत्म तत्त्वका अनुभव करता है वह एक ऐसी भूमिमें पहुच जाता है जहापर ऐसा अनुपम ठाठ है कि जिसका वर्णन नहीं होसकता। उस भूमिका प्रकाश कोटि चन्द्रमाके प्रकाशसे भी अधिक है। उसका प्रताप कोटि सूर्यके प्रतापसे भी अधिक है। उसके ज्ञान साम्राज्यका अतिशय ऐसा प्रबल है कि जिसके सन्मुख इन्द्र, चक्रवर्ती, धरणेन्द्र आदि किसीका भी राज्य नहीं है। यह राज्य अविनाशी, अटल और शत्रुके आक्रमणसे रहित है। इसकी जो अनत गुणरूप प्रजा है वह भी अखण्ड प्रतापधारी और सदा ही सुखमय स्वभावधारी है। इस भूमिके प्रतापके आगे कर्म बधनके पटल यका-

यक उड़ने लग जाते हैं। किमी अन्यकी शक्ति नहीं है जो इस भूमिमें प्रवेश कर सके, कर्म, नोकर्म, भाव कर्म सर्व ही पुद्गल जड़की खेती है। सो इसमेंसे किसीका भी गुजर इसमें नहीं हो सकता। जैसे मत्रोंके प्रतापसे विष उतर जाता, ज्वर चला जाता उसी तरह इस अनुपम मत्रके प्रभावसे कोई भी शत्रु अपना स्पर्श नहीं कर सक्ता। जो इस भूमिके अनुपम प्रतापमें आराम करते हैं वे ही यथार्थ आत्मानुभवको पाते हुए सुख शांतिका लाभ करते हैं।

१३१-यथार्थ चमन विकास.

परमानद धाम शांति सुधास्थान आत्मा अनादिकालसे पुद्गलके सम्बन्धमें अपने आत्मचमनको मुरझाया हुआ रखकर जो कुछ आनन्द अनुभव उस चमनके विकाशसे होता उसको न पाकर आकुलताके सागरमें डूब रहा था सो आज जब अपनी निश्चय दृष्टिको खोलता है तो इसको आत्मा आत्मरूप और पुद्गल जड़रूप भासता है। इस भाव भासनाके होते ही वह आत्म चमन जो मुरझा रहा था यकायक प्रफुल्लित होजाता है। वास्तवमें यह अनादिकालसे म्लानित था आज ही प्रकाशित हुआ है इसीसे इस विकाशको हम नवीन चमन विकाश कह सक्ते हैं। ज्ञानी आत्मा अब अपनी निश्चय दृष्टिको पसारे हुए एकाग्रतासे इस आत्मबागके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, सम्यक्त आदि गुण रूपी वृक्षोंकी सैर कर रहा है और वृक्षोंकी मनोहर ज्ञानरूपी सुगंधको लेता हुआ उनके अतींद्रिय आनदरूपी अमृत फलोंको भोगता हुआ परम तृप्त होरहा है। इस आत्माकी ऐसी परिणति ही निश्चय धर्मका मनन और साक्षात् सुख शांतिमय है।

१३२--परम तप।

श्री जगतवद्य परम निस्पृह ज्ञाता दृष्टा प्रभुका आप ही आपमें रहना परमसार व उत्तम तप है। यह तप आत्माका निज धर्म है। इस तपमें संसार सम्बन्धी न कोई व्याधि है न आधि है। न इसमें कोई विषाद है न उन्माद है, १२ परीषह व ४ प्रकार उपसर्ग कोई भी इस तपमें स्थान नहीं पा सकते हैं। सर्व कष्टोंसे रहित सदा आनन्दरूप यह तप है। इस तपके तापसीमें सदा स्वच्छ अतीन्द्रिय सुखकी निर्मल धारा बहा करती है। उसी धारामें यह तापसी कभी स्नान करता है, कभी उसीका जल पीता है। यह परम तप सर्व परद्रव्योंके संसर्गसे रहित है। इसमें किसी कर्मके उदयकी छाया भी नहीं पड़ती। न वहा किसी कर्मका बंध है न स्पर्श है। यही तप परमात्माका आसन है। यही तप उसकी मुद्रा है। यही तप उसका शृंगार और यही वीतरागस्वरूप है। यह तप ही स्वानुभव है। यही जगत वंद्य है व यही आत्मस्वरूप है। इस तपके मर्मी ही परम तपी और सच्चे साधु हैं।

१३३--अटल राज्य।

परम निरंजन ज्ञाताद्रष्टा आत्मा अपनी अनुभूति राजधानीका अटल राज्य करता हुआ परम संतोषी तथा आनन्दरूप होरहा है उसे कोई प्रकारकी आधि व्याधि उपाधि नहीं है, न वहा किसी कर्म, नोकर्म, भावकर्म रूपी शत्रुओंका भय है। विषय विकार व कषायोंके चक्कर वहा अपना कुछ भी असर नहीं कर सक्के। इस अटल राज्यमें तिष्ठा आत्मारूपी सम्राट् अपनी अनंतगुणरूपी प्रजाका समभावसे पालन करता है। सबको अपने२ स्वभावमें रमनेकी स्व-

तत्रता है। सब एक क्षेत्रमें रहते हुए भी कोई किसीको बाधक नहीं होते। वहा किसी देव, गुरु व शास्त्रका भी प्रवेश नहीं होता न किसी अन्य आत्माका प्रवेश है। सर्वसे निराला, सर्वसे स्वतत्र रहता हुआ परम निराकुल है। इस अटल राज्यमें जो कुछ व्यापार है सो उसीके भीतर है—सभी गुणरूपी व्यापारी अपनी२ सहायता एक दूसरेको करते हैं। पर इस राज्यसे न कोई व्यापारी बाहर जाता है न कोई बाहरसे वहा आता है। सर्व राज्योंका पतन व परिवतन होता है पर इस राज्यका कभी पतन व ह्रास नहीं होता, न इसमें कोई वृद्धि होती है। इसका द्रव्य, इसका क्षेत्र, इसका काल, इसका भाव सब इसका इसीमें है। ऐसे अटल राज्यका स्वामी नित्यानन्द भोगी रहता हुआ परम तृप्त रहता है।

१३४–मंगल.

ससारके भयानक जगलमें भ्रमते हुए इस जीवने जब अपनी तरफ देखा तो यकायक इसको परम मगल स्वरूप अपने ही स्वरूपका दर्शन हो गया। वास्तवमें देखनेवाला उपयोग है। उपयोगकी गति स्व स्वरूप पर होते ही जिस तत्वका दर्शन होता है वह तत्व जगतमें परम मगलरूप, उत्तम तथा परम शरण है। कारण कि शुद्ध आत्माका अनुभव समस्त मलको धोता और परमशुद्ध ज्ञातभाव और आनदको प्रकाशता है। ज्ञानामृतके समुद्र अविनाशी आत्माके सिवाय जगतमें उत्तम क्या पदार्थ हो सकता है। जिस असख्यात प्रदेशी मन वचन कायके अगोचर अखड आत्मदुर्गमें कोई विषय कषाय चोर प्रवेश नहीं कर सकते इस कारण यह ही परम शरण है। इस मगलमई पदमें कोई विघ्न बाधा नहीं होती

है। इस पदका जो अनुभव करनेवाला वह भी वही है जिसे अनुभव किया जाता है। वास्तवमें यह ध्याता ध्येयका विकल्प भी जिस पदमें नहीं है वही मंगलरूप परम पद है। इस पदके अनुभवी निश्चयसे निश्चयधर्मका मनन करते हुए अकथनीय आनंदको पा परम तृप्त रहते हैं।

१३५–मोहहारक हृश्य।

परम निरंजन ज्ञातादृष्टा अविनाशी आत्मा जो सर्व संकल्प विकल्पोंसे दूर है, मन, वचन, कायके अगोचर है, संसारसागरकी प्रपंचरूप तरंगावलीमे दूरवर्ती है, अनन्तज्ञानादि गुणोंका भंडार है, तथा अपने स्वरूपमें आप निश्चित है सो आप ही अपनेमें अपने लिए अपनेसे अपने स्वरूपको अपने स्वसंवेदनमें लेता है और स्वरूपके अनुभवसे उत्पन्न जो अतींद्रिय सुखामृत उसका पान करता है। इस निश्चयधर्मरूप क्रियामें कोई प्रकारका उद्वेग नहीं है। यह क्रिया निज स्वरूपके विकाशमें विरोधी जो कर्मपटल उसके उडानेको तीव्र पवनके समान है, कर्मकाष्ठके जलानेको अग्नि सदृश है, मोहांधकारके हरणको सूर्यके समान है, संसाररूपी कीचके शोषनको भानु किरणवत् है, मोहनागके विष उतारनेको परम मंत्र है, निज तृप्ति होनेके लिये अटूट और रमणीक नैवेद्यका भंडार है, परद्रव्य, परभाव, परक्षेत्र, परकालके प्रवेश न होने देनेके लिये परम दुर्ग है। इस दुर्गका निवासी अनंतकालके लिये मोह शत्रुके आक्रमणसे बच जाता है तथा अपने स्वात्मबलसे प्राप्त परम सत्वका भोग करता है।

१३६-गुणग्राम.

बहुत भव सकटोंमें भ्रमण करते हुए इस ससारी आत्माको औगुणग्राम बहुत मिले परन्तु गुणग्रामका लाभ नहीं हुआ । यका-यक जब इसकी मोहनिद्रा उठती है यह अपने आपमें गुणग्रामको पाता है । उस मनोहर ग्रामका दर्शन करते ही उसका सर्वस्व उसीमें लवलीन हो जाता है । उसको और सर्व विचार विस्मरण होजाते हैं । आनन्दकी मनोहर छटा बुद्धिपर जम जाती है । इंद्रिय विषयोंके विकारोंका व मनके सकल्प विकल्पोंका वहां कुछ भी पता नहीं चलता है । सहसा साहस आता है और सर्व विरोधी भावोंकी विदाई होती है । चेतन प्रभुको सिवाय अनन्त गुणधारी आत्माके और कोइ दिखता नहीं है । देखनेवाला और देखने योग्य दोनों एक होकर आपमें आप कल्लोल करते हैं । इस कल्लोल मालामें ही रत्नत्रयका वास है । यही मोक्षमार्ग तथा मोक्ष है । यही आनन्द और वीतरागता है । यही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी एकता है । ऐसे गुणग्रामका वासी ही सच्चा महात्मा तथा उदार है ।

१३७-परम सुख.

अकल निर्भय अज अकलकी परम आतमा सर्व भव विकारोंसे शून्य हुआ आप आपमें बैठा हुआ अतींद्रिय आनन्दका उपभोग करता है और एक नि कटक राज्यमें तिष्ठा हुआ अपने अनन्तगुण-रूपी मित्रोंको अपने सर्वांगमें लिपटाए हुए एकीभावसे उन सबसे वर्तन करता है। राग द्वेष मोहके दोषोंसे बिलकुल मुक्त हुआ सम-ताभावका आदर करता है। समताभावकी अनुपम आकर्षण शक्तिके द्वारा जगत भरमेंसे शात निर्मल जल सदृश शात भावको खींचकर

अपनेमें इतनी बहुतायतसे भर लेता है कि अपनेमें शांतताका एक अगाध समुद्र भर जाता है। इस समुद्रका इतना विस्तार है तथा इसकी इतनी गहरी निर्मलता है कि इसके भीतर लोकालोक डुबकी लगाए तो भी इसमें कुछ विकार नहीं होता। ऐसे शांत समुद्रमें सदा ही मग्न रहना एक ज्ञाता दृष्टा प्रभुका परम कार्य है और वही परम सुख है।

१३८. शांतता।

महा मोहानलमें दग्ध होनेवाले प्राणी चिरकाल विषयवासनाओंके दास रहते हुए अपने आपको न पाकर शांतताके मननसे कोसों दूर रहते हैं। परन्तु उन्हींमेंसे कोई भव्य जीव जब अपनी दृष्टि सर्व पर फन्दोंसे फेरकर मैं कौन हूं, मेरा क्या स्वरूप है इस प्रश्नपर विचारता हुआ अपनी ओर देखता है, भीतर घुसकर अपने स्वरूपको झाकता है तो उसे मालूम होजाता है कि मैं तो परम शांतता और आनंदका सागर हूं—मेरेमें न अज्ञान है न मिथ्यात्व है, न कषाय है, न कर्म है न नोकर्म है। न मैं नारकी हूं, न देव हूं, न पशु हूं और न मनुष्य हूं। न मैं बाल हूं, न युवा हूं और न वृद्ध हूं। मैं कैसा हूं इसका कुछ वर्णन नहीं हो सक्ता। मेरी छविकी महिमा देखनेवालेको ही मालूम हो सक्ती है। मैं अपनेको एक अखंड चैतन्य धातुका महा मनोहर पिंड पाता हूं। जो स्वच्छ ज्ञान ज्योति मेरेमें झलक रही है ऐसी ज्योति किसी भी बड़े या छोटे पुद्गलमें नहीं है। मैं अब इसे ही देखकर आनंदित हो रहा हूं। सारी भवबाधा खो रहा हूं। जिस शांतताके विना चिरकाल मिसो [illegible] अन्तरके अनुभव कर रहा हूं।

जो अतीन्द्रिय सुखका लाभ है उसका श्रेय इस शातताको है जो मेरे घरमें निरतर बास कर रही है।

१२९-आत्माविकाश।

एक व्याकरण, न्याय, साहित्य दर्शनादिके ज्ञानसे शून्य पुरुष जब श्रीगुरुके द्वारा अपने आत्माकी भिन्नताका पता पा लेता है कि यह आत्मा शुद्ध स्फटिक रत्नके विकारोंसे रहित चैतन्य धातुकी बनी मूर्ति है जिसमें कषायका लेश मात्र भी नहीं है, न जिसके स्वभावमें कोई जड़ या जड़का कार्य व असर है और अपने उपयोगको सर्व तरफसे रोककर अपने निश्चित श्रद्धानके अनुभवमें जमा देता है तब वहा सिवाय आपके और किसीको भी नहीं देखता है। उसकी एकाग्रता आपमें होजाती है। अपनी सत्तामें ठहरनेसे तथा बारबार अभ्यास करनेसे कषाय अश घटता है और साम्यभाव प्रगट होता है—कर्म मल क्षीण होता है जिसके कारण ज्ञानका विकाश होता है। स्वात्मानुभवका फल ही आत्माका पूर्ण विकाश है जिसका अर्थ है कि आत्मा सर्वज्ञ होजाता है। कोई भी ज्ञेय उसके ज्ञानके विषयमें न आवे ऐसा नहीं रहता। आत्माके स्वादमें यही तो फल है कि आत्मसुख, शांति बढ़े तथा ज्ञानकी निर्मलता होती जाय तथा जिन जिन पदार्थोंको पुस्तकोंसे भी नहीं जान सकने उनको जान जावें। मैं नहीं जानता अब जानूगा यही व्यवहार है। इस समस्त प्रपच जालको छोड़ मैं आप ही जो कुछ हू सो हू-मैं सिद्ध हू, बुद्ध हू, निर्विकार हू, आनदमय हू, अनतगुणरूप हू, नित्यानित्य, एकानेक, भेदाभेद, अस्तित्व नास्तित्वरूप तथा सर्व अजीवों व अन्य जीवोंकी सत्तासे निराला हू यह भी विकल्प व्यवहार है। इस सर्व व्यवहार

अंतरंग वचन तथा बाह्य वचन बकवादको छोड़कर मैं आप आपमें निश्चल मेरुवत् थिर होता हू तब स्वतः ही स्वात्म लक्ष्मीका स्वाद लेता हुआ जिस आनंदको पाता हू उसकी जगहमें कोई उपमा नहीं हो सकती–वही सार है, नियम है, धर्म तथा मानवका कर्त्तव्य है।

१४०–सार पदार्थ।

तीन लोकमें जब किसी सार पदार्थका पता लगाया जाता है तो वह कहीं अन्यत्र नहीं दिखता है। जो इस बातका पता लगाना चाहता है वही एक सार पदार्थ है क्योंकि सुख शांति और पूर्ण ज्ञानका वही भंडार है। उसीमें कोई प्रकारका विकार व परनिमित्तसे होनेवाली पर्याय नहीं है। उसीको पूज्यनीय कहते है। वही गुण-निधि है। जिसका गुण यती, मुनि, ऋषि, अनगार निरंतर जपते हैं। वह ज्ञान सूर्य सर्व तिमिरका विध्वंशक है, उसीकी शांत छायामें-निवासी व्यक्तिका सर्व भव आताप शांत होजाता है। उसके प्रदेशोंमें कोई परवस्तु, परगुण, परपर्याय किसी तरह प्रवेश नहीं कर सकी है तो भी उसमें सर्व ही पदार्थोंकी गुण पर्याय झलकती रहती है–उसके स्वभावमें तल्लीनता होनेसे कोई आपत्ति जगतभरमें ऐसी नहीं है जो स्वभावको चलायमान कर सके। ऐसे निश्चल निर्भय ज्ञानानंदमय अविनाशी चित् पदार्थका दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप अनुभव अनुभवकर्त्ताके सर्व आतापोंको शांतकर उसको सुख समुद्रके शांत रसमें निमग्न करनेवाला है। निश्चय धर्मी आत्मा और निश्चय धर्म उसीका स्वभाव दोनों एकमेक तादात्म्य हैं। दोनोंका भेदभाव रहित एकाकार अनुभव ही परम मंत्र है जो सर्व कर्म पटलोंको विना किसी अस्त्रके छेदन करनेको समर्थ है।

१४१-ज्ञान सार है।

जिस किसी व्यक्तिको सपूर्ण पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होता है उसे कोई आकुलता नहीं होती। उसे ही यथार्थ सुख प्राप्त होता है। हम जब इस ज्ञान गुणकी सत्ताको देखते हैं तो मालूम होता है कि इसकी सत्ता अपार है। तथा इसका आधार वह आत्मा है जो मैं हूं-मेरे वस्तु स्वरूपमें ज्ञान ही अटूट भण्डार है। यह सर्व ज्ञेयोंको जान सक्ता है। इसकी शक्तिकी महिमा ही ऐसी है, जो कुछ ज्ञेय है सो इसकी सत्तामें झल्के। ज्ञान सार इसीलिये है कि यह परमानदकी प्रगटताका बीज है। यथार्थ ज्ञान होते ही पदार्थोंका द्रव्य सब अलगर दीखने लगता है। भ्रमबुद्धि सब चली जाती है। अनेक द्रव्य एक प्रकाशमें परस्पर अन्तर व्यापक होकर इन्द्र धनुषके समान नाना रग दिखाते हैं तौभी ज्ञाता पुरुषको कोई भ्रम नहीं होता, वह हसकी तरह दूधको दूध और पानीको पानी जानता है। वह परम सन्तोषी रहता हुआ आत्माको आत्मा और पुद्गलको पुद्गल जानता है। ज्ञान धनका भण्डारी अपने ज्ञान धनमें सन्तोषी होता हुआ जैसे२ अपने आत्माके सार गुणोंका अनुभव करता है तैसे२ आनन्दामृतका स्वाद लेता हुआ सुखी रहता है।

१४२-आत्मोत्सव.

आज मैं सर्व आपत्तियोंसे दूर होकर निजपदमें बैठता हूं। यही सत्यार्थ रूपसे आनदका घर है, यही सर्व भयोंके प्रवेशसे निर्भय है। यही परमोत्साहका स्थान है। यहीं निजमूर्तिके विला-सका और उसके द्वारा सुखसे वर्तनका बड़ा भारी रग मुझे आता

है। उस घरमें सिवाय आत्मीक गुणोंके उन किसी भी गुणोंका अवकाश नहीं है जो पदार्थको अनात्माके नामसे बोध कराते हैं। उस घरमें सर्व ही निवासी परम सज्जन, परम शांत तथा अपनेर नियमित कार्यमें तत्पर हैं। वहां किसी भी दुष्ट, विकारी, क्लेशपूर्ण तथा आकुलतामय क्रोधादि भावोंका नाम व निशान नहीं है। वहां परम स्वच्छता है। कोई प्रकारकी कर्मकी मलीनता वहां नहीं है। उस स्वच्छ आत्मभूमिमें रहता हुआ मैं किसी भी शत्रुसे कोई प्रकारकी बाधा नहीं पाता हूं। प्रत्युत बिना किसी अंतरके निज स्वाभाविक अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव करता हूं जो जगतके अतृप्तिकारी सुखोंसे दूर तथा परम पवित्र है।

१४३-गुरूपदेश।

एक व्यक्ति इस खोजमें निकलता है कि कहीं गुरुका उपदेश प्राप्त हो तो मैं सत्य मार्गको पाकर अपना हित करूं। उसकी यह रुचि ही वास्तवमें आत्म गुरुका उपदेश है। यही गुरूपदेश किसी बाह्य गुरुका निमित्त मिला देता है और यह व्यक्ति यथार्थपने अपनेको समझ जाता है। जब यह समझ होती है कि मैं तीन लोकका नाथ ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अखण्ड अतीन्द्रिय सुखका भण्डार परमात्मा हूं तब उसकी अनादि कालकी अपनेको तुच्छ माननेकी बुद्धि विदा होजाती है, अनन्त शक्तिमय हूं ऐसी अहंबुद्धि उमड आती है—पहले देहादिक व रागादिक भावोंमें अहंबुद्धि थी सो निकल जाती है। इस चेतन भावकी झलकमें जगत परम शांत, क्षोभ रहित व स्थिर प्रगट होता है। रागद्वेष, मोह व शत्रु मित्रका कहीं पता नहीं [illegible] इस प्रकारके प्रभावमें गेहके

जौंके दाने अलगर नहीं दीखते। मिश्रको ही गेहूं समझ लेता है। परन्तु ज्ञान प्रभातके होते ही दृष्टाको जौं और गेहूं भिन्नर दीखते हैं फिर स्वप्नमें भी जौंको गेहूं व गेहूंको जौं नहीं कह सक्ता इसी तरह सर्व पर द्रव्य रहित केवल आत्माको माननेवाला कभी उसे और रूप नहीं जान सक्ता। यही स्वरूप ज्ञानका अनुभव निश्चय धर्मका मनन और सुख शांतिका बीज है।

१४४-आत्मोद्धार।

परम निरंजन ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्माका आत्म स्वरूपमें तन्मई होना ही परम सुखका बीज है। तन्मयता निर्विकल्प तत्त्व तथा स्वस्वरूपका विकाश है। यही आत्मोद्धार तथा यही आत्मविचार है। यही तत्त्व सर्व जगतको आपके समान बतानेवाला तथा यही समता देवीका निवास है। इसी देवीके उपासक सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित हो आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमें अनंत गुणोंका दर्शन पाते हुए तथा स्वाधीनताका आनंद लेते हुए सतत सर्वसे निस्पृह, उदासीन, वीतराग तथा निर्दोषी रहते हैं। ऐसे महा पुरुषोंके ऊपर अनेक परीषह तथा उपसर्ग पड़ते हैं तौ भी ये सब उनको पुष्प सदृश मालूम होते हैं। वे सब पुद्गलकी तरफ खति याए जाते हैं। आपकी तरफ एक आत्माका ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रहता है। इसीका सदा अपरूप रहना ही आत्मानन्द विलास है।

१४५-आत्ममग्नता।

आज एक चिरकालसे दुखित पथिक यकायक एक अपूर्व आनन्द धाम जो आत्माका स्वभाव है उसमें पहुंच जाता है। इस

धामकी महिमा निराली है। इसकी छटा अद्भुत परम गुणवाली है। यदि कोई ज्ञान सपदाका एक स्थान हो तो वही है। यदि कोई आनन्दका एक स्थान हो तो वही है। जगत भरमें किसी भी अन्य स्थानमें ज्ञान, शाति और आनन्दका दर्शन नहीं होसक्ता सिवाय इस परम धामके इस धामकी यात्रा करना आत्माका सच्चा हित है। इसका पूजन करना परम श्रेय है। जो कोई व्यक्ति अपना सर्वस्व अन्य स्थानोंसे हटाकर इस जगह रख देता है अर्थात् इस स्थानको ही अपना नित्य निवास स्थान बना लेता है, वह आत्मलीनताकी दशामें पहुचकर सर्व क्लेश आपदाओंसे बच जाता है, तथा नित्य आनन्दके मनोहर अनुपम क्षेत्रमें रहता हुआ परम सुखी, सन्तोषी और वीतराग होजाता है। इस आत्मलीनताकी महिमा निराली है। धन्य है वह उपयोग जिसने योग्यताको प्राप्त कर अपना ठिकाना यहा बनाया है। उसी उपयोगने अनन्त शात स्वभावी गुण रूपी प्रजाके अविरोध सहवासको पाकर अपना सच्चा कल्याण किया है। वही निश्चय धर्मका मनन करता हुआ अनुभवके आनदका सदा विलास करता है।

१४६-गूढ़ता।

हम देखतेर इस विश्वकी गुप्तता और गूढ़ताका जब पता चलाते है तो हम एक ऐसे स्थानपर पहुच जाते हैं जहापर हमें ये कोई नगर, महल, बरतन, कपड़े, चद्र, सूर्य, पर्वत, समुद्र, मनुष्य, पशु आदि दिखाई नहीं देते। किन्तु हमें छ द्रव्य ही नजर आते हैं। उनमेंसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाशमें ज्ञान नहीं दिखता। एक जीव द्रव्य ही [illegible] होता है। [illegible]

अपने ज्ञानरहित पाचोंसे दृष्टि फेरकर ज्ञानमई अनन्तानन्त जीव द्रव्योंको देखने हैं तो हम अपनेमें और उनमें कोई अन्तर नहीं पाने हैं। सत्ता सर्व जीवोंकी भिन्न२ होते हुए भी जातीयता व विशेष गुणोंकी अपेक्षा देखते हुए सब एक रूप दिखते हैं। शत्रु मित्र, माता पुत्र, इष्ट अनिष्ट, स्वामी सेवक आदि ऊच नीचपनेकी कल्पनाए विलय हो जाती है। क्योंकि सब जीवोंके विशेष गुण परम शात, परमानद तथा परम ज्ञानमई हैं इसलिये सबके गुणोंका समुदाय एक आश्चर्यकारी शात आनन्दमई समुद्र बन जाता है। हम अब सर्व कल्पनाओंके जालोंको काटकर इसी समुद्रका ही स्नान करने हैं इस हीका जल पाते हैं, इस हीमें कल्लोल करने हैं इस हीमें तैरने व इस हीमें कभी आसन जमाने खड़े होते, गमन करते, ठहरने, घूमने व अवगाहन करते हैं और परमानदका भोगकर परम तृप्त रहते हैं।

१४७–सदानन्दी।

एक निश्चितमय पर्वतकी गुफामें परम शांत ऋषि सदानन्दी नामके विराजमान हैं। इनका आकार यद्यपि पुरुषके समान है परन्तु इनके कोई भी सूक्ष्म या स्थूल शरीर पाचों ही प्रकारमेंसे नहीं है। अटूट मौन धारे हुए, गंभीरता विस्तारते हुए निश्चलताकी सीमाको पहुचे हुए परम ज्ञानी ध्यानी समाधिलीनसे मानों होरहे हैं। किसी भी स्थानपर रञ्च मात्र भी किसी क्रोध, मान, माया, लोभका छींटा नहीं दीखता। इनकी शात मुद्राको देखकर कोई कभी नित्य, कोई अनित्य, कोई एक, कोई अनेक, कोई अस्तिरूप, कोई नास्तिरूप, कोई भेदरूप, कोई अभेदरूप कहते हैं पर हमें तो एक चित्पिंडके

सिवाय और कुछ नजर नहीं आता। उसमें अचितका जरा भी अंश नहीं है। इस मूर्तिमें कितना वीतरागत्व, कितना आनंद इसका कोई पता नहीं चलता। वास्तवमें यह मुद्रा शुद्ध आत्मीक गुणोंकी अथाह समुद्र है। जो इसमें स्नान करता, गोते लगाता, मगन होता वह मानो अपनी सत्ताको ही खो बैठता है। उसका सर्वस्व इस समुद्रके निर्मल आनंदानुभवरूपी जलमें घुल जाता है। ऐसे सदानन्दी ऋषिका दर्शन, पूजन, मनन, ध्यान और अनुभव जो करे सो भी सदानन्दी ही होजावे। अपनी अनादि जगभ्रमणकी आदतको मिटावे। स्वस्वरूपमें थिरताको पावे-जैसा है वैसा रह जावे-परसे मुक्त हो आप आपको ही अपनी प्रभुताईमें रमावे।

१४८-परम धाम।

एक व्यक्ति भववनमें भटकता हुआ किसी ऐसे धामकी आवश्यकता समझता है कि जहां, कोई बाधा व कोई विकार न हो, जहां यह निरंतर अपने आत्मीय आनंदका विलास करे, आपहीमें कल्लोल करे, आपहीकी क्रियाको करे और आपके ही स्वादको अनुभवमें लेवे। जहां कोई शत्रु किसी प्रकारका कभी आक्रमण न कर सके ऐसे धामको गंभीर विचारके साथ जब देखता है तब अपना ही क्षेत्र पाता है जो असंख्यात प्रदेशमय है। इस परम धाममें किसी भी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभावका सम्बन्ध नहीं है। न इसका कभी ह्रास है न पतन है न इसे कोई भेद छेद सक्ता न अन्यथा कर सक्ता। यह जन्म जरा मरणादि व्याधियोंसे बिलकुल पृथक् है। इस स्वक्षेत्रमें ही अपनी अपूर्व संपदाका अटूट निवास है जिसका भोग करते हुए भी कभी किसी प्रकार यह कम

नहीं होती है । इस स्वक्षेत्रके परमधाममें एक मननकर्ताका उपयोग जब बड़ी धैर्य व शांतिसे बैठ जाता है तब परम विश्रांति इस उपयोगको प्राप्त होती है ऐसा कि मानो वह उसीमें घुल जाता है, डूब जाता है, तन्मय हो जाता है । उपयोग और परम धाम इस द्वैतको बरवसको दूर कर देता है। यही परम धाम सदा ही निवास करने योग्य परम निर्भय दुर्ग है। इसीका निवासी अनंत सुखी और स्वगुण विलासी रहता है ।

१४९-सुखानुभव ।

इस संसार असारमें कुछ भी सार न पाता हुआ एक व्यक्ति समस्त पर पदार्थोंकी वासनासे तृप्त न हो उदास होकर एक वृक्षके नीचे इस विचारमें उठ जाता है कि मैं क्या करूं, किस तरह मनमें भव आतापको शांत करूं ? इतने हीमें आत्मगुरु उसे समझाते हैं कि तू किस मूढ़तामें फसा है । जिस सुखशांतिको तू चाहता है वह तेरे ही पास है, तेरी ही विभूति है, तेरे ही घरमें गड़ी है । यदि तू सावधान होकर खोजे तो तुझे अवश्य ही मिल जावे । भेद विज्ञान रूपी कुल्हाड़ी काममें लाकर इस सम्पत्तिका स्वामी बनना चाहिये इतनी बातको सुनते ही उसका भ्रम दूर होता है और ज्यों ही वह आपको सर्वपर द्रव्योंसे भिन्न ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई अमूर्तिक परमात्माके समान सिद्ध, शुद्ध, निरंजन, निःकषाय, निर्द्वन्द, निर्भय अभेद्य और शांत अनुभव करता है, अनादि कालकी भव आतापकी बाधा शांत होजाती है और परमस्वाधीन सुखानुभवका लाभ होता है–फिर तो उसे एक प्रकारका नशा चढ़ जाता है–वह इस नशेमें चूर होकर सिवाय आपके और किसीको नहीं देखता है, उसे उ

स्वानुभवके नशेमें आत्मरसके सिवाय अन्य रसका वेदन नहीं होता। धन्य हैं वे प्राणी जो इस रसको पीकर शान्ति लाभ करते और अपने जीवनको सुखिया बनाते हैं।

१५०-शांति सागर।

जगजालके सतप्त स्थानमें निवासी एक दुःखित व्यक्तिको यकायक भ्रमरूपी आडी चादरके हटाते ही परम शुद्ध ज्ञानामृतमे परिपूर्ण एक शांतसागर ज्योंही नजर आया उसकी सारी आकुलताएं मिट गईं और ऐसे परम निराकुल सुखका लाभ हुआ कि जिसकी उपमा इस जगतमें नहीं मिल सक्ती है। तथा जब वह इस समुद्रमें स्नान करने लगा उसका पाप मैल मिटने लगा और जब उसके स्वच्छ जलको पीने लगा उसकी अनादिकालकी तृषा मिटी और परम तृप्तिका लाभ हुआ। इस जलको पीते यह व्यक्ति ऐसा उन्मत्त हुआ कि मानों अपने आपेमें नहीं रहा। अब तो उसका यह भाव भी मिट गया कि मैं देखनेवाला और यह शांतसागर देखने योग्य-मैं स्नान करनेवाला और यह समुद्र स्नान योग्य-मैं पीनेवाला और यह ज्ञानामृत पेय है। यह अपनेको क्या मानता है, क्या नहीं मानता है, इसे कोई नहीं कह सक्ता। यह तो बिलकुल अपने स्वरूपानुभवके मदमें चूर है। इस दशामें उसको क्या मजा आता है इसको वही जाने जो स्वरूपमस्त है वह कहता नहीं। जो कहता है वह स्वरूप मस्त नहीं।

१५१-विचित्रताका दृश्य।

जगत एक नाटकशाला है। पुद्गल और जीवोंने अपने२ विचित्र स्वांग बना रक्खे हैं जो एक बड़ी भारी मनोहरता दिखला

रहे हैं। अपने कार्यसे खाली जो व्यक्ति हैं वे इन विचित्र दृश्योंमें किसीमें राग व किसीमें द्वेष करते हैं। उनके मोहजालमें फसकर उनहीके वशमें हो उनहीकी रिझानेवाली क्रिया किया करते हैं, परन्तु जो अपने कार्यमें लीन हैं वे इन विचित्र दृश्योंको देखते हुए भी जैसे चक्षु अग्निको देखकर जलती नहीं, अमृतको देखकर सतोषित नहीं होती ऐसे उनमें कुछ भी रागद्वेष नहीं करते हैं तथा अपने कार्यके सिवाय परके कार्य उनकी शक्ति व सयोगोंपर अवलबित हैं ऐसा जानते हुए वे अन्योंपर ध्यान नहीं देते। इसीसे अपने ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि अटूट भडारके स्वामी बने हुए सदा ही आनदित रहते हैं। मैं ही ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, भगवान, केवली, जिन, बुद्ध, विष्णु, शकर, ब्रह्मा, खुदा, ईश, सत्यदेव तथा सदासुखी हू ऐसी भावना करते करते अपने आत्मसमुद्रमें ऐसे मगन हो जाते हैं कि उन्हें तब फिर उस अनुभव दशामें कुछ फिकर नहीं रहती।

१५२–ज्ञानमें सिद्धि।

सुख शातिसे परिपूर्ण आत्मा असत्य व्यवहारोंसे रहित तथा सर्व ही सत्य परिणामोंसे परिपूर्ण है। उसमें जब जो कोई उसके वास्तविक स्वभावको देखता है उसे अवश्य पता लग जाता है कि वह तो स्फटिककी मूर्तिके समान शुद्ध निर्विकार मेरे शरीर प्रमाण औदारिक, तैजस, कार्माण तीन शरीररूपी गुफाओंके भीतर तिष्ठा हुआ भाव कर्मादि विकारोंसे रहित परम सौम्य, ज्ञाता दृष्टा, पर कर्तृत्व भोक्तृत्वसे शून्य, परम निर्भय, अखड, अविनाशी, अमूर्तिक, ज्ञान चेतनामई साक्षात् मेरे ही देहरूपी मंदिरमें प्रगट है। ऐसा

जो ज्ञान जिसमें न संशय है न भ्रम है न अव्यवसान है तथा जो स्वरूप श्रद्धासे संपन्न है और जिस ज्ञानमें ज्ञानोपयोगकी सन्मुखता है वही ज्ञान भेद विज्ञानसे उत्पन्न सम्यग्ज्ञान है। यही ज्ञान ज्ञान है। इसीको कभी केवल ज्ञान कभी स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं। कहनेवाले अपने कथनकी अपेक्षाको आप समझें। जहा स्वरूप ज्ञान है वहा ही ज्ञान सिद्धि है। वहीं निश्चय धर्म है। ऐसे धर्मको मनन करनेवाला मन मनन करते करते आप स्वय मर जाता है।

१५३-प्रेम पात्रता।

एक जगतका प्राणी अपने बहिरंग और अतरंग प्राणोंके भीतर जब देखता है तो ऐसे व्यक्तिको देख पाता है कि जिसकी सुन्दरताके सामने तीन लोकमें कोई पदार्थ नहीं है। उसमें एक यह बड़ी खूबी है कि वह तो सबको देखता है पर उसे कोई भी पदार्थ जो उसके समान नहीं हो देख नहीं सक्ता वह—परमशांतिका समुद्र है—उसमें विरागता कूट कूटकर भरी है। जहा भी देखो वहा वीतरागता है। इस जगमें उसके समान जो कोई है उसमें तो यह वीतरागता मिल सक्ती है पर उसकी जातिको छोडकर विजातीय पदार्थोंमें यह वीतरागता रश्च मात्र भी नहीं मिलती। उसीमें सच्चा आनन्द है जो परम तृप्तिकारी तथा परम उत्तम है। जगतमें उसके समान किसीमें यह आनन्द भले ही मिले पर जो उस समान नहीं है उसमें इसका कहीं पता नहीं है। यदि कोई सर्व चिंताके जालोंसे बचना चाहे तो उसको निराकुल तथा सार और मगलमई उस अपने घटमें बिराजित परम पदार्थका दर्शन जिस तरह बने करना

उस चैतन्य धातुमई द्रव्यसे है जो अस्तित्वादि सामान्य गुणोंका तथा सम्यक्त, चैतन्य, चारित्र, आनद, वीर्य आदि विशेष गुणोंका एक सर्वांग व्यापक समुदाय असख्यात प्रदेशी लोकाकाश प्रमाण तथा अमूर्तिक होकर भी गृहीत शरीर प्रमाण आकार धारी है। मेरा कोई सम्बन्ध मोहादि भावकर्मोंसे, मोहनीयादि द्रव्यकर्मोंसे व शरीरादि नोकर्मोंसे नहीं है। मै आप आपी अपने स्वद्रव्य स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभावमें वतनेवाला हू। मैं अपनी परिणति अपने आपमें रखता हुआ अपने ही निश्चयधर्मका विलास करता हुआ परम तृप्त तथा सुखमई हू।

१५७-गुरुका दर्शन।

मोह मदिराके नशेमें चकचूर एक व्यक्ति यकायक जागता है तो क्या देखता है कि एक गुरु उनके पास खड़े हैं। इस गुरुकी कृपासे यह आत्मा तुर्त प्रतिबुद्ध होता है और अपने गुणोंका पक्का निश्चय कर लेता है कि मैं शुद्ध बुद्ध ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परम ब्रह्म स्वरूप हू। मैं ऐसा ही हू, और रूप नहीं हू यही विश्वास सम्यग्दर्शन है। मैं ऐसा ही हू और रूप नहीं हू यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। मैं ऐसे ही अपने स्वरूपमें रमता हू परमें नहीं, यही प्रवृत्ति सम्यग्चारित्र है। इन तीन रत्नस्वरूप आत्माका विलास और उस विलाससे उत्पन्न आनदका भोग जो कुछ होता है उस सबका कारण मात्र एक गुरु हैं। परन्तु वह गुरु कोई अन्य नहीं है। आप ही आत्मा अपना गुरु है। गुरु भी यही है तथा शिष्य भी यही है। आत्माकी अपनी ओर सन्मुखताका कराना ही गुरुपनेका कार्य है तथा अपनी परिणतिका आत्माकी सन्मुखतामें आने देना ही

शिष्यपना है। जो सर्व प्रपचजालसे रहित होकर अपने आत्माका दर्शन करता है वही अपने परम अभीष्ट गुरुका दर्शन करता है। इस गुरुका दर्शन करते२ एक भाव यकायक ऐसा आता है जब गुरु तथा शिष्यकी कल्पना ही नहीं रहती है। इसी अवस्थामें आत्माका साक्षात अनुभव है व आत्मानद है।

१५८-सम्यक् तत्व।

सात तत्वोंके महा गहन लोकाकाश प्रमाण जालके भीतर एक मनसे देखते हुए सूक्ष्मदृष्टि यकायक एक सम्यक्तत्वको उस जालके भीतर देख लेती है कि जिस तत्वमें न जड़ता है न मूर्तिकपन है न प्रमाद है न कषाय है न योग है न मिथ्यात्व है न अविरति है न कोई गुणस्थान है न मार्गणास्थान है न उदय, बध व सत्ताके अचेतन स्थान है, न वहा श्रावकाचार है न मुनि चारित्र है, न वहा वहा उपदेश है न विचार है, न ध्यान है न धारणा है, न यम है न नियम है, न कोई आसन है न कोई विकार है, न कोई नय है न प्रमाण है, न कोई सकल्प है न विकल्प है—वह सम्यक्त्व परमज्ञान स्वरूप है, परम समता रूप है, परम शात स्वरूप है, परम निर्ग्रथ रूप है, परम योगस्वरूप है, परमानदरूप है, परम रत्नत्रय स्वरूप है, परम प्रकाश रूप है, परमातम रूप है, परमेश्वर रूप है, परम गुणसागर रूप है, परम वचनातीत है और परम अनुभव गोचर हैं। उस सम्यग्तत्वको ही ग्रहण कर उसीमें रमनेवाला सर्व बाधाओंसे छूट कर परम सुखासनपर आरूढ़ होजाता है और जिस आनन्दका लाभ करता है उसका कथन कोई कर नहीं सक्ता। जो जाने सो जाने, जो माने सो माने जो श्रद्धे सो श्रद्धे, जो रमें सो रमें।

१५९-समरस।

परम प्रतापी आत्मा सर्व सासारिक रसोंके व्यापारसे भिन्न हो एक समरसके अनुभवमें इसी लिये लीन है कि वहा साक्षात् आनद और शातिका निवास है। कोई प्रकारका सकल्प विकल्प व चिंता जाल वहा नहीं है। कोई प्रकार मल व कालिमा वहा नहीं है। वह समरस परम स्वच्छ है। उसमें लोकालोकके सर्व पदार्थ अपने सच्चे रूपको यथावत् झलकाते है। अनेक प्रकार भेषोंमें छिपे हुए जीव पुद्गल भी वहा अपनी निज मूरतको गुप्त नहीं रख सक्ते। जगतके मूढ़ लोग भेषोंमेंसे मनोज्ञमें राग और अमनोज्ञमें द्वेप करते हैं। ज्ञानी जब भेषोंमें छिपे हुए द्रव्योंको अलग२ जान लेता है तब कोई न मनोज्ञ भासता है न अमनोज्ञ। अनात्मा अनात्मारूप और आत्मा आत्मारूप, सब सदृश अपनी जातीयताको रखते हुए प्रगट होते है। इस समरसकी ऐसी ही महिमा है कि इसमें वीत रागताका ही झलकाव रहता है। समरसका स्वाद परम निराकुल तथा सतोषप्रद है। इसीमें आत्माके अनुभवकी कला जगती है। यही सार अविकार और परम गुणाधार है। जो समरस स्वादी है वे ही परम वैरागी और परम ज्ञानी तथा परम आनदी है।

१६०-अमर रस।

परम शुद्ध स्वरूप धारी ज्ञानी आत्माका स्वाद जिस व्यक्तिको आता है वह उस अमर रसका पान करता है जिसका वर्णन किसी शब्द, वाक्य या रचनासे हो नहीं सक्ता। वास्तवमें देखा जावे तो शब्दोंमें असली भावोंको बतानेकी शक्ति नहीं है। असली भाव पदार्थमें रहते हैं उनका ठीक२ समझना भी किसी ज्ञानीके ज्ञानका

ही कार्य है। शब्द मात्र एक संकेत करते हैं। जहां संकल्पविकल्प रूपी मन भी पहुंच नहीं सक्ता वहां वचनकी गम्य कहांसे होसक्ती है। ज्ञाताका ज्ञान ही ज्ञाताके गुणोंको जान सक्ता और अनुभव कर सक्ता है। ज्ञान जानता है यह कहना भी असत्य ही है जो वस्तु अपने स्वभावमें रहनेवाली है उसे यह कहना कि यह ऐसा वैसा करती है केवल कल्पना मात्र है। कल्पनासे अतीत पदार्थका पूर्ण मौन सहित रहना अनुभवकर्ताको एक अपूर्व आनंद करता है जिसको भोगते हुए वह भोक्ता न विचारता, न बोलता, न कुछ शारीरिक क्रिया करता है। उसकी महिमा वही जाने, उसके रसको वही पहचाने, यही अनुभवमें आनेवाला अमर रस सदाके लिये अजरामर शुद्ध भाव व पदमें रखनेवाला है।

१६१-सत्य पथ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित हो जब अपने स्वरूपको विचारता है तब वहीं अपने सच्चे आदर्शको स्वयं पालेता है। अपने स्वरूप विकाशका जो कोई सत्य पथ है वह आप ही है दूसरा नहीं। ऐसा दृढ़ भाव होते ही उसका सारा भ्रम निकल जाता है और वह सुखशांतिको अपनेमें ही पाकर परम संतोषित होजाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र ऐसा तीन प्रकार मोक्षमार्ग व्यवहार दृष्टिसे कहा जाता है पर निश्चयसे इन तीन स्वभाव रूप यह आत्मा ही है। यही सत्य पथ साक्षात् मोक्षका सरल मार्ग है। भेदज्ञान द्वारा विचारते ही सर्वसे भिन्न आप अलग दिखलाई देता है। सच पूछा जाय तो यह आत्माराम स्वयं त्रिकाल अबाधित अमिट अपने असल स्वरूपको लिये [illegible]

कथा न ीं होसक्ती । यह स्वय मोक्ष स्वरूप है। इसका अनुभव जिनको है वे ही आत्मज्ञानी, सुखी तथा वीतरागी हैं । उनकी ज्ञान कला उन्हें परमामृत पिलाती है जिससे परम तृप्तिका लाभ होता है । इस ज्ञान कलाको सत्य पथ कहो चाहे सत्य घर कहो जो कहो सो ठीक है । जो इस मार्गपर चलते हैं वे ही निश्चय धर्मके मननकर्ता हैं ।

१६२–परम तप।

एक तपस्वी नीन दाकी गुफाके भीतर बैठा हुआ किसी प्रकारकी इच्छा न रखता हुआ, बडी ही शाति और वीतरागतासे तप कर रहा है उसके तपमें उसीकी निज सामग्री है । किसी भी प्रकारकी परकी सामग्रीका वहा कोई सम्बन्ध न ी है । उस तपस्वीक अनेक शिष्य जो अपने गुरुके अनन्य भक्त ह सदा साथ रहते हैं जैसे–उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, सम्यग्दर्शन सम्यग्चारित्र आदि । इसका तप कभी समाप्त होनेवाला नहीं । इस तपका कभी विच्छेद नहीं । इस तपसे तपसीको किसी प्रकारकी क्षुधात्रसा नहीं सताती है क्योंकि उसको आत्मानुभव जन्य परम अमृतका स्वाद निरतर मिलता है । इस तपस्वीके तपमें कोई भी विकल्प नहीं है । पूर्ण निर्विकल्पता, पूर्ण शातता तथा पूर्ण समताका वहा झलकाव है । अपने आप ही अपनेमें तिष्ठा हुआ स्वसवित्तिकी अग्निमें [illegible] ता हुआ जिस आनन्दका भोग कर रहा है [illegible] हो [illegible] ऐसा आत्मतप [illegible] जाने

१६३-साम्यभाव.

परम योगीश्वर परम निरंजन परम शांत परम ज्ञानी आत्मा
सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य अपने समान जब देखने लगता है तो
उसे तीन लोकमें व्याप्त सभी जीव अपने समान दिखलाई पड़ते हैं
उनका स्वभाव और इसका स्वभाव बिलकुल एक है। न को
किसीका शत्रु न कोई किसीका मित्र दीखता है। न कहीं द्वेष झ
लकता है। रागद्वेष रूप होकर परिणमना ही असाम्यता है। ज
सब समान हैं तब वहां वीतरागता अवश्य है। इस तरह साम्य
भावकी सामग्री एकत्र कर ज्यों ही इस आत्माको अपने आप
स्थिरता होती है त्यों ही इसको परम अद्वैतभावकी प्राप्ति होती है
जिस भावमें सिवाय एक रसके और रस नहीं मालूम होता-पर
अध्यात्मरसका परम निर्मल जल जहां बहता है-उस परम शा
धारामें उपयोगका स्नान कराना व उसके निर्मल जलको पीना इ
समान और उसे कोई कार्य नहीं दीखता है। इसी दशामें स्वानु
भाव है व इसे ही निश्चयधर्मका मनन कहते हैं।

१६४-शिव मार्ग.

परम सुखदाई ज्ञानानंदी निजात्माका दर्शन ही शिवमार्ग है
यह शिवमार्ग जिसमें है उसीमें शिवका निवास है। शिवमार्ग प
सरल वक्रता रहित है। ज्ञानी आत्म सीधकर एक दफे उसपर आरू
होनेहीसे उस चल सक्ता है। और विना किसी रोकटोकके पहुं
सक्ता है। इस मार्गमें संकल्प विकल्परूप कांटे नहीं हैं न इ
प्रमाण और नयके विश्रांति स्थान है न नामादि निक्षेपरूप उ
चढावके कहीं ठिकाने हैं। विकल्प रहित अभेद रत्नत्रयकी ज्योति

परम प्रकाशमान यह मार्ग परम शांत व परम सुखदाई है। कहींपर भी क्रोध, मान, माया लोभके मलीन पानीका दर्शन नहीं है। जहां देखो वहां अमृतमई स्वानुभवरूपी जल भरा मिलता है। मोक्षमार्गी पथिक इस जलसे ही स्नान करता व इस ही जलको पीता है। इस जलके सामने विषयभोगका जल बिलकुल खारा भासता है। जो इस भेदको प जानता है वही निश्चय धर्मका मननकर्ता साधु है।

१६५-रस पान।

अद्भुत आनन्दका विलासी परम योगीश्वर ज्ञानमई आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित हो जब स्वस्वरूप वेदनकी तरफ सन्मुख होता है तब अपनेमें ही एक ऐसे मिष्ट जलके भरे हुए अथाह समुद्रको पाता है कि जिसके सदृश तीन जगतमें कोई भी समुद्र नहीं है–उसके निर्मल जलके रसका पान करता हुआ यह सुखसम्पूर्ण आत्मा सर्व बाधाओंके विकल्प व नामसे भी शून्य हो रहा है। उसकी महिमा उसीमें ही प्राप्त है। ससारमें दुग्धादि षट्रस जिस रसको पा नहीं सक्ते–ये छहों रस तृष्णा वर्धक तथा आकुलताके साधक हैं किंतु यह आत्मीक रस तृप्तिकारी तथा निराकुलताका भंडार है। यह रस स्वाधीन है जब कि छ रस पराधीन हैं। वह क्षयोपशमिक ज्ञान जो इन छ रसोंको ग्रहण करता है क्रमवर्ती तथा परोक्ष होनेसे आत्माका स्वभाव नहीं है। निजात्मीक रसका अनुभव इंद्रिय तथा मनके अगोचर स्वस्वरूपके ही गम्य है। स्वरस पान जैसा सिद्ध करते हैं व जैसा अरहंत, आचार्य, उपाध्याय व साधु करते हैं व जैसा एक सम्यक्ती करता है वैसा करता हूं और अपने ज्ञानानन्दमें सतोषी होता हूं।

है इस तरह स्वभावसे ही उत्तम त्याग धर्म मेरेमें बहुत ही आद-रभावसे शोभायमान होरहा है। इस जगतमें अन्य कोई परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। जो कुछ मेरा है सो मेरे पास है वह मुझसे न छूटता है न मेरेमें कोई दूसरा आता है ऐसा मेरा स्वभाव ही उत्तम आकिंचन धर्ममय है सो परम प्रकाशको लिये हुए झलक रहा है। मै स्वय ब्रह्मस्वरूप हू–मेरी चर्य्या अर्थात् परिणमन सदा अपने आपमें ही है। मैं अपने परिणमनसे कभी भी रहित नही होता हू। अपना शील स्वभाव स्वय ही यथावत् बन रहा है। इस तरह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्ममें मै पूर्णतया झलकता हुआ परमानदमें मगन हू। इस तरह मैं स्वय दशलक्षण धर्ममय हू। ये दशों धर्म मेरे सर्वांगमें व्यापक हैं! मैं स्वय परमेश्वर हू। मैं ही स्वय परमे-श्वरका परम अखड अविनाशी आसन हू। मैं इसी आसनपर बैठकर सदा अपने आत्मीक रसका पान करता हुआ परम तृप्त रहता हूं।

१७१–क्षमावाणीमें उत्तम क्षमा।

आज इस आत्माके लिये रत्नत्रय भक्तिकी पूर्णताका दिन है। आज यह साक्षात् रत्नत्रय स्वरूप प्रकाशमान है। आज इसकी अवगाहनामें कषायोका अशमात्र भी नहीं झलकता है। इसीलिये परम उत्तम क्षमाका यहा पूर्ण राज्य होरहा है। भले ही दूसरे इस पर क्षमा करें या न करें इसे कोई मतलब नहीं है। परन्तु इसकी ओरसे तो सर्व प्राणियोंपर परम क्षमा है। यह शातिके सुखदाई समुद्रमें डूब रहा है। इसके प्रदेशोंमें कोई अपराध नहीं है जिसके लिये इसे प्रायश्चित्त व दड लेने व पश्चात्ताप करने या क्षमा माग-नेकी जरूरत होवे। अपने शुद्ध ज्ञानानदमई स्वभावकी आराधनासे

बाहर होना अपराध कहलाता है। परम प्रभु आत्मा सदा ही अपने स्वभावमें निश्चल है। इसीलिये इसे परमात्मा, परब्रह्म, परमानन्दी, शुद्ध, परम साम्य, परमाह्लादी, परम गुरु तथा परम सार और परमाराध्य कहते हैं-स्वानुभूतिमें तन्मयी प्रभुके लिये न कोई अपराध है न कोई क्षमा है। ऐसे परमसार रत्नत्रय स्वरूप भगवान आत्माका अनुभव ही निश्चय धर्मका मनन है।

१७२-परम शांति.

जगतसे जिसका ममत्व नहीं तथा जो निज अनुपम स्वभावका धारी है उस परम पुरुष आत्मारामका निज भूमिकामें कल्लोल करना परम शांति तथा सुखका निवास है-उसमें किसी प्रकारकी कोई कालिमा व कलुषता नहीं है। उस आत्माकी सत्तामें परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्यका सम्बन्ध नहीं है। वह आप आपी अपनेमें एक तरहके अतींद्रिय आनंद अमृतको उत्पन्न करता है और उसे आप ही पीता है-और आप ही परम सन्तोषको प्राप्त करता है। उसमें कोई दुविधा नही है न ससारकी सतप्तता है। वहा परम शातिका ही राज्य है। उपयोग रूपी पथिक भव-वासके भ्रमणसे थका हुआ और आकुलताके जालमें फँसा हुआ यकायक जब उस परम शातिके समुद्र आत्मसरोवरमें गोता लगाता है, सारी आकुलताको मिटा पाता है तथा स्वय परम शात हो जाता है। ससारकी ठड़ीसे ठड़ी चीज भी उस शातिका मुकाबला नहीं कर सकी। जय हो इस परम शातिकी जिसमें सिद्ध सदा निमग्न रहते हैं और हरएक आत्मा भी निमग्न है। इस आत्माको परम शात अनुभव करना ही निश्चय धर्मका मनन है।

१७३-परम वीर।

जो कोई आत्मा अपने स्वरूप संवेदनमें उत्साहवान है और स्वरूप प्राप्तिके लिये परम श्रद्धावान है वह जब कषायोंकी रंगतमें नहीं रंगता तथा कर्म-बंधनोंको काटनेकी दृढ भावना करता है उसे ही वीर कहना चाहिये। ऐसा ही वीर सम्यग्दृष्टी जीव अपने स्वरूपको ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे जुदा परमवीर श्र[illegible] ज्ञा[illegible] [illegible] है। जिस श्रद्धान ज्ञान चारित्रके बलसे यह परम आनदका लाभ करता हुआ परिणमन किया करता है। उस परिणमनमें संपूर्ण आत्मशक्तियोंका विकाश होता है। इस परम धारावाही ज्ञानके प्रतापसे एक ऐसी ढाल ज्ञानीके हाथमें होजाती है कि जिस ढालके सामने कर्मोंके कोई आक्रमण असर नहीं करते हैं। वे कर्म स्वयं ही इस वीरके स्वसंवेदन ज्ञान रूपी मंत्रके प्रभावसे शिथिल पड़ते पड़ते गिरने, पडने तथा भागने लगते हैं। इस वीरके वीर्यका विकाश और अधिक होता है तब कर्मोंके चिन्ह नहीं मिलते और यह साक्षात् परम वीर बनमें तिष्ठा हुआ स्वस्वरूपमें कल्लोल करता है।

१७४-प्रकाश।

भव विपिनमें भ्रमण कर्ता एक व्यक्ति ज्यों ही अपनी सत्ताकी सम्हाल करता है त्यों ही अपने भीतर एक ऐसे प्रकाशका उजाला पाता है जिसमें मिथ्यात्वका अंधकार ढूंढे भी नहीं मिलता है। उस प्रकाशके सहारे यह छ द्रव्यमयी जगत अपना अलग २ स्वरूप जैसाका तैसा दिखा देता है। पहले जो अंधकारमें पदार्थ यथार्थ नहीं भासते थे वे सब ज्योंके त्यों ठीक२ साफ२ मालूम

बाहर होना अपराध कहलाता है। परम प्रभु आत्मा सदा ही अपने स्वभावमें निश्चल है। इसीलिये इसे परमात्मा, परब्रह्म, परमानन्दी, शुद्ध, परम साम्य, परमाह्लादी, परम गुरु तथा परम सार और परमाराध्य कहते हैं–स्वानुभूतिमें तन्मयी प्रभुके लिये न कोई अपराध है न कोई क्षमा है। ऐसे परमसार रत्नत्रय स्वरूप भगवान आत्माका अनुभव ही निश्चय धर्मका मनन है।

१७२–परम शांति।

मैं ही उपादान, मैं ही उपादेय अन्य नहीं कोई, जो निज [illegible]-नाओंमे जो बाहर होगया है वही व्यक्ति निश्चयधर्मका मनन करके परम सुखका लाभ कर सक्ता है।

१७५–परमार्थ।

परमात्म स्वरूपधारी ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व सङ्कल्प विकल्पोंसे दूर रह अपने परमार्थ स्वभावमें तन्मय है। जगतमें जितने पदार्थ हैं वे सब अपने स्वराज्यकी सत्तासे बाहर हैं। मेरा आत्मा भी इसी माफिक अपनी अमूल्य गुणावलीमें तिष्ठा हुआ है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं होसक्ता जो मेरे इस स्वभावको विपरीत कर सके। अनादिकालसे कर्मोंका सम्बन्ध रहा परन्तु कर्मवर्गणा मेरे इस स्वभावको कुछ बिगाड़ न सकी। मैं सदाका ही परमात्मा हूं, भूत, भविष्य, वर्तमान तीन कालके कर्मबन्धनोंसे निराला हूं। मेरी महिमा वही जाने जो वस्तुके सत् स्वभावको पहचाने। वास्तवमें मैं अपनी महिमाको आप ही जानता हूं। अपने स्वरूपसे उत्पन्न आनन्दरूपी अमृतका परम मिष्ट स्वाद लेनेके लिये मैं सर्व झगड़ोंसे अलग होकर अपनी ही महिमामें रमता हूं–अपने ही मनोहर शुद्ध

१७३-परम वीर।

जो कोई आत्मा अपने स्वरूप संवेदनमें उत्साहवान है और स्वरूप प्राप्तिके लिये परम श्रद्धावान है वह जब कषायोंकी रंगतमें नहीं रंगता तथा कर्म-बंधनोंको काटनेकी दृढ भावना करता है उसे ही वीर कहना चाहिये। ऐसा ही वीर सम्यग्दृष्टी जीव अपने स्वरूपको ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे जुदा परमवीर श्रद्धता, जानता तथा अनुभवता है। अभेदरूप अनुभव करनेसे उस आत्मारूपी उपवनकी परम शोभाके अनुभवमें परमानन्दित हो मगन होजाता है। जब यह व्यक्ति इस आनन्दमई शोभामें तन्मयमान होता है तब इसका उपयोग अन्य अनात्मीय पदार्थोंसे बिल्कुल छूटा हुआ है। इसके उपयोग सिवाय आत्मरसके और किसी रसका वेदन नहीं होता। यही रसास्वाद अभेदानुभव और परम उपादेय है।

१६७-परमरस।

परम अध्यात्मयोगी एक चैतन्य प्रभु सर्व संकल्प विकल्पोंको छोड़कर और षटरसोंके स्वादसे उन्मुख होकर जब निजात्मीक अतीन्द्रिय आनन्द रसके स्वादमें तल्लीन हो जाता है तब एक विलक्षण भेदकला जग जाती है—जिस कलासे यह अपने स्वानुभव गढ़में अनन्तकालके लिये विश्रांति पा लेता है। उस गढ़में न रागादि भाव कर्म, न ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म न शरीरादि नो कर्मोंका प्रवेश होता है। उस गढ़में परम निर्मल आत्मीक गुणोंकी सेना है जिसका सेनापति यह आप स्वयं होरहा है। यह सेनापति

अपने गुणरूप सिपाहियोंकी आप स्वय कवायद कराता है। वे सर्व परम समता व शात भावमें विना किसी विरोधके निवास करते हैं। आत्मीक रससे पूर्ण कलशकी तरह भरा हुआ यह आत्मा अपने ही स्वभावमें तृप्त होता हुआ परम कृतार्थ और सुखिया बना रहता है। यह मन वचनके विकल्पसे भी शून्य है। यहीं परम रसका निरतर बहाव है।

१६८—पापहरणी गंगा।

एक पापी आत्मा अपना पाप धोनेके लिये सर्वजलमयी गगा ओंको त्याग कर क्योंकि वे सब शरीरके ऊपरी मलको ही धोनेवाली होती हैं, अपनी ही निर्मल आत्मानदामृत जलसे परिपूर्ण आत्म-गगामें प्रवेश करता है। अपने निजस्वरूपमें प्रवेश करते ही ज्योंही द्रव्यार्थिक नयसे आत्माका मनन करके कि यह स्वय परमात्मा, परब्रह्म, ज्ञाता दृष्टा, अविनाशी, अमूर्तिक, क्रोधादि विकार रहित, अखड, गुणपर्यय स्वरूप तथा परम निर्मल है उस आत्मगगाके अनु-भवमें गोता लगाता है त्योंही बहुतसा कर्ममल छूट जाता है। ऐसा गोता वारवार लगाना पापमलको अधिकतासे धोना और साथ ही परम साम्य, शात और अदभुत आनदका स्वाद पाना है। इस पाप-हरणी गगाका उदय जिस हिमाचलसे होता है वह स्वय गगामय है—नाममें भेद है—वस्तुत एक है। जो भव्य जीव नित्यप्रति ऐसी गगामें स्नान करते, इसीका ही पौष्टिक स्वरस पान करते, व इसीके भीतर रात्रिदिन निवास कर इसीकी ज्ञान वैराग्यमइ तरगोंका आनद लूटते वे ही एक दिन स्वय निर्मल स्फटिकवत् झलककर परमपवित्र और सिद्ध भावके सुखदाई आराममें पहुच जाते हैं।

१६९--चिद्विलास।

परम आनन्द रसधारी गुणभंडारी, सर्व विषयवासनाके विला-सके रहित जब अपने आपके स्वरूपमें तन्मयताका भाव करता है तब यकायक चिद्विलासमें पहुंच जाता है। जहांपर चैतन्य गुण अपनी पूर्ण शक्तिको लिये प्रकाशमान हैं वहांपर स्वगुणकी निर्मलता भी अद्भुत है जहांपर किसी भी तरहका रागद्वेष नजर नहीं आता है, किन्तु वीतरागताका जहां पूर्ण सचार है ऐसी परम शांततामई आन-दामृत जलसे पूर्ण ज्ञान समुद्रमें स्नान सर्व बाधाओंका निवारक व सुख विस्तारक है। इस चिद्विलासके रसमें वे ही हंस कल्लोल करते हैं जिनको स्व और परका भेदविज्ञान होगया है। जिनकी दृष्टिमें अपने आपका स्वरूप भलेप्रकार जैसाका तैसा गड़ गया है। तथा स्वस्वरूपका ध्यान ऐसा होगया है कि उसके सामने सिवाय अपने आत्माके सच्चे स्वरूपके और कोई नजर ही नहीं आता।

१७०--परमेश्वरका आसन।

हम जब सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करते हैं कि परमेश्वर कौन, कहां व उसका आसन कैसा है तो पता चलता है कि मैं ही परमेश्वर हूं, मैं मेरे शरीरमें हूं, मेरे आत्माके असंख्याते प्रदेशोंका आसन ही मेरा या परमेश्वरका आसन है। इस परमेश्वरमें निरंतर परम ऐश्वर्यका ही विलास है। इसके सर्वांगमें मिथ्यात्वकी कालि-मासे शून्य सम्यग्दर्शन है, मिथ्याज्ञान व अज्ञानके मैलसे रहित सम्यग्ज्ञान है, तथा मिथ्याचारित्र व चारित्रमोहनीसे रहित सम्य-क्चारित्र है। ये परमात्मा इन अति मनोहर तीन गुणोंसे शोभाय-

मान है इसी तरह इस अपने परमेश्वरमें दशलाक्षणी धर्मका निवास है–ये भी दशलक्षण इसके सर्वांगमें व्यापक है, क्रोध कषायका अभाव होनेसे उत्तम क्षमा सपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें अपनी परम शातता लिये विराज रही है। मान कषायके नामोनिशान न होनेसे उत्तम मार्दव रूप स्वाभाविक कोमलता विना किसी विकारके कल्लोल कर रही है। माया कषायकी वक्रता न होनेसे उत्तम आर्जव रूप स्वाभाविक सरलता ज.। जैसा वस्तुओंका स्वरूप है वैसा ही झल कता है प्रगट हो रही है। लोभ कषायकी रगतका पता न चलनेसे वहा उत्तम शौच धर्म अपनी परम पवित्रता, परम तृप्तता, अपनी परम कृतकृत्यनाको दर्शाकर जगमगा रहा है। असत्यका भाव बिल कुल न होनेसे उस प्रभुमें जसे ऊपर कहे चार गुण व्यापक है वैसे उत्तम सत्यता भी व्यापक है जिससे कोई असत्यता व अवास्तवि-कपना, अयथार्थपना वहा नजर नहीं आता। सत्रूपी अनतगुण अपनी सत् पर्यायोंको दिखलाते हुए कल्लोल कर रहे है। मनवच-नकाय व कषायका जहा कुछ भी सम्बन्ध न होनेसे उत्तम सयम धर्म अपनी गाढ़ अभेद्य अछेद्य परिणतिमें इस तरह विलास कर रहा है कि अपनी सर्वांग आधारभूत आत्मभूमिमें किसी भी कर्म नोकर्मको आने नहीं देता है। मोहका सर्वथा अभाव होनेसे इच्छा जहा किसी तरहकी भी नहीं है ऐसे आत्मामें अपने आत्माके अपने ही आत्माके निश्चय रत्नत्रयमई आत्मानुभव रूपी अग्निमें तपना-रूप उत्तम तप परम शोभाको विस्तार कर दमक रहा है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभावकी अपेक्षासे मेरा जो कुछ है सो मुझमें है, मेरेमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावका लेशमात्र भी नहीं

१८१--अकाम भाव।

परमयोगी परम स्वतन्त्र परम साधु परमानदमई आत्मा सर्व प्रपच जालोमे रहित हुआ तथा सर्व इच्छाओंसे बाहर ठहरा हुआ एक आश्चर्यकारी अकाम भावमें लौलीन है। इच्छाकी सत्ताके अभावको अकाम भाव कहते है। इस भावकी सत्तामें परम आध्यात्मिक भाव है। इसीमें वह अनुभव दशा है जहा सिवाय आप स्वभावके और किसीका स्वाद नहीं आता है। जहा सिवाय निर्मलताके मलका कोई काम नहीं है, जहा सिवाय शातिके कोई अशाति नहीं है। अकामभाव परमात्माका और मेरा निज स्वाभाविक भाव है। जो कोई परवस्तु मेरी कभी है नहीं, थी नहीं, होगी नहीं उसकी इच्छा भी क्यों हो ? यदि इच्छा हो तो वह बाधक है, किसी भी तरह साधक नहीं है। जैसे निमल पानीमें किंचित् भी रगका सम्बध उसकी स्वच्छताका निरोधक है वैसे ही निर्मल आत्मामें कोई भी मोहका रग उसकी पवित्रताका निरोधक है। अतएव मैं सर्व विभाव भावोंको त्यागकर अपने ही स्वरूपकी महिमामें निश्चलतासे वर्तन करता हू और परमानन्दका विलास करता हू।

१८२- परम शुद्धता।

जहातक विचार कर देखा जाता है परम शुद्धता इस हमारी आत्मामें ही वास कर रही है। हमको निर्मल जलके लिये कहीं अन्य स्थानमें जानेकी जरूरत नहीं है। हमारे ही पास शाति और आनदका समुद्र है। यद्यपि इसपर कर्मका कादा छाया हुआ है पर जब बुद्धिपूर्वक कर्मके कीचको दूरकर देखा जाता है तो सुख-समुद्र आप स्वय हो ही रहा है। इस सुख समुद्र आत्मामें किसी

१८५-प्रेम पुष्प।

एक चिरकालका वियोग प्राप्त व्यक्ति यकायक अपने हृदयके मनोहर उपवनमें स्वात्मानुभूति रूपी स्त्रीको देखकर अपने उपयोगके निर्मल प्रेम पुष्पको उसके परम शांत और सुखदाई करकमलमें अर्पण करता है। इस समयका प्रेम मिलाप परम मंगलकारी और परम तृप्तिकर हो रहा है। न स्वात्मानुभूतिको न उसके प्रेमकारकको सिवाय परस्परके अन्य किसी वस्तुकी खबर है। मानों संपूर्ण जगत शून्य है, है ही नहीं-इस तरहका परस्पर संगठन जिस आत्माको उपलब्ध होता है वही अपना सार जीवन करता हुआ एक अनुपम आनन्दामृतके रसका पान करता है। उसके प्रदेश प्रदेशमें उमंगकी तरंगें लहराने लगती हैं। वह अपनेको परमात्मासे किसी अंशोंमें कम नहीं जानता है। वास्तवमें वही परमात्मा है। उसकी सत्ता उसहीमें सर्वांग कल्लोल करती है। इस प्रेम पुष्पकी जय हो जो एक समयमें प्रेमकारकके द्वारा अर्पण किये जानेपर प्रेम पात्राको अपने वश कर लेता है। यही पुष्प वह शुद्धोपयोग है जहां स्वाभाविक परिणतिका विकाश है-जहां परम निर्मल भूमिका है कि जिसपर कर्म पुद्गलकी कालिमा रंच मात्र नहीं ठहरती है। धन्य हैं वे व्यक्ति जो इस प्रेम पुष्पसे अपनी शोभा बढ़ाते और स्वात्मप्रियाका सुखमय संगम लाभ करते हैं।

१८६-मोक्षयात्रा।

संसारयात्रामें अनादि कालका भ्रमण करनेवाला एक आत्मा जब अपनी शक्तिकी सम्हाल करता है तो आपको उस अतीन्द्रिय आनन्दका समुद्र ही देखता है जिस आनंदकी लालसासे व्याकुल

गुणरूपी वृक्षोंसे सकीर्ण आत्म उपवनके भीतर कल्लोल करता है। यही स्वारामक्रीडा स्वरूप संवेदन व परमात्माका ध्यान है। यही अनुपम सुखदायी और परम सारता विस्तारनेवाला है। यही परमार्थ है क्योंकि यही परमार्थका साधन है, यही निश्चयधर्म और यही सुखशांतिका समुद्र है।

१७६-परम समता।

ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपचजालसे रहित हो जब अपनी स्वरू- [illegible] प्राप्त कर लेता है-उसके भावमें रागद्वेषकी कालिमा नहीं नजर आती है। असमताका मूल कषायका बल है। जहां स्वरूप सन्मुखता है वहां परम समता है। परम समता पटद्रव्यमई लोकको अपने स्वरूपमें पाती है। उसे नीच, ऊँच, बड़े छोटे, सुन्दर असुन्दरकी कल्पना नहीं होती। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टि सर्व ही आत्माओंको शुद्ध दिखाती है। परम समताके लाभकी यही दृष्टि बीज है। इसी बीजसे आत्मानुभवरूपी वृक्ष बनता है। जिस वृक्षका फल परम कल्याणकारिणी अपनी ही शुद्धताकी अनन्तकालीन रहनेवाली गंध है। इसी गन्धका आशक्त भव्य जीव कमलकी गन्धमें भ्रमर समान तन्मय होजाता है और सिवाय आत्मगंध लेनेके अन्य सर्व विकल्प जालोंसे बिल्कुल शून्य होजाता है, और तब ही स्वात्मानुभूतिसे परम समता और सुखका लाभ करता है।

१७७-प्रेमभाव।

यदि कोई परम धैर्यके साथ विचार करता है तो उसको यह दिखता है कि सपूर्ण जगतके आत्माओंसे मेरा प्रेम भाव है।

न इसमें कोई वर्ण, गध, रस, स्पर्श है इसीसे इसे अमूर्तिक कहते हैं। यह क्षीर समुद्रवत्त निर्मल है जिसके जलसे तीर्थंकर सम आत्माका अभिषेक होता है। सच पूछो तो स्नान कर्ता अपने ही आपमें स्नान करता हुआ तथा अन्य किसीकी तरफ ध्यान न करता हुआ जिस परम शातिका लाभ कर रहा है उसका वर्णन नहीं हो सक्ता। इस परम उपशम भावमें सच्चा ज्ञान व सच्चा श्रद्धान व-सच्चा चारित्र चमक रहा है। जिनवाणी द्वादशागका सार रूप जो भाव श्रुत है सो इसी भावमें रमण कररहा है। यही भाव साक्षात् केवल क्षायिक भाव है। यही भाव वचन अगोचर परमानदका अनुभव कराता है।

१७९--परमार्थ मार्ग.

भलेप्रकार विचारनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि निश्चय धर्म अपने ही आत्माका स्वभाव है, किसी पर द्रव्यसे पैदा नहीं होता, न किसीसे मिल सक्ता है। जब भेद ज्ञानके बलसे अपनी वस्तुको अलग कर लिया जाय तब ही वह स्वभाव स्पष्टपने भिन्न२ झलक जाता है। एक ससार पतित आत्माके लिये यही परमार्थ मार्ग है कि वह निश्चय धर्मको पुन पुन देखे और मनन करे। मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अमूर्तीक आनद स्वभावी परमशात परम स्वसवेदी निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्रमई एक अखण्ड अनन्त सामान्य विशेषात्मक गुणोंका समुदाय रूप चैतन्य धातु पिंड हू— इसके सिवाय अन्य कोई रूप नहीं हू। जो हू सो था सो ही सदा रहूगा। मेरी गुण सम्पत्तिका कभी वियोग नहीं हुआ न है न कभी होगा। ऐसा ही अनुभवना निश्चय धर्म प्रगटताका निश्चय व पर-मार्थ मार्ग है इस मार्गका अनुयायी परम तीर्थ मार्गका चलनेवाला

१८७–ज्ञानमहिमा।

यह आत्मा सर्व विषय विकारोंसे हटकर जब कभी अपनी असंख्यात प्रदेशरूपी भूमिकामें देखता है तब इसे यकायक एक महिमाका दर्शन होता है कि जिसका कथन इस निर्बल मनुष्यकी जिह्वासे नहीं हो सक्ता है। इस महिमामें परमेश्वरका साक्षात दर्शन हो जाता है। जो रूप दृष्टिमें आता है उस रूपमें जब कोई पुद्गलपनेका अंश नहीं है तब उसकी उपमा किसी भी सूर्य, चंद्रमा, रत्न आदि पुद्गलके पदार्थसे नहीं दी जा सक्ती इसीलिये वह रूप निरुपम है। यद्यपि आत्मानुभवी उस परमात्माका दर्शन करलेता है पर अपनी जड़मई जिह्वासे बिल्कुल वर्णन नहीं कर सक्ता। इसीसे वह शब्द अगोचर है। तथापि संकेत मात्र जो कुछ कहा जाता है उसको सुनकर कोई सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञानी अपने भीतर उस आनन्दमई वस्तुको देख सके तो देख लेवे। यह उसके ज्ञानकी ही महिमा है। ज्ञानकी महिमाकी ऐसी शक्ति है कि यह उपयोग उपादेय वस्तुको ग्रहण करके उसमें उन्मत्त हो जाता है ऐसा कि उसे कुछ विचार व विकल्प ही नहीं रहता। उस समयकी लीलामें दर्शक दृश्य, पूजक पूज्य, ध्याता ध्येय, ज्ञाता ज्ञेय, अनुमाता अनुमेयका तर्क नहीं होता। यदि कुछ वचनसे कहें तो कह सक्ते हैं कि वह एक परम स्वाधीन आनंदमई ज्ञाता दृष्टा परमशांत परमतृप्त एक शुद्ध पदार्थ है जो वह है सो मैं हूं, जो मैं हूं सो वह है।

१८८–मूढ़का मरण।

कैसा भयानक शोकका समय है कि जो मन संसार भरके संकल्प विकल्प करता था, अनेक प्रकारकी तरंगाएं उठाता था,

पिछली बातोंका स्मरण करता था, प्रत्यभिज्ञान द्वारा यह विकल्प करता था कि यह वही है जिसे पहले देखा था, श्रुतज्ञानकी घुड़दौड़में दौड़ता था, कभी किसीसे प्रसन्न हो उसे प्यार व कभी किसीसे अप्रसन्न हो द्वेष करता था तथा धर्मसाधनमें अनुरक्त हो परमात्माके स्वरूपका अथवा आत्माके स्वरूपका मनन करता था, भेद ज्ञानद्वारा आत्माके स्वरूपको अनात्माके स्वरूपसे भिन्न विचारता था तथा अनात्माको छोड़कर मैं शुद्ध स्वरूप हूं, ज्ञातादृष्टा आनन्दरूप हूं इत्यादि गुणीसे गुणोंका भेद करके विचार किया करता था। वह मन आज मनके परम प्रभु आत्माके भीतर स्वानुभव रूपी खड्गकी चमक होते ही यकायक मरणप्राय होगया है। मूर्छित हो गया है। मनमें शक्ति नहीं जो निजानदरूपी सूर्यके उदयको सहन कर सके। दीर्घकाल तक स्वानुभवकी असिके प्रहार होनेसे मनके प्राणोंके आधार सर्व कर्मबंधन कट जाते हैं तब मनका मरण हो जाता है और आत्मा अपने पूर्ण नए आनन्द तथा ज्ञानमें तन्मय होता हुआ सिवाय आपके न कहीं जाता, न किसीको देखता, न किसीको जानता, न किसीको कर्त्ता, न किसीको भोक्ता, न किसीसे रागद्वेष करता किन्तु पूर्णानन्दमें मगन रहता है।

१८९–परमेश्वरता।

एक व्यक्ति अपने स्वरूपकी तरफ जब दृष्टि डालता है तब उसको यकायक अपनी परमेश्वरताका दर्शन हो आता है। यह परमेश्वरता अपनेमें स्वाभाविक है—अनादि अनन्त है। किसीकी दी हुई व करी हुई नहीं है। इस पदमें जो कुछ सार है सब विद्यमान है। इसमें पूर्ण आनन्द और पूर्ण शांतिका निवास है। जहां

कोई प्रकारकी कषाय कालिमा न्हा है। कोई प्रकारकी अल्पज्ञता नहीं है। आत्मा अपने शुद्ध गुणों और पर्यायोंमें परिणमन करता है। परन्तु कभी भी अपने गुणों की ध्रौव्यता त्यागता नहीं। नित्यानित्यात्मक स्वभावका धारी अपनी स्वानुभूतिमें मगन रहता है। सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अविकार जो कोई है सो मैं हूं—मेरे सिवाय अन्य मेरेमे निरक्षण द्रव्यमें मेरीसी प्रभुता नहीं है। मैं आप अपने ही गुणोंका स्वामी हू। उन ही गुणोंमें मेरी सदाकालकी प्रभुता है। इस मेरी परमेश्वरतामें कर्तापनेकी कालिमा नहीं है। न यहा परके दुःख सुखोंके भोगनेकी मलीनता है। भले ही अपनी स्वाभाविक परिणतिको करे तथा भोगे परन्तु परका कर्ताभोक्तापना इसमें नहीं है। मेरी परमेश्वरताकी भक्ति पूजन करके कोई सुख सामग्री प्राप्त करो व निज सुखके अनुभवको प्राप्त हो तो भी मेरेमें कोई भी विकार नहीं होता है। यह परमेश्वरता सदा जीवित रहती हुई अपूर्व आनन्दमें तन्मय रहती है। यही इसकी प्रतिष्ठा है।

१९०—अनुपम सुख।

परम सुखी ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपने स्वरूपमें इस तरह तन्मय हो रहा है कि जगतमें ऐसी कोई आकर्षण शक्ति नहीं है जो उसे अपने लक्ष्य बिंदुसे हटा सके—कोई ऐसा बाना नहीं है जो उसमें खटका कर सके व उसे फिरा सके। कोई ऐसा मन्त्र नहीं है जो उस आत्माके स्वभाव परिणमनमें विकार कर सके। सुमेरु पर्वतको निश्चल कहते हैं पर वह निश्चल नहीं क्योंकि उस बृहत् स्कन्धमेंसे अनेक परमाणु छूटते तथा अनेक उसमें मिलते रहते हैं। परन्तु इस असंख्यातप्रदेशी आत्मामें पूर्ण निश्चलता है, इसका न

कोई प्रदेश भिन्न होता न कोई प्रदेश उसमें आके मिलता है। गुणोंकी भी यही अवस्था है। कोई भी नया गुण उनमें मिलता नहीं, कोई भी गुण उनमेंसे विछुड नहीं जाता। अतिरिक्त इसके स्वात्मानुभव जन्य परम आनन्दमें ऐसा तन्मय है कि जरा भी उस अनुभवसे सरक कर इधर उधर होता नहीं-ऐसी अपूर्व निश्चलता इस अखट आत्म पदार्थ ही में है। इसके सुखकी मर्यादा अनन्त है। अनन्त कालतक भोगते हुए भी सुखकी मात्रा कभी समाप्त नहीं हो सक्ती। इस तरहका जो कोई आत्मा है सो ही में हू ऐसा श्रद्धान, ज्ञान, चारित्रका धारी सहज हीमें सर्व चिन्ताजालसे शून्य एक गूढ़ आनन्दका भोग करता है और निश्चय धर्ममें मग्न हो जाता है।

१९१ बृहत् सामायिक।

परमप्रिय आत्माराम सर्व विभाव भावोंका परित्याग कर एक अद्भुत स्वभावमें लीन है। जगतके लोग सामायिकके लिये चार तरफ प्रदक्षिणा देते, नमस्कार करते, पाठ पढ़ते, जप करते, सविकल्प पिंडस्थध्यान, पदस्थध्यान व स्वरूपस्थध्यानकी भावना भाते अथवा जैसे दालसे छिलका भिन्न है ऐसे में रागद्वेषादि कर्मोंकी उपाधिसे भिन्न हू ऐसा मनन करते अथवा मैं ज्ञाता दृष्टा आनन्द रूप परम अविनाशी शुद्ध शांत अमूर्तिक एक चैतन्य पिंड हू ऐसा विचारते। परन्तु यह सब सामायिकाभास है-छोटी सामायिक है, व्यवहार सामायिक है। अब यह चैतन्य गुणालम्नी सर्व विकल्प जालोंसे रहित परम गुप्त निजानन्दमई परमशांत आत्म समुद्रमें अपने आपको डालकर उसमें पूर्ण मगन होकर सर्व चिन्ताजालसे रहित है, वचनकायकी प्रवृत्तिसे बाहर है-केवल अपने शुद्ध स्वरूपके

साथ एकमेक होगया है। इसलिये सच्ची वृहत सामायिक कर रहा है। व्यवहारी लोग बहुत बड़े पाठवाली सामायिकको बड़ी सामायिक कहते हैं सो असत् है। जहां आत्मा आत्मीय भावमें एक सम हो जाय, रागद्वेषका झलकाव न रहे वहीं वृहत सामायिक हो सक्ती है।

१९२-परम मति।

एक भव भ्रमणकारी दुःखमें संतप्त आत्माका विचार जब पर फंदोंसे छूट अपने आपके विचारमें जमता है तब वहां एक परम मति पैदा होती है जिसकी महिमा अगाध है। इस मतिमें विषय कोई पदार्थ नहीं है किन्तु अपने ही आत्माका यथार्थ स्वरूप है। इस परम मतिके जमने ही सर्व संसार विस्मरण हो जाता है और यकायक एक आत्माका बना जगत सामने दिखने लग जाता है। इस जगतमें जितने गुण रूपी मनुष्य निवास करते हैं वे सब चेतनकी ही रंगतमें रंगे हैं। इनमें कहीं भी जड़ता नहीं दिखलाई पड़ती है, न किसीके अंग प्रत्यंगमें कषायोंकी कालिमा है, न कोई आकुलता है न कोई दुःख है। एक अपूर्व सुखशांतिका परम मनोहर दृश्य होता है कि जिसमें सिवाय चेतनके परिवारके और कोई नजर नहीं आता।

१९३-सम्यग्ज्ञानकला।

परम निरंजन ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व संकल्प विकल्पसे रहित हो जब अपने भीतर देखता है तब एक अपूर्व सम्यग्ज्ञानकी कला उसके भीतर प्रगट हो जाती है। जिस कलाके प्रकाशमें जगतके सम्पूर्ण पदार्थ ज्योंके त्यों अपने२ निज स्वभावको लिये हुए झलकते हैं। उस कलाके सामने सर्व विभाव परिणतियें इकदम नहीं

देखती हैं। यहा सर्व पदार्थ शुद्ध ही मालूम होते हैं। सम्यग्ज्ञानकला जब उपयोगको अन्य सर्व चेतन अचेतन द्रव्योंसे हटाकर केवल अपने निज स्वभावमई परमानदसे परिपूर्ण आत्माकी ओर लगाती है वह अपनेको स्वात्मानुभवमें निमग्न पाती है। उस समय परमामृतका स्वाद आता है जिसका वर्णन स्वादकी रसमई स्वादतामें लीन व्यक्ति उस समय कुछ कह नहीं सक्ता, कुछ सोच नहीं सक्ता, अपने शरीरके किसी सकेतसे बुद्धिपूर्वक बता नहीं सक्ता भले ही दूसरा कोई सविकल्पी उसे देखकर उसकी गतिको समझ जावें–पीछे जब कदाचित् उपयोग स्वस्वरूपानदके भोगसे हटे तब मन स्मरण कर कुछ कहनेका प्रयत्न करे तो करे, पर खेद है कि वह दूसरोंको उस आनदका स्वरूप बता नहीं सक्ता। धन्य है यह सम्यग्ज्ञानकला! जो इसमें रत होते हैं वे परमानदका लाभ करते हैं और चिरकालतक शिवरमणीसे उपभोग करते हुए परमतृप्त रहते हैं।

१९४–परम शांतता।

जब कोई प्राणी निराकुल भावसे अपने भीतर अपनी असख्यात प्रदेशमई आत्मभूमिको देखता है तो उसमें परम शातताका प्रचार पाता है। वहा कोई क्रोध, मान, माया, लोभादिका सचार नहीं है न वहा किसी भी पुद्गल परमाणुका सम्बन्ध है। वहा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अनतगुण सम्पूर्ण रूपसे व्यापकर प्रकाशित हो रहे हैं। हरएककी चमक निराली है। कार्यप्रणाली निराली है–महिमा निराली है। तथापि परम शातताके प्रभावसे वे सर्व ही गुण विना किसी विरोधके एक ही क्षेत्रमें परस्पर अवगाहरूप तिष्ठ रहे हैं–उनके समुदायको ही एक आत्मवस्तु कहते हैं। वह आत्म-

वस्तु जब सामान्यपने देखी जाती है तो अखड एक रूप प्रगट होती है। इस आत्माकी अखड एकताका स्वाद लेनेमें परमानन्द-रूपी गुण जो इसमें परिपूर्ण भरा है उपयोगको अपने वश कर लेता है जिससे उपयोगको सिवाय आपके अन्य किसी भी वस्तुका भान नहीं होता। वास्तवमें जो प्राणी इस परम शातताके स्वच्छ रसमें निमग्न हो जाते हैं उनकी सर्व बाधाएँ मिट जाती हैं। वे स्वात्मानुभवसे स्वलीन होकर निश्चय धर्मका मनन करते हुए परमसुखी रहते हैं।

१९५--परम भाव।

परमशुद्ध भाव धारी ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व कर्मबधनोंसे अपने आपको बिलकुल स्पर्श या गृस्या हुआ नहीं मानता है किन्तु अपनेको अपने शुद्ध निज स्वरूपमें ही तिष्ठा हुआ जानता है जिससे एक अपूर्व परम भाव उसकी सत्तामें वर्तन करता है। इस परम भावकी शोभामें जो महिमा इस आत्माकी होती है उसका वर्णन नहीं हो सक्ता। जो साक्षात् परमात्माका स्वभाव है वही मेरा निज भाव है यह विकल्प भी जहापर नहीं पाया जाता न जहापर यह विकल्प होता है कि मैं हू या नहीं या स्वचतुष्टयमय हू अथवा पर चतुष्टयमय नहीं हू--सर्व विकल्पोंसे अतीत जो कोई निज स्व-भाव है वही मैं हू--इस तरहके परम भावमें जो वर्तन करता है वही साक्षात् आत्माके परमभावको पहुच जाता है। आत्माका परम भाव परम सार गभीर तथा परमोपयोगी है। और साक्षात् शुद्ध ज्ञानानद मई है। इस भावकी उत्कृष्ट रचना परम अद्‌भुत, परम सार तथा स्वय समयसार रूप है इसमें जीवादि सात तत्त्वोंकी कल्पना बिलकुल नहीं है। यह परम भाव आत्माका शुद्ध

पारणामिक भाव है। यही मेरा निज धन व मेरा निज रूप है।

१९६-शांत रस समुद्र।

ज्ञाता दृष्टा आनदकारी परमपूज्य परमात्मा सर्व आकुलनाओंसे रहित हो जब अपने भीतर देखता है तो सिवाय एक शात रस समुद्रके किसी बातको नहीं देख पाता-मन उस समुद्रको देखते ही ऐसा मोहित हो जाता है कि फिर उसके निकटसे हटनेको नहीं चाहता इसलिये वह मन उस समुद्रमें ही गोते लगाता है और परमरसका पान करता है। इस शात रस समुद्रमें किसी भी अजीव पदार्थका वास नही है न किसी अन्य जीव व गुणका आवास है। इस समुद्रमें अनतगुण अपनी स्वाभाविक शोभाको लिये हुए विराजमान हो रहे है। ज्ञानी पुरष इस अद्भुत सागरमें बैठकर उससे निकलनेका साहस नहीं करते--सिद्धात्मा भी इसी समुद्रमें निरतर गोते लगाते रहते है। जिनको इस समुद्रका पता लग गया है वे सदा ही निराकुल रहकर स्वानुभव रसका पान करते है।

१९७-परम समता।

यदि कोई व्यक्ति परम समताका लाभ करना चाहे तो उसको उचित है कि वह एक क्षणके लिये द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे देखने लग जावे-पर्यायार्थिक दृष्टिको गौण कर देवे। प्रथम दृष्टिसे देखते हुए सर्व ही पदार्थ अपनेर स्वभावमें दिखलाई पड़ते है, कोई भी विकारी भाव नजर नहीं आता है। जगतमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन छ द्रव्योंकी सत्ता पाई जाती है। उस दर्शकको सर्व ही द्रव्य अपने शुद्ध स्वभावमें दिखते है। जीव द्रव्यके सिवाय पाच द्रव्य अजीव हैं वे बिलकुल निर्विकार ही नजर

आते हैं–जीव द्रव्य यद्यपि अनतानत हैं और अपनी विकृत अवस्थामें अनेक रूपसे दीख रहे हैं तो भी स्वभावकी दृष्टिसे देखे जानेपर सर्व ही शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, वीतराग तथा आनदमई परमात्माके समान मालूम पडते हैं। उनमें कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई विद्वान, कोई सघन कोई निर्धन, कोई रोगी, कोई निरोगी नहीं दिखता है । इस दृष्टिसे पदार्थोंको देखने हुए एक अपूर्व समता भाव हृदयरूपी मदिरमें उमड आता है–रागद्वेषकी कालिमा मिट जाती है–तथा स्वय ही एक प्रकारका अदभुत स्वानुभव पैदा होजाता है । साथ ही निर्मल आनद भी झलकता है। परम समता देवी तुर्त उसके घरमें ठहर जाती है और वह उस देवीकी पूजामें रत होजाता है।

१९८–स्वभाव रमण।

ज्ञाताद्दष्टा आनदमई परम पदार्थ सर्व आकुलताओंसे विरमण होकर अपने निज स्वभावमें ही रमण कर रहा है। बचनोंमें शक्ति नहीं है जो उस स्वभाव रमणको व उसके फलको प्रगट कर सके। यद्यपि बचन अपना प्रयास करते हैं परतु अपने कार्यमें सफल नहीं होते । अतमें जिस व्यक्तिको बतलानेके लिये वचन उद्यम करते हैं वह व्यक्ति जब बचनोंका सहारा छोडकर स्वय अपने स्वभावके जाननेका व उसमें रमण करनेका प्रयास करता है तब ही अपने स्वभाव रमणके रहस्यको व उसके फलको यथार्थ जान सक्ता है।

स्वभाव अनत ज्ञानदर्शन सुख वीर्यादि गुणोंका अखड एक समुदाय है–ऐसे अखड अविनाशी अमूर्तिक पदार्थका ज्योंका त्यों निश्चय रहना–रागद्वेपादिकी कल्लोलोंसे विचलित न होना ही स्वभाव रमण है। अपने ही पदार्थकी सुखशातिका आप ही को भोग

हो जाना स्वभाव रमणका फल है। इस परमसार कार्यको जो करता है वही एक वीर पुरुष स्वभावालम्बी है–उसके पास रागद्वेष मोहादि विभाव फटकने ही नहीं–इसीसे वह वीतराग विज्ञानमय रहता हुआ सुखी रहता है।

१९९–परम सार।

यदि कोई व्यक्ति इस षट्द्रव्यमई जगतमें किसी परम सार वस्तुको देखना चाहे तो उसको पता लगेगा कि जिसे वह ढूढना चाहता है वह वस्तु स्वय आप है। आपके सिवाय इस जगतमें कोई भी परम सार पदार्थ नहीं है। और यदि कोई हैं तो वे सब अपने ही समान हैं। उन सबोंके स्वभावमें व आपके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं है। वास्तवमें परम सार पदार्थ यह आत्मा है। जो कि शुद्ध बुद्ध अविनाशी अमूर्तीक परमानदमई क्रोधादि विकारोंसे शून्य है। उसमें कोई प्रकारके सकल्प व विकल्प नहीं होते हैं। वह निर्मल जल व निर्मल स्फटिकके समान है। उसमें ऐसी अपूर्व शक्ति है कि तीन लोकके सर्व पदार्थ अपने अनतगुण पर्यायोंके साथ एक ही समयमें झलक जाते हैं तौभी कोई भी पदार्थ इसमें कोई टेढे हों व सीधे हों व भले ही कोई क्रोधी हों व कोई शात हों, कोई अपना असर उस पदार्थमें कुछ नहीं कर सक्ता है। इस आत्म पदार्थका एकर प्रदेश परममिष्ट अमृतके समान परम निराकुल परम मधुर परम तृप्तिकारक आनन्दसे भरपूर है। इस पदार्थरूप मैं हू, और रूप नहीं हू यह विकल्प भी उसमें नहीं है। वह अनादि अनत एक रूप चैतन्य धातुमई मूर्ति है। जो कोई सर्व नयोंके विकल्पोंसे दूर होते है और मन, वचन, कायकी क्रियाओंसे परे होकर आपमें

ही बस जाते हैं वे ही आत्मानन्दको भोगते हुए जो कुछ अनुभ करते हैं वह वचन अगोचर है।

२००–परमागम सार।

जो आत्मा परम आनंदमई गुण विशिष्ट अपने अभेद रत्नत्र स्वभावमें तल्लीन सर्व विभाव भावोंसे दूर है वही परमागम सार है परमागमका जो लक्ष्य-बिन्दु हो व परमागमसे प्राप्त हो वही परमा गमका सार है–उसे ही परमात्मा या यथार्थ केवल आत्मा कह है–वही मैं हू अन्य रूप नहीं हू यही निश्चय धर्मका मनन है। इ शुद्ध स्वभाव मननका करनेवाला व्यक्ति जिस प्रकारके जगतमें ले जाता है वह जगत इस दृश्य जगतसे विलक्षण ही है–यह दिखला देनेवाला जगत जब पर्याय रूप है तब वह जगत मात्र द्रव्यरू है। उस जगतमें सर्व चेतन अचेतन पदार्थ भिन्न२ अपने ही नि स्वभावमें कल्लोल करते हुए विना किसी विकारके व विना किस मिश्रणके दिखलाई पड़ते हैं। उस जगतमें यदि कोई क्रोध भाव मान भाव, लोभ भाव तथा माया भावको ढूढे अथवा मुनि श्राव धर्मको ढूढे व गुणस्थान व मार्गणा जीव समासको ढूढे तो कहीं भ पता नहीं चलता है। न वहा कोई ससारी दिखता, न सिद्ध दिखता न वहा बन्ध दिखता, न मोक्ष दिखता, न वहां आस्रव दिखता न सवर दिखता है। सिवाय शुद्ध जीव अजीवोंके और कोई तत्व दिखलाई नहीं पड़ता–ऐसे जगतको देखनेवाला ही परमागम सार है।

२०१–पवित्र भाव।

एक व्यक्ति परम गम्भीर भावसे जब अपने स्वरूपपर विचार करता है तो उसे मालूम होता है कि ससारमें यदि कहीं कोई पवित्र

भाव है तो मुझ हीमें है। जहा किसी अन्य द्रव्यका स्पर्श, सबंध व मिश्रण न हो और न किसी अन्य द्रव्यका असर उसपर पड़ता हो जिससे कोई विभावता उत्पन्न होजावे उसी द्रव्यमें साक्षात् पवित्र भाव है ऐसा कहनेमें आएगा। पवित्र भाव आत्माका निज स्वभाव है। इस भावका सौंदर्य, इस भावका महत्त्व, इस भावका अनौपम्य अवर्णनीय है। इस पवित्र भावमें कोई कलुषता क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंकी नहीं है। इस भावमें अनन्तगुणोंकि स्वभाव भी गर्भित हैं। इस भावको अमृतमई सुख समुद्र भी कहते हैं क्योंकि परम अतींद्रिय सुख इसीमें झलकता है जिस सुखमें कोई आकुलता नहीं है जिसको परमात्मा या मुक्तात्मा सदा भोगते हैं। व इसी सुखके भोगमें तृप्त रहते हुए अनेक साधु जन वनादिकी अनेक परीषहोंको सहन करते हैं। जो दूसरोंके लिये कष्ट हैं वे पवित्र भावधारियोंके लिये कष्ट नहीं हैं किन्तु निज विलासके बाह्य साधन हैं। यह पवित्र भाव मेरेमें है। मैं उससे तन्मय हू। यही मेरी स्वाधीन निर्मल सपदा है। मैं इसीको लिए हुए सन्तोषी रहता हुआ अनुभवानदका स्वाद लेता हू।

२०२—शान्तिका मूल्य।

कोई व्यक्ति यदि अपने आत्माके स्वरूपपर ध्यान देवे तो उसे विदित होगा कि उसका स्वरूप केवल अनुभव गम्य है, वचन-गोचर नहीं है। यद्यपि सर्वांग अनुभव गम्य है, तथापि सविकल्प अवस्थामें उसकी महिमाको यदि कोई कहे तो कह भी सक्ता है। इस अनुपम चैतन्य पदार्थमें शान्तिका साम्राज्य इतना प्रभावशाली है कि उसका मूल्य बिलकुल नहीं किया जासक्ता—क्योंकि वास्तवमें

आत्मामें सत्तारूप तिष्ठे हुए गुणोंके भीतर मलीनताको दूरकर उन्‍
अपने पूर्ण प्रकाशमें रखना इस शान्तिका ही काम है। शांति ह
सच्चा अतीन्द्रिय सुखका अनुभव कराती है। शाति ही इस आत्मा
सदा अपने निज स्वभावके आसनपर आरूढ़ रखती है। शांति
साम्राज्यमें मोह शत्रु और उसके प्रबल सेनापति क्रोध, मान, माय
लोभ इस आत्मप्रभुके पास भूल करके भी नहीं आते। इन प्रब
शत्रुओंसे पराजित आत्माके पास शाति आती ही नहीं। यद्यपि य
बात व्यवहारमें कही जाती है तथापि निश्चयसे शातिका और अ
त्माका तादात्म्य सम्बन्ध है। शाति सदा ही आत्माके प्रदेशोंमें व्य
पक है। यह शाति यथार्थ आत्माके बलको प्रगट होनेमें परम प्रब
कारण है। मुमुक्षु जीवको नित्य शातिकी ही गोदमें खेलना चाहिये

२०३-सार मार्ग.

यदि कोई निश्चिंत होकर अपने चित्तमें विचार करेगा तो उ
मालूम होगा कि अपने आपके आत्मत्वमें आत्मता रूप रहनेका मा
अपने आपका ही श्रद्धान ज्ञान आचरण है। आपका यथार्थ त्रिका
अबाधित स्वरूपके ही पथपर चलना आपके देशकी प्राप्तिका प
निर्वि न स्वाधीन सार मार्ग है। यथा मार्ग तथा प्राप्य देश, दोनें
समानता है। सार मार्ग ही निश्चय धर्मका मनन है। मैं एक अके
सर्व परद्रव्य, गुणपर्याय व सर्व परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, व प
भावोंसे भिन्न हूं, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे भिन्न होनेके का
णसे शुद्ध हूं। सर्व स्व और परका दृष्टा और ज्ञाता स्वभाव लक्षण
धारी हूं। तथा वर्ण गन्ध, रस, स्पर्श, गुणस्थान, मार्गणा स्थान, जी
समास स्थानादि पुद्गलकी समस्त रूपी पर्यायोंसे भिन्न अरूपी अथ

अमूर्तीक हू तथा अपने चैतन्य धातुके बने हुए असख्यात प्रदेशोंमें तन्मई होकर अपने ही शरीर प्रमाण आकारका धारी हू। ऐसा ही हू, ऐसा श्रद्धान, ऐसा ही हू ऐसा ज्ञान, ऐसा ही हू ऐसे श्रद्धान ज्ञानके साथ मैं ऐसा हू ऐसा नहीं हू इस विकल्पसे रहित होजाना यही चारित्र है। यही सम्यक् रत्नत्रयका स्वरूप है। इस परम रत्नत्रय स्वरूप आत्माके स्वरूपका रागद्वेषादि कल्लोलोंसे अडोल रहना ही सार मार्ग है। इसी मार्गपर चलना ही परमानदकी प्राप्तिका साधन है। यही स्वानुभव है, यही ध्यान है, यही समाधि है, यही परमैकाग्रता है। यही ज्ञान मार्ग है। यही परमामृतके अदभुत प्रवाहसे परिपूर्ण परम मिष्ट वैराग्यरूपी समुद्रका वहन है। इसीमें निमग्न होना ही धर्म है।

२०४--भोगमें आनन्द.

एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब सर्व इन्द्रियोंके विषयोंको व मनके सकल्पोंको त्यागकर अपनी स्वात्मानुभूति रानीके भोगकी तरफ सन्मुख होता है और उस भोगमें एकाग्रतासे लवलीन होजाता है तो उस आत्माको उस सलग्न दशामें हर समय अपूर्व वचनातीत अतींद्रिय आनदका लाभ होता है क्योकि अनुभूति तियाका अग सपूर्ण स्वाभाविक आनदसे परिपूर्ण है। इसलिये उसकी सगतिमें निरानदका कुछ काम नहीं है। इस आनदके लाभको होते ही उस आत्माकी परसगतिमें रहनेसे प्राप्त जो घोर थकन थी सो यकायक दूर होजाती है। तथा एक ऐसी पुष्टता प्राप्त होती है जो अनत वीर्यका अशरूप है और अखण्ड तथा अविनाशी है। निश्चय दृष्टिसे देखनेवाले जब [illegible] दका निरतर लाभ कर सकने तब व्य-

वहार दृष्टिवालोंको तो उसका रच मात्र भी अनुभव नहीं होसक्ता है। इसीसे जब इन दोनों दृष्टियोंमें हेय उपादेयका विचार करते है तो व्यवहार दृष्टि हेय तथा निश्चय दृष्टि उपादेय है। परन्तु जब निर्विकल्प स्वात्मानुभवपर दृष्टि डाल्ते हैं तो वहा हेय उपादेय विचारकी गम्य ही नहीं है। वहा तो निज पदार्थ अपने यथार्थ स्वरूपमें भलेप्रकार झलकता रहता है। यहीं सच्चे आनंदका भोग है, वहीं परम तृप्ति है तथा वहीं परम निराकुल्ता है।

२०५–एक सरोवर।

परम प्रतापी योगी आत्मज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर जब अपने भीतर देखता है तब बड़ा ही सुन्दर व अद्भुत सरोवर नजर आता है–जिसकी शोभा त्रैलोक्यमें कोई भी पूर्णपने अपनी वचन वर्गणाओंसे नहीं कह सक्ता है। इस सरोवरमें परम शांत ज्ञानमई निर्मल जल भरा है जिसमें रागद्वेषादि कषाय भावोंकी रच मात्र भी कलुषता नहीं है। न इसमें कोई कर्म वर्गणा रूपी विकलत्रय जीवोंकी उत्पत्ति होती है। न इसमें कोई नोकर्म रूपी मत्स्यादि है। इस सरोवरका जल न कभी कम होता है न कभी बन्ता है। यद्यपि इसमें पर्यायोंकी उत्पाद व्यय रूप तरंगें सदा उठा करती हैं तथापि सरोवरके स्वभावकी ध्रौव्यता सदा बनी रहती है। इस सरोवरमें कोई प्रदेश या स्थान–आनन्द और शांतिसे खाली नहीं है। जो इस सरोवरके निकट जाता है उसे आनन्द होता है। जो इस सरोवरके सन्मुख हो अपना उपयोग लगाता है उसको परमानन्दका लाभ होता है। जो इस सरोवरमें पैठ जाता है उसके आनंदकी बात क्या कहनी, वह तो केवली गम्य ही है।

इस आत्मसरोवरके निकट नित्य ही भव्य जीव रूपी पक्षी कल्लोल किया करते हैं–अनादि संसारके आतापसे संतप्त मनुष्य ज्यों ही इस सरोवरमें स्नान करता है व उसका मनोहर जल पीता है त्यों ही इसको अपूर्व शांतिका लाभ होता है। जिस किसीको अजर अमर होकर सदा ही सुखी रहना हो उसको चाहिये कि इस सरोवरमें ही नित्य वास करे और ऐसा वास करे कि जैसे मछली पानीमें वास करती है। जैसे मछली पानीसे बाहर आकर तड़फड़ाती है–पानी विना जी नहीं सक्ती इसी तरह वह मनन कभी भी इस आत्म सरोवरसे बाहर नहीं आवे–यदि कदाचित् आवे तो तड़फड़ावे–कभी चैन नहीं पावे, आत्म सरोवरके शांत ज्ञानानंदमई जलसे ही तृप्ति पावे।

२०६-प्रेम समुद्र।

जैसे ही कोई व्यक्ति अपने शुद्ध भावसे अपने चैतन्य प्रभुको देखने लगता है वैसे ही उसको यकायक यह जगत प्रेम समुद्र दिखलाई पड़ता है। उसके अनुभवमें जड़ अचेतनका भास जाता रहता है केवल चैतन्य ही चैतन्य अनुभवमें आता है। क्योंकि यह सर्व लोक जीव राशिसे पूर्ण है और हरएक जीवका स्वभाव एक दूसरेके बराबर है। इसलिये अनुभवमें सर्व चैतन्यमई शांतरससे परिपूर्ण एक अनुपम प्रेम समुद्र ही झलकता है। इस समुद्रमें किसी प्रकार भी विकारकी कोई कालिमा नहीं है। यह ज्ञानानंदमई प्रेम रससे भरा है। इस प्रेम समुद्रमें कल्लोल करना, इसका मनोहर जल पान करना, इसकी स्वाभाविक परिणतिरूपी तरंगोंकी बहार देखना, इसकी गम्भीरताकी थाह न पाना, इसकी ज्योतिमें अज्ञानांधकारका

प्रवेश न होना आदि बातें बड़ी ही सुखदायिनी हैं। प्रेम समुद्रकी महिमा वचनगोचर नहीं है। जिसे संसारके आतापसे दाह न पाकर शांत भावमें मग्न हो मन, वचन, कायकी क्रियाओंसे बाहर जाना हो उसके लिये उचित है कि वह इस प्रेम समुद्रमें ही अपना वास करे और सबको भुला कर मात्र इसीमें ही तल्लीन होजाय तब क्या क्या होगा वह दूसरा कोई कह नहीं सक्ता।

२०७—परमसुखासन।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब जगतके पौद्गलिक आसनोंसे अपनेको हटाकर निज आत्माके शुद्ध प्रदेशरूपी परम सुखासनपर विराजमान होता है तब उसे सर्व विश्वका प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है, परमेश्वरका साक्षात स्वरूप झलकने लग जाता है। उस परमसुखासनमें कोई बाधा नहीं है—उस आसनमें पूर्ण निर्मलता है, पूर्ण कोमलता है, पूर्ण सुन्दरता है, पूर्ण चमत्कारिता है, पूर्ण वीतरागता है। तीन लोककी सम्पत्ति इस आसनके सामने तुच्छ है। बड़े २ बादशाह व सम्राट इस आसनके लिये तरसते तथा इसे बारबार नमस्कार करते हैं। इस आसनपर जो प्रतिष्ठित होता है उसे कोई क्लेश आधि व्याधि नहीं सताती है। वह सदा ही स्वात्मानुभवके रसके पानमें परम तृप्त रहता है। वह जगतको देखता हुआ भी जगतसे अत्यन्त उदासीन है। जो इस आसनके स्वामी हैं वे ही धन्य हैं।

२०८—परमार्थ जगत्।

इस षट् द्रव्यमय जगतमें जब एक चेतन द्रव्यको उसके स्वभावके भीतर जाके देखा जाता है तो वहा एक परमार्थ जगत्

दिखलाई पड़ता है। जिस जगत्में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, अगुरु लघुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुण और चेतना, सुख, शांति, सम्यक्त, वीर्य आदि विशेष गुण अपनी स्वाभाविक महिमामें विना एक दूसरेको हानि पहुंचाये पूर्ण साम्य तथा परस्पर निरपेक्षभावसे निवास कर रहे हैं। इस आनंदमय जगत्में कोई मोह और उसका परिवार क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, भय आदि नहीं हैं। इस जगतका निवासी सदा सुखी, निराकुल, निर्भय, निरपराधी, और स्वभाव संतोषी रहता है। इस जगत्में अन्न, घी दूधका भोजन और जल नहीं मिलता है न वहा कोई भी अचेतन पदार्थ है। वहा तो आत्मानुभवसे उत्पन्न परमामृतका ऐसा निरंतर प्रवाह बहता है कि वहाके निवासी इसीको ही स्वाद ले पीते हैं। न वहा कोई वस्त्र ओढनेको मिलता है। वहा अपना स्वरूपाचरण चारित्र ही वस्त्र है। उस जगत्में कोई शीत उष्ण डांस मच्छरकी परीषह नहीं होती है। वहा निरंतर ही कोई बाधा नहीं रहती है। इस परमार्थ जगतका स्वामी ही सदा सुखी रहता है।

२०९-समरस।

जो कोई व्यक्ति पंच इन्द्रियोंके विषयोंके कटुक रससे निराश होकर निजात्मीक रसके स्वादमें अनुरक्त होता है उसे एक ऐसे अद्भुत समरसका अनुभव होता है कि जिसका अनुभव उसीहीको है जो उस रसमें मग्न है। द्रव्यार्थिक नयसे पदार्थोंका स्वभाव विचारते हुए पर्यायोंके भीतर वर्तनेवाला राग और द्वेष नष्ट होजाता है। सर्व ही द्रव्य यथातथा उसी तरह झलकते हैं जैसे दर्पणमें पदार्थ यथातथा प्रतिबिम्बित होते हैं। वास्तवमें वीतराग भावको ही

समरस कहते हैं। यह समरस आत्माकी सत्तामें पूर्ण भरा है इसीसे आत्माको सुख समुद्र कहते हैं। समरसकी महिमा अपार है। इसका दर्शन मात्र जब आनंद प्रदान करता है तब इसका पान व इसमें स्नान कितना आनन्द प्रद है सो सर्व वचन अगोचर है। जो सम रसके स्वादमें लीन होजाता है उसको परमानंदका अनुभव सदा रहता है।

२१०–परम शुद्धता।

ज्ञानशरीरी परमानन्दी परमप्रभु शुद्ध आत्मा जो अपनी ही देह रूपी देवलमें विराजमान है उसकी महिमा वचन अगोचर है। यदि कोई बड़ा ही तीक्ष्ण सूक्ष्मदर्शक यंत्र भी लगाकर देखें तो इस आत्मारामामें कोई अणुमात्र भी मैल नहीं दिखलाई पड़ता है। वास्तवमें प्रत्येक वस्तु अपने निज स्वभावमें ही रहती हुई सुन्दर भासती है। सुन्दरताका बाधक पर द्रव्यका सम्बन्ध है। शुद्ध दृष्टिसे देखा जाय तब हरएक वस्तु अपने स्वभावमें ही दीखती है। हमें और सब संकल्प विकल्प त्याग कर अपने आपके स्वरूपका ही विचार करना है। हमें तो यही जानना है कि हम कौन हैं। अपने अपने स्वरूपके ज्ञानसे ही आपका यथार्थ बोध होता है, अपने ही ध्यानसे अपने स्वरूपका विकाश होता है। पर यह सब कल्पना कि कौन ध्याता है, कौन ध्येय है, ध्यान क्या है मात्र कल्पना है। हमारे निज स्वरूपमें इन सब कल्पनाओंका अभाव है। मैं तो कल्पनातीत ज्ञानसमुद्र अनुभवगोचर एक शुद्ध पदार्थ हूं–मेरेमें परम शुद्धताका निवास है। इस परम शुद्धताका कोई परिमाण नहीं किया जा सक्ता। इसी परम शुद्धतामें त्रिकाल

सहित तीन लोक झलक रहा है। मै इसकी ही आत्माका ज्ञाता दृष्टा रहता हुआ परम सन्तोषी होरहा हू।

२११-अद्भुत मंत्र।

इस ससार रूपी समुद्रमे भ्रमण करते हुए जिस जीवको उसमेंसे निकलनेका कोई उपाय नहीं मिलता वह जीव बडा व्याकुलित हो अनेक कष्ट उठाया करता है। इतने हीमें एक महात्मा धर्मनौका पर चढ आते है और उसके कानमें एक मत्र सुनाते है, उस मत्रको पढते २ वह स्वय अपनी भुजाओंके बलसे समुद्रको तिरके बाहर निकल आता है और एक अनुपम उपवनमें पहुच जाता है जिसकी सुन्दरता अकथनीय है व जो उसके मनको एकदम मोहित कर लेता है और वह सदाके लिये उसी उपवनमें ही रमनेका निश्चय कर लेता है। वह मत्र एक अदभुत शक्तिका धारी है। भेदज्ञान उसका नाम है। उसका स्वरूप यह है कि जैसे हस दूधको पानीसे भिन्न जानता है वसे पुद्गल और उसकी अनेक कर्म नोकर्म भाव कर्मरूपी अवस्थाओंसे अपने आत्माके स्वभावको भिन्न जानना-दोनोंका स्वभाव पहचान कर पुद्गलको हेय और आत्माको उपादेय मानना कि यह आत्मा ज्ञाता दृष्टा आनदमई वीतराग पदार्थ है व ऐसा ही अनुभवना। अन्य सर्व पदार्थोंसे भिन्न निज स्वभावका आनद भोगना-यही भेद ज्ञान रूप मत्र है-इसी मत्रके जपते हुए यह स्वय निजात्माके उपवनमें पहुच कर वहा परम विश्रातिको पाकर सदाके लिये परम सुखी होजाता है।

२१२-चैतन्य भाव।

मैने इस जगतमे असख्यात भावोंकी जाच की परन्तु मुझे

अपना निज चैतन्यभाव जैसा सुन्दर भासा ऐसा कोई भाव दूसरा नहीं भासा, तब मैं ढूढने लगा कि यह चेतन्य भाव किस भाववान पदार्थमें रहता है– देखनेसे यही झलका कि यह तो मेरे आत्माका ही स्वभाव है। उस स्वभावको जो सूक्ष्म तत्त्व दृष्टिसे देखा तो उसमें तो कोई रागद्वेषादि विकार नहीं झलक रहे हैं। न उसमें कोई अज्ञानता है, न कोई निर्बलता है, न कोई प्रकारकी हीनता है वह स्वभाव अपनी शुद्ध परिणतिको लिये हुए अपने परम पारिणामिक भावमें स्थिर है। उस स्वभाववान और स्वभावमें भेद कल्पना मात्र है। चैतन्य भावका शिरोमणी आत्माराम बचनोंसे अगोचर है। उसकी महिमा उसीमें है। वह न बद्ध है न मुक्त है, न ज्ञान है न अज्ञान है। वह जो कुछ है सो है वह बिलकुल अभेद निर्विकल्प है। मैं अब सर्व झगड़ोंको त्याग उसीकी ही शरणमें जा उसीका ही आनन्द लेता हुआ कृतार्थ होरहा हू।

२१३-दश धर्म।

एक धर्म प्रेमी मनुष्य जब अपने भीतर विचार करके देखता है तो उसे भावकर्म और द्रव्य कर्म नोकर्मके भीतर एक ऐसा अनोखा ज्ञान मई पदार्थ दिखता है जिसके परम अद्भुत दस गुण दिखलाई पड़ते हैं–दश गुण होने पर भी उसे लोग एक ही पदार्थ कहते हैं–इस दश गुण चेतन पदार्थके दस गुणोंको जब एक एक करके विचार करते हैं तो मालूम होता है कि उत्तम क्षमा स्वरूप गुण परम शांतिका भंडार है–उसमें किंचित् भी क्रोधकी कालिमा नहीं है। उत्तम मार्दव परम कोमलताकी खान है, जहां मानका कोई चिन्ह नहीं है। उत्तम आर्जव परम सरलताका गृह है जहां

राग द्वेषकी कल्पना नहीं दीखती है। न जिसमें किसी पर शत्रुताका कोई अंश है। इस प्रेमभावमें सर्व जगतकी आत्माएं समान भाव रूपसे परम शुद्ध दिखलाई पडती हैं। इतना ही नहीं सर्व ही छः द्रव्य अलग २ परम शुद्ध और परम मित्रताको लिये परस्पर झलक रहे हैं। इस प्रेम पात्रतामें बंध मोक्षकी कोई कल्पना ही नहीं मालूम होती है। सर्व तरहसे सुखका दर्शन इसी पात्रतामें होरहा है। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव हैं वे इस प्रेम पात्रतामें ही कल्लोल करते हैं। और इसीमें एक प्रकारके अनुपम आनन्दका भोग प्राप्त करते हैं।

११७-शुद्धोद्देश्य।

एक ज्ञानी आत्मा अपने भीतर ज्यों ही ध्यान देता है उसको यह विदित होता है कि उसका उद्देश्य एक मात्र शुद्ध है। उसमें कोई प्रकारकी अशुद्धता नहीं है। पूर्ण निर्मल स्वभावको रखनेवाला होकर वह किसी भी कर्म प्रपंचके जालमें उलझा हुआ नहीं है। उसमें जो मलीन परिणामी है वह भले ही उसमें कोई प्रकारका मैल देखें परन्तु शुद्ध स्वभावधारीको तो उसमें कोई भी अशुद्ध दिखता नहीं। उसे तो एक स्फटिक मूर्तिसम ही निर्मल आकार दिखता है। जिसकी निर्मलताको इतना महत्व प्राप्त है कि उसमें यह सर्व लोकालोक विना किसी भी क्रमके प्रतिबिंबित होता है। जैसे दर्पणके सामने दर्पणमें क्रोध करनेवाला भी दीखे तौभी दर्पण अपने स्वभावको तजकर विकारी नहीं होता ऐसे ही आत्माके ज्ञानमें भले ही अनेक विकारी पदार्थ दीखें तौभी आत्मा अपने शांतस्वभावको छोड़कर विकारी नहीं होता। सम्यग्दृष्टी स्वात्मानुभवी इसप्रकारके

सक्ता है और न कोई उसे बिगाड़ सक्ता है। वह चैतन्य धातुमें निर्मित है। अपने ही देह रूपी देवलमें शाश्वता प्रभु सर्वांग व्याप कर विराजमान है। इसकी उपमा जगतके लोग सूर्य, रत्न, सुवर्ण आदिसे देते हैं परन्तु वह सब मिथ्या है। उस समान वह ही है। दूसरे किसीमें शक्ति नहीं जो उससे मिल सके व उससे भेट कर सकें। वह कमल पर जलकी बूंदकी तरह मेरे शरीरमें होते हुए भी उस देहसे भिन्न है। इस तरह एक स्वय सिद्ध परमात्माके गुणोंका अनुभव जो करता है वह धन्य है।

२१५--रत्नत्रयी भाव.

मैं इस समय सर्व अन्य भावोंसे हटकर एक रत्नत्रयी भावमें ही तन्मय होता हूं जो कि मेरे आत्माका स्वभाव है। उसीमें ही सार सुख है। उसीमें ही वीतरागता है। उसीमें ही स्वात्म जनित समता है। उसीमें ही परम निस्पृहता है। रत्नत्रयमइ आत्माके भावमें किसी भी पर पदार्थका प्रवेश नहीं होता है। उसीमें एक ऐसा दुर्ग है जहां कोई आ नहीं सक्ता। इस अद्भुत आत्मीक गृहमें रहते हुए न किसीसे द्वेष है न राग है। इसीसे इसमें क्षमा करने व क्षमा मांगनेकी कोई आवश्यक्ता नहीं है। मैं सर्व सकल्प विकल्पोंको त्याग कर एक इसी ही आत्मघरमें विश्राम करता हुआ परमानंदका लाभ ले रहा हूं।

२१६-प्रेम पात्रता.

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे दूर रह जब अपनी आत्मभूमिकाको देखता है तो उसमें एक ऐसी प्रेमपात्रता पाता है जिसमें परम शुद्धता है। जिस प्रेममें कोई

दर्शन पाता है कि जिस भावमें कोई प्रकारकी रंचमात्र भी कलुषता नहीं नजर आती है। न वहां राग है, न द्वेष है, न कोई विषय-वासना है, न वहां कोई कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण आदि कारकोंके विकल्प हैं। न वहां गुण--गुणी स्वभाव स्वभाववानके भेद हैं। न वहां कोई सम्भवने विकल्प हो सके हैं। वहांपर जो कोई भी वस्तु है वह अपने निज स्वभावसे शुद्ध रूपमें विराजमान है। उस साम्यभावमें तीन लोक अपनी शुद्ध परिणति-योंको लिये हुए कल्लोल कर रहे हैं। समस्त ज्ञेय पदार्थ अपने भिन्न२ स्वरूपको ज्ञानमें झलका रहे हैं तौ भी ज्ञानमें कोई विकार नहीं पैदा होते हैं। यह उसी शुद्ध ज्ञानकी महिमा है जिसमें साम्यभावका परम मनोहर साम्राज्य है।

२२२--परमभावना।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परब्रह्म स्वरूप परमात्मा सर्व व्यथा-ओंसे दूरवर्ती निजानंद मई समता समुद्रमें कल्लोल कर रहा है। जहां कोई प्रकारकी आकुलताके प्रपंच नहीं हैं। न वहां कोई भेद प्रभेद है न वहां गुणोंकी संख्या है। न वहां अभेद नयका विकल्प है। वहां परम सार स्वरूप एक अनुभवगम्य परम तत्व है। उसी परम तत्वकी भावना ही एक परम भावना है। जिस भावनामें कषायोंकी कलुषता नहीं है। जिस भावनामें इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहना नहीं है। जिस भावनामें राग द्वेषकी विषमता नहीं है। इस परम भावनाके धारी प्राणी सहज हीमें निज शक्तिको व्यक्त करते हैं और बहुत सुगमतासे भवके क्लेशोंको दूर भगाते जाते हैं। मैं सिद्ध सम शुद्ध हूं यही भाव पुनर्पुन ध्यानमें आना परम भाव-

भावार्थ—जो कोई भी नयोंके पक्षपातको छोडकर नित्य अपने आत्मस्वरूपमें गुप्त होकर रहते हैं। वे ही सर्व विकल्प जालोंसे छुटे हुए शांतचित होकर साक्षात् आनन्दामृतका पान करते हैं।

२२०—परमात्म तत्व.

इस संसार असारमें यदि कोई सार तत्व है तो वह निज परमात्म तत्व है। इस परम तत्वमें कुछ ग्रहण व त्याग नहीं है। यह तत्व पूर्ण जल कुम्भके समान अपने अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंसे परिपूर्ण है। इसमें कोई प्रकारका मल नहीं है। यह सर्व तरहसे निराकुल है। जो कुछ भी आत्मतत्वका स्वभाव है सो सब इस तत्वमें पूर्णतया झलक रहा है। जिन्होंने अपनेको सर्व विभाव भावोंसे शून्य माना है व शुद्ध पदार्थ जाना है उन्होंने ही राग-द्वेषकी कालिमाको मिटाया है कि जिससे यह संसारी जीव संसार-सागरमें बहुत कुछ भटका है। इस परमातम तत्वमें न पर कर्तृत्व है न पर भोक्तृत्व है। इसमें शुद्ध गुणोंका स्वभाव रूप परिणमना ही कर्तृत्व है व शुद्ध आत्मानंदका अनुभव ही भोक्तृत्व है। यह तत्व सर्व आडम्बरोंसे शून्य परम शुचिताका भंडार है। इसकी शोभा वचन अगोचर है। जो निज उपयोगके उपादान कारणको देखते हैं उन्हें यह तत्व सहजमें दिख जाता है। यही तत्व रत्नत्रय स्वरूप है। यही सुख शांतिका समुद्र है। इसीका मनन निश्चय धर्मका मनन है।

२२१—साम्यभाव.

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब कभी निज अनुभूतिके विशाल समुद्रमें गोता लगाता है तब वहां एक अपूर्व साम्यभावका

एक अपूर्व सुख शातिका लाभ होता है जो शाति पुद्गलादिमें नहीं पाई जाती है। मोह शत्रुका तो पता ही नहीं चलता। बस अब मैं सर्व सकल्प विकल्पोंको त्याग कर एक आत्मारामका ही दर्शन करूगा। उसीमें ही विश्राति लूगा व उसीका ही ध्यान करूगा तथा उसीकी ही उपासनासे सदा मैं सुखी हूगा। मुझे अब मोहादिसे कोई प्रयोजन नहीं।

२२४-सार मार्ग।

परम अतीन्द्रिय सुखका धारी ज्ञानमई आत्मा जब अपने अभेद्य अकाट्य ज्ञानमई दुर्गमें निवास करता है तब इसके स्वरूपको मलीन करनेके लिये कषायोंके मलका बहना बद होजाता है। विषयोंकी कालिमा दूर हो जाती है। कर्मबधन सब ढीले पड़के मानो भिन्न समान हो जाते हैं। कोई शत्रु इसे विजय नहीं कर सक्ता। वास्तवमें आत्मानुभव रूपी दुर्गकी ऐसी ही महिमा है। इस दुर्गमें निवासीके मस्तकपर रत्नत्रय मई मुकुट अत्यन्त शोभाको विस्तारता है, जो निवृत्तिको प्राप्त हो समताभावका आलम्बनले इस अपने ही स्वरूपकी समाधिमें जमता है वही सार मोक्षमार्गको पाता हुआ स्वरूपालम्बी हो जाता है। मैं हू व नहीं, म ध्याता हू व ध्येय, मे ज्ञाता हू व ज्ञेय, इत्यादि विकल्पोंसे रहित जो होना है वही आपमें आपको आपसे आपके लिये ठहरा लेता है। यद्यपि कथनमें कारकके विकल्प हैं पर स्वरूपास्वादके स्वसवेदनमई अनुभवमें कोई कारकके विकल्प नहीं है। जब निश्चय स्वरूपमें जमता है मन, वचन, काय तीनों अपने आप होकर शून्य समान होजाते हैं। वहा न कुछ ग्रहण करना है और न कुछ त्यागना है। यह

नाना प्रकार है। जैसे दूधके मक्खनके मथनसे घी निकल आता है वैसे आपसे ही आपके स्वरूपके मथनसे स्वयं परमतत्व निकल पड़ता है। इस परमभावनाको करते करते प्राणी एक ऐसे भावरूपी धाममें पहुंच जाते हैं जहां न मनन है न विचार है न भावना है। वह एक स्वतत्वकी आनन्ददायिनी नदीके भीतर गोता लगा कर उसीमें बैठ रहता है। इस अनुभव मई गोतेसे ही आपका आपमें निवास है व इसीसे ही परमानन्द विलास है।

२२३ मोह शत्रु।

है यहां मोह शत्रु, वह महा दुष्ट है—उसीके ही प्रपचमें फंसकर मैंने अनेक विपत्तियें उठाई हैं। तथा अनेक आपत्तियें झेली हैं, चारों गतियोंमें भ्रमण करके अपनी लाज खोई है। अब देखूं तो उसे चीर फाड़ करके फेंक दूं। इस तरह विचार करके ज्योंही जब छः द्रव्योंके भीतर मोह भावको ढूंढने जाता है तो किसी भी द्रव्यके स्वभावमें इसे नहीं देख पाता है। पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, कालको तो अजीव रूप ही देखता है। उनमें कोई चेतनाकी परिणति नहीं झलकती है। इसी तरह जब जीवको भी उनसे भिन्न उसके स्वभावमें देखा जाता है तो वहां सिवाय चेतनाके शुद्ध स्वाभाविक गुणोंके कोई विकारी भाव नजर नहीं आते हैं। वहां न मोह है, न राग है, न द्वेष है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न हास्य है, न शोक है, न विस्मय है, वहां तो परमानंद और परम वीतरागता है। वहां एकेंद्री द्वेंद्री आदिके विकल्प व मिथ्यात्व सासादन आदि गुणस्थानोंके कोई भेद कुछ भी नजर नहीं आते। तथा जब कभी निज आत्माको सर्व द्रव्योंसे भिन्न देखा जाता है

२२६-महान् योग.

यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार कर देखा जाय तो इस जगतमें जिस महान योगके साधनसे परमात्माको वश किया जाता है वह योग अपने ही आत्मामें है और जिसे वश किया जाता है वह व्यक्तित्व भी अपने ही आत्मामें है। निश्चयसे आप ही साधन हैं आप ही साध्य है। आपहीके अनुभवसे आपकी शुद्धि है। आपहीके ध्यानसे आपका विकाश है। आपकी उन्नतिसे आपहीकी समृद्धि है। उपयोगको जो रागद्वेषसे मूर्छित हो अपनी मातृभूमिको छोडकर पर भूमिमें विहार कर रहा है खींचकर अपनी भूमिमें ही विहार कराना और अन्यत्र जाने न देना ही महान योग है। यही महान यज्ञ है जिसमें ध्यानकी अग्नि जल रही है, कर्म ईंधन दग्ध हो रहे हैं, कर्म वर्गणारूपी धूम्र निकल रहे हैं, स्वात्मरसवेदनका घृत पड रहा है, जिसकी सुगंध स्व और परको आल्हादित कर रही है। इस यज्ञके फलसे किसी पर वस्तुका लाभ नहीं होता, किन्तु जो कुछ पर है उसका वियोग होता है और यह आत्माराम स्वयं परम वीतरागतामें आरूढ होकर परमेश्वरत्वको प्राप्त होजाता है।

२२७-समता माहात्म्य.

एक ज्ञानी आत्मा अनेक प्रकार शत्रुओंसे ताडित तथा मित्रोंसे लालित किया जाता है परन्तु उसके ऊपर इनके द्वेष तथा रागका कोई असर नहीं होता, जैसे जड पदार्थपर क्रोध और रागका कोई असर नहीं होता। वास्तवमें जो जड तुल्य निष्कम्प निज स्वरूपानन्दमें होजाते हैं उनके भीतर समताका अद्भुत प्रभाव प्रगट हो जाता है। उस समताकी निर्मल भूमिकामें जैसे जलके ऊपर चिकन

ऐसे सार मार्गपर गमन है वहा सुखशांतिका पद पद पर लाभ है। वहाँ समता–सागरका बहाव है। जिसमें निमज्जन परमाल्हाद रूप है। जहा मार्ग और पहुचनेके स्थानका विकल्प नहीं वही सार मार्ग है। वही आनदसोपान है। वही मुक्तिका साक्षात् साधन है।

२२५–आत्म-आराम।

एक व्यक्ति जगतके सर्व वनोंमें निराकुलताको न पाता हुआ यकायक अपने ही आत्माके परम सुख शांतिमय आराममें पहुचता है और वहा जाकर एक ऐसे आनदको पाता है जिसका मनसे विचार व वचनोंसे कथन अत्यन्त दुर्लभ है। इस अद्भुत वनमें जबतक कोई व्यक्ति ठहरा रहता है तबतक न उसे भूख है, न प्यास है, न प्रमाद है, न कोई रागद्वेष मोह क्रोधादि भाव है, न कोई विघ्न है, न बाधा है। इस वनमें शातिमई छाया है और निजानद मई अमृतरसकी परिपूर्णतासे भरा हुआ ज्ञानमई महान् स्वच्छ सरोवर है। जहा लोकालोक अपनी अनतगुण पर्यायके समूह सहित झलक रहे हैं। इस आत्माराममें विहार करनेवालेको ऐसी एकाग्रता और तृप्तता प्राप्त होती है कि उसको वहासे रञ्चमात्र भी फिक्र पैदा नहीं होती है। इस वनमें सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य्य, सुख, चेतना आदि जितने ही अकथनयोग्य गुणरूपी वृक्ष हैं जिनमेंसे हरएककी छायामें ठहरता व हरएककी सुगध लेता व हरएकके शातिमय फलके भोगसे निजानद भोगता है। कालकी गतिके बीतते जानेपर भी आत्मारामका रमण कभी अत नहीं होता है। जो ऐसे अनुपम बागकी क्रीड़ा करने हैं ऐसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि धन्यवादके पात्र हैं।

२२६–महान् योग।

यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार कर देखा जाय तो इस जगतमें जिस महान योगके साधनसे परमात्माको वश किया जाता है वह योग अपने ही आत्मामें है और जिसे वश किया जाता है वह व्यक्तित्व भी अपने ही आत्मामें है। निश्चयसे आप ही साधन है आप ही साध्य है। आपहीके अनुभवसे आपकी शुद्धि है। आपहीके ध्यानसे आपका विकाश है। आपकी उन्नतिसे आपहीकी समृद्धि है। उपयोगको जो रागद्वेषसे मूर्छित हो अपनी मातृभूमिको छोडकर पर भूमिमें विहार कर रहा है खींचकर अपनी भूमिमें ही विहार कराना और अन्यत्र जाने न देना ही महान योग है। यही महान यज्ञ है जिसमें ध्यानकी अग्नि जल रही है, कर्म ईंधन दग्ध हो रहे हैं, कर्म वर्गणारूपी धूम्र निकल रहे हैं, स्वात्मरसवेदनका घृत पड रहा है, जिसकी सुगंध स्व और परको आल्हादित कर रही है। इस यज्ञके फलसे किसी पर वस्तुका लाभ नहीं होता, किन्तु जो कुछ पर है उसका वियोग होता है और यह आत्माराम स्वयं परम वीतरागतामें आरूढ होकर परमेश्वरत्वको प्राप्त होजाता है।

२२७–समता माहात्म्य।

एक ज्ञानी आत्मा अनेक प्रकार शत्रुओंसे ताड़ित तथा मित्रोंसे लालित किया जाता है परन्तु उसके ऊपर इनके द्वेष तथा रागका कोई असर नहीं होता, जैसे जड पदार्थपर क्रोध और रागका कोई असर नहीं होता। वास्तवमें जो जड़ तुल्य निष्कम्प निज स्वरूपानन्दमें होजाते हैं उनके भीतर समताका अद्भुत प्रभाव प्रगट हो जाता है। उस समताकी निर्मल भूमिकामें जैसे जलके ऊपर चिक्कन

ऐसे सार मार्गपर गमन है वहा सुखशातिका पद पद पर लाभ है। वही समता-सागरका बहाव है। जिसमें निमज्जन परमानन्द रूप है। जहा मार्ग और पहुचनेके स्थानका विकल्प नहीं वही सार मार्ग है। वही आनदसोपान है। वही मुक्तिका साक्षात् साधन है।

२२५–आत्म-आराम.

एक व्यक्ति जगतके सर्व वनोंमें निराकुलताको न पाता हुआ यकायक अपने ही आत्माके परम सुख शातिमय आराममें पहुचता है और वहा जाकर एक ऐसे आनदको पाता है जिसका मनसे विचार व वचनोंमे कथन अत्यन्त दुर्लभ है। इस अदभुत वनमें जबतक कोई व्यक्ति ठहरा रहता है तबतक न उसे भूख है, न प्यास है, न प्रमाद है, न कोई रागद्वेष मोह क्रोधादि भाव है, न कोई विघ्न है, न बाधा है। इस वनमें शातिमई छाया है और निजानद मई अमृतरसकी परिपूर्णतासे भरा हुआ ज्ञानमई महान् स्वच्छ सरोवर है। जहा लोकालोक अपनी अनतगुण पर्यायके समूह सहित झलक रहे हैं। इस आत्माराममें विहार करनेवालेको ऐसी एकाग्रता और तृप्तता प्राप्त होती है कि उसको वहामे रचमात्र भी फिक्र पैदा नहीं होती है। इस वनमें सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य, सुख, चेतना आदि कितने ही अकथनयोग्य गुणरूपी वृक्ष हैं जिनमेंसे हरएककी छायामें ठहरता व हरएककी सुगध लेता व हरएकके शातिमय फलके भोगसे निजानद भोगता है। कालकी गतिके वीतते जानेपर भी आत्मारामका रमण कभी अत नहीं होता है। जो ऐसे अनुपम बागकी क्रीड़ा करते है ऐसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि धन्यवादके पात्र हैं।

२२६–महान योग.

यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार कर देखा जाय तो इस जगतमें जिस महान योगके साधनसे परमात्माको वश किया जाता है वह योग अपने ही आत्मामें है और जिसे वश किया जाता है वह व्यक्तित्व भी अपने ही आत्मामें है। निश्चयसे आप ही साधन है आप ही साध्य है। आपहीके अनुभवसे आपकी शुद्धि है। आपहीके ध्यानसे आपका विकाश है। आपकी उन्नतिसे आपहीकी समृद्धि है। उपयोगको जो रागद्वेषसे मूर्छित हो अपनी मातृभूमिको छोड़कर पर भूमिमें विहार कर रहा है खींचकर अपनी भूमिमें ही विहार कराना और अन्यत्र जाने न देना ही महान योग है। यही महान यज्ञ है जिसमें ध्यानकी अग्नि जल रही है, कर्म ईंधन दग्ध हो रहे हैं, कर्म वर्गणारूपी धूम्र निकल रहे हैं, स्वात्मरससंवेदनका घृत पड़ रहा है, जिसकी सुगंध स्व और परको आल्हादित कर रही है। इस यज्ञके फलसे किसी पर वस्तुका लाभ नहीं होता, किन्तु जो कुछ पर है उसका वियोग होता है और यह आत्माराम स्वयं परम वीतरागतामें आरूढ़ होकर परमेश्वरत्वको प्राप्त होजाता है।

२२७–समता माहात्म्य.

एक ज्ञानी आत्मा अनेक प्रकार शत्रुओंसे ताड़ित तथा मित्रोंसे लोलित किया जाता है परन्तु उसके ऊपर इनके द्वेष तथा रागका कोई असर नहीं होता, जैसे जड़ पदार्थपर क्रोध और रागका कोई असर नहीं होता। वास्तवमें जो जड़ तुल्य निष्कम्प निज स्वरूपानन्दमें होजाते हैं उनके भीतर समताका अद्‌भुत प्रभाव प्रगट हो जाता है। उस समताकी निर्मल भूमिकामें जैसे जलके ऊपर चिक्कन

पदार्थका कोई असर नहीं होता वह दूरर ही रहता है उसी तरह रागादि विकार भावोंका कोई असर नहीं होता। इस समताकी भूमिकामें अभेद रत्नत्रयका दीपक आत्मज्ञानकी ज्योतिको दीप्तिमान करता है और इस ज्योतिके कारण समताके स्वामी आत्मप्रभुको सर्व ही त्रिलोकवर्ती पदार्थ मालिका अपने यथार्थ स्वरूपको झलकाती है वहा भ्रामकभावकी कोई भी कालिमाका दर्शन नही होता है। इस समताके माहात्म्यसे इस ज्ञानी आत्माका विभव अपनी पूर्ण सम्पत्तिसे पूर्ण है। उसे अपनी सम्पत्तिका पूर्ण भोग प्राप्त होता है। इस सम्पत्तिके मध्यमें किसी भी पर द्रव्यकी सम्पत्तिका प्रवेश नहीं है। यथार्थ अतींद्रिय आनदका विलास स्वात्ममई समताके माहात्म्यसे ही निरतर वर्तन करता है, ऐसी समता देवीकी सदा जय हो, यह निरतर हमसे प्रतिष्ठित रहे।

२२८-जगत-दृश्य।

इस जगत दृश्यको देखनेके लिये जिस आखकी आवश्यक्त होती है वह ज्ञानचक्षु जिसके निर्मलताके साथ उघड़ जाते हैं उस ज्ञानचक्षुमें यह जगतदृश्य अपनी स्वभाव शक्तिको लिये हुए यथार्थ झलकता है। वहा पदार्थोंकी अनेक स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायें माल्रम होती हैं तथापि वे कोई तरहका विकारभाव नहीं पैदा क सक्ती हैं, क्योंकि निर्मल ज्ञानदर्शकमें जो निश्चयरूप द्रव्य रचन माल्रम होती है। वह सब एक उदासीन भावको लिये हु निःक्रियरूप ही झलकती है। ज [illegible] को देखकर नहीं करता है। इस ज्ञानदर्श [illegible] देखनेसे किन्तु सतोष अपनी सम्पत्तिके [illegible] आत्मारूपी

शांति और आनन्दके अमूल्य धनमें गाढ रुचि और संतोष इस ज्ञानभावको होना है–इसीसे यह परम तृप्त है। जब आप ही दर्शक व आप ही दृश्य बन जाता है–तब अपनी सन्मुखता अपने स्वरूपमें हो जानेसे परम आल्हादभाव पैदा होता है। इसीका अनुभव निश्चयधर्मका मनन है।

२२९–परमतत्व।

जगतमें करणत्रयकी शक्तिसे पूर्ण पदको प्राप्त ज्ञानी महात्मागण जिस तत्वके अनुभवसे निजानंदका विलास करते हैं उस परम तत्वकी महिमा अगाध है। जो तत्वके खोजी हैं वे व्यवहारके भेदपूर्ण मार्गोंसे हटकर निश्चयके अभेद स्वतंत्र मार्गपर आरूढ़ होजाते हैं। उस निश्चय पथपर चलनेवालोंको सिवाय आत्माके स्वाभाविक शुद्ध गुणोंकी पंक्तिके और कुछ दीखनेमें नहीं आता है। इसी पंक्तिको दूरसे देखते देखते जब वे बिल्कुल निकट पहुंचते हैं तब उस पंक्तिसे और दर्शककी दृष्टिसे बिलकुल एकता होजाती है उसी जगह परमतत्वका दर्शन होता है। यह परमतत्व स्वरूप समाधिका बीज है। इस परमतत्वमें साक्षात् आनंदश्रोत बहता है जिसके निर्मल जलके स्नानमें मुनिगण सदा तृप्त रहते हुए जगतके रसोंकी अभिलाषा नहीं करते हैं। इस परमतत्वकी जय हो जो अपनी परम ज्योतिके सामने जगतके ज्योतिवान पदार्थोंकी ज्योतिको मन्द कर देता है। इस परमतत्वके विराजते हुए क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय अपना दर्शन नहीं देते हैं। शांतिका पूर्ण साम्राज्य रहता है। यदि कोई स्वतंत्रताको चाहे उसे इस परमतत्वके रसमें भीगना, इसीके अमृतमई जलमें स्नान करना व इसीकी सुगंधको लेना, व

इसीकी गुणपूर्ण तरंगोंमें तैरना, व इसीके भीतर डुबकी लगा बैठ जाना चाहिये। यह परमतत्त्व सर्व प्रकार सुखदाई है। इसकी संगतिसे भव संतापकी ज्वाला शांत होजाती है। भेद विज्ञानके प्रतापसे इस परमतत्त्वका लाभ होता है। धन्य हैं वे भव्य जीव जो इस अनुपम तत्त्वको ध्यानमें रखते हुए शिवस्वरूप रहनेमें पुरुषार्थी बन निश्चयधर्मका मनन करते और निजी संपत्तिका भोग करते हैं।

२३०-ज्ञान महत्त्व.

परमयोगी जिस तत्त्वको मनमें ध्याते हैं वह तत्त्व सम्पूर्ण अज्ञान तत्त्वोंसे विलक्षण है। उस तत्त्वमें ज्ञान महत्त्वकी ही विशेषता है। यह इतना वृहत् है कि इसमें सर्व लोकालोक जिसकी सत्ता है वह अपनी सर्व पर्याय सहित एक समयमें झलकता है। तथापि यदि अनंते लोक हो तौभी ज्ञानमें शक्ति है कि उनको प्रगटा देवे।

इस ज्ञानके महत्त्वको जिस तत्त्वने धार करके भी अपनेमें रागादि विकार भावोंको स्थान नहीं दिया है वह तत्त्व ही परमसार है। वही समयसार है। वही आत्माका निज धन है। जो इस धनको ही अपना धन समझते हैं और सर्व भौतिक धनोंसे उपेक्षित हैं वे ही ज्ञानी निज ज्ञानकी भूमिकामें कल्लोल करते हुए सदा ही आनन्दमई भावमें प्रफुल्लित रहते हैं। उन्हें जगतमें न कोई शत्रु है न कोई मित्र है। परम समतामई रसका ही वहां विलास है। यदि कोई सूक्ष्मदर्शी उस तत्त्वके भीतर किसी पुद्गलकी शक्तिको देखना चाहे तौभी उसे उस पुद्गलका रंच मात्र भी दर्शन नहीं होगा। चिच्चमत्कारमई ज्योतिसे स्फुरायमान यह निज तत्त्व सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंकी ज्योतिको मंद करनेवाला और शांतिमई सर्व पदार्थों

अनौपम्य शांत रसको निस्तारने वाला है। धन्य हैं वे जो इस ज्ञान महत्त्वसे परिपूर्ण तत्त्वको अनुभव करते हुए स्वरूपमें सदा जागृत रहते हैं।

२३१–जगत् दृश्य।

हम ज्यों२ वस्तुके स्वरूपका विचार करते हैं त्यों २ परिणामोंमें शांतिमई झलक बढ़ती चली जाती है। द्रव्य दृष्टि वस्तुके सामान्य विशेषात्मक स्वरूप पर विना परनिमित्तज विकल्पोंपर ध्यान दिये जब थिर होजाती है तब समताका समुद्र अपने सामने बहने लगता है। उसमें स्नान करने, उसका निर्मल जल पीने व उसके रसास्वादमें तृप्ति पानेसे भव भ्रमणकी आकुलता शांत हो जाती है और एक ऐसी अवस्थामें परिणाम पहुंच जाता है कि जहां सिवाय आप आपके और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता। आपमें भी विशेषानुभव छूटकर सामान्य अनुभव रह जाता है। जिसके प्रतापसे परमानद झलक उठता है। जगतके क्षणिक सुखोंकी वासना मिट जाती है। इस स्वरूप अनलमें कषाय ग्राम उजड़ हो जाता है। आश्रव बंध मालूम नहीं कहां चले जाते हैं। संवर और निर्जराका राज्य हो जाता है। और तब यह ज्ञाता दृष्टा आत्मा जगतदर्शी होता है और यह जगत दृश्य हो जाता है। यह जगत रागद्वेषका विषय नहीं रहता। इसी दृष्टा ज्ञातापनेमें सुख शांतिका विलास रहता है।

२३२–परमानन्द।

जगतके संतापसे दूरवर्ती ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब अपनी आत्मभूमिमें देखता है तो वहां एक ऐसे गुणका ..

नेमें आता है जिसकी चादनीमें सर्व गुण शोभायमान प्रतीत होने हैं उसका नाम है परमानन्द। इस परमानदका विकाश आत्मद्रव्यमें इसी तरह है जिसतरह एक रत्नमें उसकी निर्मल ज्योति हो। इस आनदके सामने सर्व जगतके सुख नीरस दीखते हैं। इस आनदका वेग धाराबाही वहा करता है जब आत्मा अपनेको आपमा ही जान कर अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपमें तन्मय हो परिणमन किया करता है। आत्मद्रव्यमें एक अनुपम गुण सर्वको जानकरके भी वीतराग रूप रहनेका है जिससे यह आत्मा किसी परद्रव्यको व उसके किसी गुण या पर्यायको ग्रहण नहीं करता और न अपने द्रव्य या गुणके किसी अशको त्यागता है। ग्रहण व त्यागके विकल्पसे शून्य यह ज्ञानी आत्मा अपनी सत्तामें अभेद रूपसे आपको ही पाता हुआ व आपको ही ध्याता हुआ परमसुखी और परम तृप्त रहता है।

२३३-परिणमन अनिवार्य.

जगतके पदार्थोंमें समय समय परिणमन करना स्वभाव है–कोई भी पदार्थ कूटस्थ नित्य नहीं रह सक्ता। यदि पदार्थ बिल्कुल नित्य हो तो उसमेंसे कोई भी कार्य सपादन नहीं होसक्ता। जैसे यदि सोना व लोहा एकसी दशामें रहें तो उनसे आभूषण व वर्तन तवा आदि बन नहीं सके। यदि जीव एकसी दशामें रहे तो जीवोंमें कभी शोक कभी हर्ष नहीं हो, न शरीर त्याग हो और न शरीर ग्रहण हो। इसलिये प्रगट दृष्टांतोंसे परिणमनशील स्वभाव द्रव्य है यह सिद्ध है। द्रव्य चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध हो यह परिणमन स्वभाव उसमेंसे मिट नहीं सक्ता है। जो सर्वज्ञ आत्मा है उनके

ज्ञानमें तीन कालवर्ती सर्व द्रव्योंके परिणमन जैसे कुछ हुए हैं होते हैं व होंगे वे सब वैसेके वैसे ही प्रति समय प्रगट होरहे हैं। ऐसी दशामें एक ज्ञानी आत्मा यही जानता है कि पदार्थोंके परिणमन मेरी भावनाके अनुसार हों व न हों परन्तु जो कुछ परिणमन हुए हैं वे सब सर्वज्ञके ज्ञानगोचर थे वे अन्यथा नहीं होसक्ते थे—इस तरह सत्यज्ञानके रगमें रगा हुआ ज्ञानी आत्मा रागद्वेष त्यागकर वीतराग भावमें स्थिर रहता हुआ अपनी वस्तुके स्वभावको जानता हुआ अपनी निज ज्ञान चेतनामें तन्मय रहता है और इस तरह अभेद भावमें अकम्प रह निश्चय रत्नत्रयमई भावका स्वाद लेता हुआ परम सुखी बना रहता है।

२३४—अवक्तव्यीय तत्व।

जगतमें ज्ञानकी अपूर्व महिमा है—उस ज्ञानकी स्थापना पुद्गलमें करके दूसरेको बताना सो वचन विलास है। इस वचन विलाससे सर्वांग कथन हो नहीं सक्ता। सकेत रूप कुछ होता है—कहनेवाला जो जानता है सो दर्शा सक्ता नहीं—सुननेवाला शब्दोंके सकेतसे जब अपने ज्ञानके भडारकी तरफ जाता है तब ही समझ पाता है। निज तत्व जो आत्माका अनत गुणमयी अखड स्वरूप है वह यथार्थमें अनुभवगोचर है—उसके लिये समझने समझानेकी चेष्टा करना उन्मत्त चेष्टा मात्र है। श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतकमें कहते हैं—

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान्प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥

स्वतत्व स्वतत्वमें है। जो परतत्वसे पराङ्मुख हो स्वतत्वमें

स्वत्र सन्मुख होता है सो स्वतत्वका अनुभव पाता है–उस स्वानुभवमें परद्रव्यके गुणपर्यायोंका व अपने ही गुणपर्यायोंका भेदरूप दर्शन नहीं होता–ऐसा हू ऐसा नहीं यह कल्पना नहा रहती–स्वरूपाशक्ततामें क्या झलकता है सो वही जाने जिसके स्वरूप झलके। एक आमफलके स्वादके अनुभवका यथार्थ कथन जब अशक्य है तब स्वात्माके आनद वेदनका कथन कैसे हो सक्ता है–जो वेदक है वही ज्ञाता है उसके कहने सुननेका धर्म ही नहीं है।

२३५–शांत भाव।

जगतमें आत्मनिधिके बराबर कोई निधि नहीं है। इस निधिके सामने सर्व निधि तुच्छ है। यह निधि जब शातभाव स्वरूप है तब ससारकी निधियें अहकार वर्द्धक तथा आतापकारक हैं। अन्य निधियें जब पराधीन हैं और पराधीनता हीमे प्राप्त होती हैं तब आत्मनिधि स्वाधीन है, अपने आपमें ही प्राप्त होती है। जिस सुखशातिका भोग स्वाधीनताका फल है वही भोग निज स्वरूपके विकाशमें प्राप्त होता है। शातभावकी महिमा अपार है। यह हरएकको आल्हादकारी है। जगतमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो शातभावसे कष्ट उठावे। शातभाव आत्माकी सपदा है। जो शातभावके अधिकारी हैं वे ही यथार्थ ज्ञानके भडारी हैं। शातभाव ज्ञानवर्द्धक तब अशातभाव ज्ञानकी हानि करनेवाला है। अशातभावका कारण परद्रव्य, परगुण, पर पर्यायका ममत्व है। जहा परका कोई ममत्व नहीं जहा आपकी परिणति आपमें होती है वहा न कोई विकार है न कोई सताप है न कोई दुःख है न कोई सदेह है। वहा पूर्ण शातिका राज्य है। वहा अनुपम आनद है। वहीं अनुपम विलास है।

२३६--गुण ग्राम.

सर्व सक्ल्प विकल्पोंसे दूर ज्ञाता दृष्टा आनदमई चेतन पदार्थकी सत्तामें अनत गुणग्राम वास करते है। एक २ गुणग्राममें अनत अविभाग प्रतिच्छेद रूप अशोंकी बस्ती है, जिनका पता पाना सिवाय केवलज्ञानके और किमीको सभव नहीं है। मैं स्वय अनत वीर्यधारी एक स्वतत्र चेतन पदार्थ हू। मैं यद्यपि चिरकालसे अपनेमें ही निवास करता हू परन्तु मैंने अपनी सम्पत्तिकी सम्हाल नहीं की। आज मैं निजभण्डारकी गणनामें लगा हू। गणना करता हुआ पार नहीं पाता हू। किन्तु इतना अवश्य निश्चय करता हू कि जो कुछ मुझे चाहिये सो सब मेरे ही पास है। में जिस सुखके लिये बहुत ही कष्ट सहकर पर पदार्थोंका सग्रह करता था तौभी चिरतृपित रहता था। आज उस सुखको अपनेमें ही अटूट देखकर मैंने और सब अभिलाषाओंका परित्याग कर दिया है। और स्थिरताके साथ अपनेमें ही रहना उचित समझा है। मुझे अपने गुण पुष्पोंकी अभेदताकी अनुपम सुगध आरही है। इस आनददायिनी सुगधमें मैं भ्रमरके समान आसक्त होरहा हू। मुझे न करना है, न हरना है, न तजना है, न ग्रहण करना है। मैं अपनी सत्तामें सदाके लिये लुप्त हो जाता हू। अब कभी परके सन्मुख नहीं होऊगा।

२३७--अटूट धन.

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब अपने भीतर देखता है तो अतीन्द्रिय आनन्दका अटूट धन पाता है। निरतर इस धनका भोग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकत्व परिणति द्वारा करते हुए

भी यह धन कुछ भी कम नहीं होता । इस अटट धनकी महिमा वचनोंसे अगोचर है । इस धनकी उपमा किसी भी जगतकी सप त्तिसे नहीं दी जा सक्ती है । इस धनके धनीको सम्यग्दृष्टी कहते हैं । सांसारिक सुखसे इस सुखका मुकाबला करना वास्तवमें ठीक नहीं है । कहां वाल्ररेत असार कहां तेलसे भरे तिल । इस धनके भोगके लिये जो जगतकी राज्य सम्पदाको लात मार देते हैं वे ही सच्चे वीर हैं । सिद्धात्मा अनंतकालके लिये इसी धनके उपभोगमें लवलीन रहते हैं और ऐसे तन्मय होजाते हैं कि जगतके प्राणी सिद्धोंकी कितनी भी स्तुति करें व कितनी भी स्मृति करें तौ भी सिद्ध महाराज किसीकी सुनते नहीं न किसी तरफ अपना रुख करते हैं । उनकी अपेक्षा कोई निन्दो व स्तुवो, उन्हें जगतसे कोई मोह नहीं है । वे तो अतीन्द्रिय धनके स्वादमें भ्रमर जैसा कमलमें लिप्त हो ऐसे लवलीन हैं । कहनेको तो मान कषाय छोड़ा है परन्तु वास्तवमें देखो तो भगवान सिद्धके समान मान और किसीको नहीं है । कहनेको तो लोभ छोड़ा है पर वास्तवमें सिद्ध भगवानको जैसा इस अमिट धनसे लोभ है वैसा लोभ किसीको भी नहीं । कहनेको तो मायाचार छोड़ा है पर वास्तवमें सिद्धोंके समान मायाचार किसीको नहीं जो उन्होंने अपने इस अटट धनको अपने पास छिपा लिया है और अपनेको प्रगट करते हैं कि हमारे पास तिल तुसमात्र भी परिग्रह व पर वस्तुका सम्बन्ध नहीं है । कहनेको तो क्रोध छोड़ा है पर वास्तवमें क्रोध इतना है कि जगतभरसे रूठकर लोकके अग्रभागमें बैठ गए हैं—लोग हजारों प्रार्थनाएं करते हैं पर कुछ भी दया नहीं दिखलाते तथा जो कोई जरा भी

अप्रेम व अनादर भाव करता है वह तुर्त ही पापी बन जाता है। इस तरह चारो ही कपायोसे पूर्ण सिद्ध भगवान जिस अटूट धनमें आसक्त है मैं भी उसीमें आसक्त होता हुआ अपने ही भडारमें निज सम्पत्तिके प्रभावको देख देख आनदमई होरहा हू।

२३८--ज्ञानमई बाण.

परमाराध्य ज्ञाता दृष्टा आनदमई आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंको दूर करके जब अपनी ही सत्ताके क्षेत्रमें खडा हो अपने ही शुद्ध भावसे ज्ञानमई बाणको उठाकर मोहनीय कर्मकी सेनाकी तरफ मारता है तो मोहकी सेना छिन्नभिन्न हो जाती है और सदाके लिये चेतनाका सामना करना बद कर देती है। ज्ञानमई बाण और वैराग्यके धनुषको लिये हुए यह क्षत्री वीर अपने आत्मवीर्यको प्रगट करता हुआ अपनी ही आत्म राज्यधानीका उत्तम राजा होरहा है। इसके राज्यमें कोई इसका शत्रु नहीं है। हर स्थानमें आनन्द ही आनन्द छाया हुआ है। इस राज्यकी सब गुण रूपी प्रजा अपने पूर्ण महत्वको लिये हुए पूर्ण बलके साथ विना बाधा पाए हुए व विना अन्यको बाधा दिये हुए स्वतत्रतासे कल्लोल कर रही है। रागद्वेष वैर विरोधका चिन्ह मात्र भी नहीं है। समता व शातिका अनुपम राज्य है। इस राज्यधानीमें हिंसादि पाच पापोंका राज्य नहीं है। यहा महाव्रत और चारित्रकी अनुपम छटा है, इस छटाका जो आनन्द लेते हैं वे सर्व सकल्प विकल्पोंसे छूट जाते है।

२३९--पद्म बाण.

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंको दूर कर जब अज्ञान मिथ्यात्व असयत रूपी अन्धकारसे दूर हो सम्यक्त

ज्ञान चारित्रकी एकता रूपी सूर्य किरणका निमित्त पाता है तब यह कमलके समान प्रफुल्लित होजाता है। उस कमलमें केवलज्ञान-रूपी लक्ष्मी अपना मनोहर दर्शन देती है । जब कोई वीतरागी आत्मा शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे जगतकी आत्माओंके दर्शन करने लगता है तब उसको सब ही अनन्त आत्माओंका एक समूह पद्म वनके समान मालूम होता है। इस वनकी शोभा अकथनीय आनंद रूप है। इस वनमें समता, शांति और आनन्दका राज्य है। यहां कोई कालिमा नहीं नजर आती है—परम शुद्धताका स्थान है। जो कोई निज सार सुखके इच्छुक हैं वे इस पद्मवनकी भूमिकाको कभी नहीं त्यागते हैं। वास्तवमें जो कोई जन भ्रमरके समान इस पद्म-वनमें आसक्त होजाते हैं वे आत्मानुभवके परमानंदका लाभ करते हुए परम सुखी रहते हैं।

२४०-शांतभाव।

इस जगतमें यदि कोई शांतभावको ढूंढना चाहे तो उसको अपने आपमें आना चाहिये। अपनी ही भूमिमें अपने आत्मप्रभुको देखना चाहिये। यह आत्मप्रभु परम शांत गुणवाला है। उसमें रागादि विकारका कहीं रंच भी दर्शन नहीं होता है। शांतिके साथ आनन्द भी उसका स्वभाव है। इस शांतभावमें गर्भित आनन्दके भोगसे प्राणीको परम तृप्ति प्राप्त होती है। मान सरोवरके निर्मल जलसे इसको केवल शारीरिक शांति मिलती है जबकि इस आत्मीकसमुद्रकी शांतिसे आत्माके प्रदेशोंको शांति मिलती है। जिसने अपने आत्माको ज्ञान दर्शन सुख वीर्य, चारित्र आदि गुणोंका समुद्र समझा है व जिसने अपना भाव इसी समुद्रमें कल्लोल करनेका जागृत

कर लिया है वह आत्मा सदा ही इस शात सागरमें ट्रन रहता है। इष्ट वस्तुका जहा लाभ हो उसको छोड़कर अन्यत्र जाना बुद्धिमानूका काम नहीं है। बस यह भव्य जीव सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित होकर निज आत्माके अनुपम सुखदाई समुद्रहीमें रहता हुआ सदा सुखी बना रहता है।

२४१-परम संतोष।

एक ज्ञानी आत्मा जब अपनी चिरविस्मृत विभूतिका दर्शन पाकर उस विभूतिके भोगनेमे तन्मय होजाता है तब अपने अत -करणमें परम सतोष पाता है। उस सतोषमें कोई कपायका उद्वेग नहीं होता है। वह स्वाभाविक आत्माकी परिणति है। इस परिणतिके स्वामीको हम चाहे जिस नामसे कहें वास्तवमें न उसका नाम है न उसका कोई ठाम है। वह सदा ही अपने प्रदेशोंमें रहनेवाला अपने ही आधारसे आपमें कल्लोल करनेवाला है। उसकी सर्व शक्ति उसीमें रहती है। कोई उसे छोड़ कर चली नहीं जाती है। शक्ति शक्तिवानूका अभेद सम्बध है। बचनोसे न कहने योग्य होकर भी वह बचनोंसे मात्र सकेतरूप बताई जाती है। इस आत्मामें एक अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्दका विलास है। इस आनदकी प्रादुर्भूति षटद्रव्योंके यथार्थ ज्ञानसे एक श्रुतज्ञानीको होजाती है। केवलज्ञानीको पूर्ण ज्ञानसे पूर्ण अतिन्द्रिय सुखकी अनुभूति होती है। धन्य है जो इस सुखको पाकर परम सतोषका लाभ करते है।

२४२-यथार्थ प्रभावना।

परम प्रभु ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब कभी अपने ही असख्यात प्रदेशोंके मार्गमें निज आत्मारामको रत्नत्रयमई परम शोभायमान

धर्मरूपी रथमें विराजमान करके विहार कराता है तब सर्व आत्माके भीतर परम प्रभावना होजाती है। आत्माके सर्व शुद्ध गुण ज्ञानामृतसे द्रावित होकर परम प्रफुल्लित होजाते हैं। सर्व तरफ ज्ञानका प्रकाश छा जाता है। इस यथार्थ प्रभावनामें कोई बाधक नहीं होता क्योंकि यह प्रभावना स्वाभाविक निज आत्मीक धर्म है। इस धर्म और धर्मीमें तादात्म्य सम्बन्ध है जो कभी छूट नहीं सक्ता। धर्म है या धर्मी, गुण है या गुणी, भेद है या अभेद, चेतन है या अचेतन, बन्ध है या अबन्ध, एक है या अनेक, है वा नहीं इत्यादिक सर्व विकल्पोंका त्याग जहां रहता है वहींपर परम प्रभावना होती है। वहीं स्वानुभव झलकता है। वहीं स्वसंवेदन ज्ञानकी तरंगें उठती हैं। जहीं निज सम्पत्तिको भोगता हुआ आत्मा परम तृप्त और सुखी रहता है।

२४३–परम दुर्ग।

चेतन प्रभु सर्व मन, वचन, कायके हलनचलनरूप विकल्पोंको त्यागकर शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा आनन्दमई परमात्म स्वरूप निज अनंत गुणोंमे निर्मित आत्माके परम निष्कम्प व दृढ़ दुर्गमें निवास करता हुआ सर्व तरहसे निर्भय है। इसलोक, परलोक, वेदना, अनरक्षा, अगुप्त, मरण व अकस्मिक भय नहीं है। उसके आत्मप्रदेश अच्छिद्य, अभिद्य, अखंड तथा निश्चल है। कोई शक्ति जगमें ऐसी नहीं है जो उसे डावाडोल करसके। वह सर्व तरहसे स्वाधीन अपने स्वभावकी मर्यादामें तिष्ठता है। वह स्वच्छ और समुद्रके जलके समान पवित्र है। परम दुर्गवत् आत्मामें किसी भी चेतन अचेतन पर द्रव्यकी सत्ता नहीं है इसीसे वह स्वच्छ भावसे अस्तिरूप और

पर स्वभावोंसे नास्तिरूप है। जो कोई इस परम दुर्गका निश्चय करके उसीका आश्रय लेता है वह सब तरहसे निर्भय और स्वाधीन रहता हुआ व सब तरहकी चिन्ताओंसे छूटा हुआ व निज अनुभूति तियाके भोगसे उत्पन्न परमामृतका स्वाद लेता हुआ परम तृप्त रहता है।

२४४--सारमार्ग.

परम अतीन्द्रिय सुखमई पर्वत पर आरूढ़ होनेके लिये सार मार्ग अपने स्वरूपका अनुभव है। निज आत्माको जब रागद्वेष मोहके रगसे बचाकर समताके उज्वल रगमें रग दिया जाता है तब यह आत्मा स्वय सार मार्ग होकर अतीन्द्रिय सुखके पर्वत पर चला जाता है। इस सार मार्गमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्रका मिश्रित मसाला बिछा हुआ है कि जिसके जोरसे कर्मबधकी कालिमा वहा कुछ भी नहीं जम सक्ती है। इस सार मार्गमें जानेवालेको भूख, प्यास, गर्मी, सरदी, रागद्वेष आदिकी निर्बलता नहीं सताती है। यहा पद पद पर स्वात्माका सुखदाई रस पीनेमें आता है और यह आत्मा अनत सुखके शिखरपर पहुच जाता है।

२४५--निज सत्ता.

एक ज्ञानी आत्मा सर्व जगतकी पर सत्ताओंका नास्तित्व अपनी सत्तामें जानकर सबसे उदासीन होकर अपनी ही सत्तामें निवास करता है। निज सत्तामें उसके भोगने योग्य सर्व सामग्री प्राप्त होती है। वहा न परकीय भोजन न परकीय वस्त्रोंकी आवश्यक्ता है। वास्तवमें किसी द्रव्यको किसी अन्य द्रव्यका भोग हो ही नहीं सक्ता है। ... पास स्वात्मानन्दरूपी अमृत एक

परम भोजन है जो थोड़ा भी ग्रहण करनेसे जैसे तृप्ति देता है वैसे अधिक भी तृप्तिकारी होता है। निज सत्तामें सर्व लोकालोक दिखते हैं परन्तु किसीकी सत्ता किसी अन्य द्रव्यकी सत्तामें समा नहीं सक्ती। इसीसे निज सत्ता निराली है। अपने भीतर सिवाय निज धनके औरका धन किंचित् भी नहीं आ सक्ता है न किसीमें शक्ति है जो सत्ताके भीतर समाए हुए शुद्ध आत्मीक गुणरूपी धनको चुरा सके व नष्ट कर सके। मैं इस निज सत्तामें सर्व तरहसे कल्लोल कर रहा हूं और परमानंदका अनुभव कर रहा हूं।

२९६ सार सुख।

तीनलोक क्षेत्रमें यदि लोकाकाशमें देखा तो वहां सार सुख नहीं, यदि अलोकाकाशमें देखा तो वहा नहा। यदि धर्मास्तिकायमें ढूंढ़ा तोभी किसी प्रदेशमें नहीं, यदि अधर्मास्तिकायमें देखा तो वहां भी कहीं नहीं। यदि असंख्यात कालाणुओंमें देखा तो वहा भी नहीं। यदि अणु और स्कंध रूप पुद्गलोंमें देखा तो वहा भी कहीं पता नहीं चलता परन्तु जब पांचों अजीवोंको छोड़कर जीव द्रव्यमें देखा तो हरएक जीवके हरएक प्रदेशमें सार सुख भरा हुआ है। एक जीवमें असंख्यात प्रदेश होते हैं। एक एक प्रदेशमें इतना गहरा सार सुख रूपी अमृत है कि अनंतकाल तक भी पीया जाय तो वह कभी समाप्त नहीं होसक्ता है। सर्व अनंतानंत जीवोंसे यह जगत परिपूर्ण है। सब हीमें अगाध सुखामृतका सागर है। आंख मींचकर जब अनुभव करते हैं तब यह जगत सार सुखका एक बृहत् सागर दीखता है। फिर क्या है उस समुद्रमें कल्लोल करना व उसके जलको पीना कैसा सुखकर है। उसका कथन हो नहीं सक्ता जो ऐसे समुद्रमें रमते हैं वे ही निश्चय धर्मके मनन करनेवाले हैं।

२४७-भाववान् ।

जगतमें यदि कोई भाववान ज्ञान-परिणामी द्रव्य है तो मैं हू । मेरे सिवाय सर्व ही द्रव्य ज्ञेय है ज्ञानी नही । मैं ज्ञेय भी हू ज्ञानी भी हू । मेरी महिमा अद्भुत है । मेरे अदर तीनलोक अलोक झलकते हैं तथापि मेरेमें दर्पणवत् कोई विकार नहीं पैदा करसक्ते । मैं सबको देखता हुआ भी अपने आपको ही देखता । हू सबको जानता हुआ भी अपने आपको ही जानता हू । मैं किसी परद्रव्य, परगुण, पर पर्यायका कर्ता नहीं होता हू । तौ भी मैं अपनी शुद्ध परिणतिका नित्य ही कर्ता हू । मै किसी परद्रव्य, परगुण, परपर्यायका भोक्ता नहीं होता हू । तौ भी मैं अपनी शुद्धानुभूतिका निरतर भोगनेवाला हू। मैं किसी भी परद्रव्य, परगुण, परपर्यायमें नहीं जाता हू तो भी मैं अपनी ही गुणावलीके बागमें नित्य कल्लोल करता हू । मैं किसीको अपना द्रव्य, गुण, पर्याय नहीं देता हू तौ भी मैं आपको अपने ज्ञानामृतके स्वादको प्रदान करता हू । इस तरह भाववान मैं अपने ज्ञानानद भावमें तृप्ति पाता हुआ परमसुखी रहता हू ।

२४८-परमागम।

इस जगतमें यदि विचारकर देखा जावे तो जिस कागज स्याहीको व उसपर अकित चिन्हको लोग परमागम कहते हैं वह वास्तवमें परमागम नहीं है । परमागम सार जो भाव श्रुतज्ञान है वह आत्मज्ञानसे बाहर नहीं है । इसलिये आत्मज्ञान ही परमागम है । वही सच्चा आत्मज्ञानी है जिसने सर्व ग्रन्थावलीका आलम्बन त्याग दिया है और निजमें निजके स्वभावको धारण किया है ।

निज स्वभावका अनुभव ही परमागम है। स्वानुभव विना अनेक परमागमका पढना कार्यकारी नहीं है। जिसने शब्दको पुद्गलमई जानकर त्याग दिया है और चित परिणतिको ही चैतन्यमें प्राप्त किया है वही विद्वान् और शास्त्री है। मैं परमागमका स्वामी परमागम मेरा सिद्धांत यह विकल्प भी त्यागने योग्य है। संकल्प-विकल्परहित सार वस्तुका मनन महामोह आतंकको दूर करनेवाला है, रागद्वेषकी कालिमाको मिटानेवाला है। सर्व वचनविलासको त्यागकर मैं अवक्तव्य स्वानुभवगम्य निज पदार्थका ही दर्शन करता हूं। वही दर्शन सारसुखका उपाय है।

२४९-परमात्मतत्त्व।

इस छ द्रव्योंके समुदाय रूप लोकमें यदि विचार कर देखा जावे तो सार तत्त्व एक निज आत्म तत्त्व है। भेद विज्ञानकी दृष्टि जब अपने ही भीतर क्षेपन की जाती है तो पुद्गलके कार्योसे भिन्न एक आत्म तत्त्व झलक जाता है। इस आत्म तत्त्वमें हर प्रदेशमें ज्ञान दर्शन सुख वीर्यका दर्शन होता है। जहां देखो वहां शांति और आनंद ही दिखलाई पडते हैं। जहां देखो वहां दर्पणवत् निर्मलता स्फुरायमान है जिसकी स्वच्छतामें सर्व जगतके पदार्थ अपने गुण पर्याय सहित प्रतिबिंबित होते हैं तथापि आत्म दर्पणमें कोई विकार नहीं पैदा कर सके। यदि ध्यानसे देखते हैं तो इस आत्मतत्त्वमें कहींपर भी क्रोध मान माया लोभ आदि दोषोंकी छायामात्र भी नजर नहीं आती–सर्वत्र स्फटिकवत् मूर्ति अपने स्वरूपमें प्रकाशमान उप-स्थित है। इस आत्म तत्त्वको उपादेय मानकर जो इस तत्त्वका ही करते हैं वे साक्षात् आनन्दका लाभकर परमज्ञान होजाते हैं।

२५०--परमाल्हाद.

इस जगतमें परम आल्हाद रूप यदि विचार किया जाय तो एक आत्माराम है जिसमें न कोई आकुलता है न कोई आकुलताके कारण हैं। रागद्वेषादिकी कालिमा वहा अपना कोई स्थान नहीं रखती है न वहा अनत कर्मवर्गणाओंकि न आहारकादि नोकर्म वर्गणाओंके स्थान हैं। वह आत्माराम आकाशकी तरह परसे अलिप्त है, शुद्ध है, निर्विकार है, तथापि जड़त्वसे रहित चैतन्यमय है जिसमें आनद, चारित्र, वीर्य, सम्यक्त आदि अनेक विलक्षण ऐसे गुण हैं जो आकाशमें नहीं पाए जाते हैं। ऐसा होनेपर भी उसका चैतन्य-गुण दर्शन ज्ञानस्वरूपको नहीं त्यागता है। इसीलिये पदार्थोंकि सामान्य तथा विशेष गुणोंको झलकानेके स्वभावसे कभी नहीं छूटता। उसका स्वपर प्रकाशक स्वभाव प्रदीपकी तरह उसीमें जाज्वल्यमान रहता है। एक ज्ञानी आत्मा जब सपूर्ण पर आलम्बनोंको त्याग कर स्वावलम्बनोंको धारण करता है और सर्वसे किनारा कसकर निज स्वरूपसत्तामें ही ठहर जाता है तब उपयोग जिस स्वरूपका स्वाद पाता है वह आत्माका परमाल्हाद गुण है। इस परमानदकी तुलना किसी भी उपमेय पदार्थसे होना अशक्य है। यह परमानद भेदज्ञानीके अनुभवमें आकर जो चमत्कार प्रदर्शित करता है उसका साक्षात् ज्ञाता वही है जो इन चमत्कारोंको भोगता है और कर्ता है।

२५१- परम रस

ज्ञानी महात्माओंके लिये एक विचारणीय विषय यह है कि वे किसी ऐसे परम रसकी खोज करें जिस रसके स्वादमें परम तृप्ति और परम शांति है। पौद्गलिक षट्रसोंके भीतर यह गुण नहीं है।

ये रम अतृप्तिके वर्द्धक और अशांतिके कारक है। आत्मीक द्रव्यमें यदि खोज की जाय तो वहा अतीन्द्रिय आनन्दका रस वास्तवमें ऐसा रस है कि जो सब तरह सुखप्रद और तृप्तिकारी है। इस रसका समुद्र तो यह स्वय आत्मा है। अपनी ही वस्तुको अपनेमें पाना वास्तवमें कठिन न होना चाहिये, परन्तु अनादिकालसे उसका पता न मिलनेसे उसका पाना दुर्लभ हो रहा है। सहज उपाय यही है कि हम सकल्प छोडें और शुद्ध निश्चय नयका शरण लेकर अपने ही आत्माके गुणोंका चिन्तवन करें। इसीके बलसे सहज ही आत्मवस्तुका लाभ होता है और लाभ होते ही वह परम रस स्वादमें आजाता है। ज्ञानियोंको चाहिये कि अपने उपयोगको स्व स्वरूपकी तरफ सदा ही सन्मुख करते रहें और इसी लिये निज स्वभावके आराममें नित्य क्रीडा करें।

२५२-भावना।

भावना करना एक विकल्पजाल है। यद्यपि भावना आत्माके सुन्दर अजर अमर निर्मल अनतगुणपूर्ण बागमें पहुचा देती है और तब तब आत्माको पर पदार्थोमें जानेसे अटका देती है इसीलिये कर्मबन्धकी कालिमासे रक्षित करती है तथापि भावना अपने राज्यमें तो आत्माको बाधती ही है। इसीलिये मैं ऐसी भावनाको त्यागकर षोडशकारण भावनाके फल रूप निज आत्माकी शुद्ध परिणतिमें ही विश्राम करता हू। वहीं सुख शातिका समुद्र है। वहीं भव रोग हरण औषधि मिलती है। वही निर्मलताका धाम है। वहीं हमारे जाति भाई सिद्ध भगवान् भी वास करते हैं। वहीं एक ऐसी प्रकारकी सुगधि है कि जिस सुगधमें तन्मय हो

यह आत्मा बिलकुल उन्मत्त होजाता है और एकदम निज आत्मा-नुभूति तियामें लिप्त होजाता है—ऐसा रागी होजाता है कि उस रागकी उपमा कहीं भी इस लोकमें नहीं मिल सक्ती है। और वह राग युक्त आत्मा कभी भी इस अनुभूति रसको नहीं छोड़ता। आश्चर्य तो यही है कि भ्रमर कमलमें आसक्त हो जब अपने प्राण गमा देता है तब यह आत्मा निजानुभूति तियामें लीन रहते हुए सदा ही अमर और प्रफुल्लित बना रहता है।

२५३- साम्यभाव.

परम अतीन्द्रिय ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर निज स्वरूपके आनन्दमें तन्मय होजाता है तब वहां राग द्वेषकी कालिमाका दर्शन नहीं होता है। यह आत्मा स्वभावसे ही परम साम्यभावमें लय होजाता है। वास्तवमें साम्यभाव इस आत्माकी निज सम्पत्ति है। आत्माराम अपनी स्वास्थ्य अव-अवस्थामें साम्यभावका पूर्ण धनी रहता है। उसके लिये सर्व ही द्रव्य अपने २ स्वभावमें कल्लोल करते है। वहा कोई विभावता नहीं रहती है। शत्रु व मित्रकी कोई कल्पना वहा नहीं होती है। इस साम्यभावमें साक्षात् परमात्मारूप होकर यह आत्मा निजस्वभावके विलाससे उत्पन्न परमानदमई अमृत रसका स्वाद लेता है। एक भववनमें भटकने हुए भवातापसे सतापित आत्माको शाति देनेवाला यदि कोई मनोहर उपवन है तो यह साम्यभाव है। जो इस उपवनमें प्रवेश कर जाते हैं वे सर्व आकुलताओंसे छूटकर परम सतोषी व सुखी रहने हैं। सम्यग्दृष्टीके क्रीड़ाका स्थान यही साम्यभाव है। आत्माकी सपूर्ण सुन्दरताका दर्शन इसी स्थलमें प्राप्त होता है। जो

स साम्यभावमें जम जाता है सो ज्ञाता ज्ञेय, दृष्टा दृश्यका विकल्प टकर एक एकाकी स्वरूपासक्त हो जाता है। और स्वानुभवके तरा परम स्वभावका भोग करता है।

२५४--दशलक्षणी धर्म

परमानंदविलासी चित् परिणति विकाशी आत्मउपवन क्रीडा कारी आत्माराम जब अपने सार स्वरूपका अनुभव करता है तो उसको अपने ही भीतर दशलक्षण रूप धर्म वृक्ष देखनेमें आता है। क्रोध, मान, माया, लोभके विरोधी उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आत्माके निज गुण हैं ही। सत्य गुण आत्माके सदा साथ रहता है। वस्तुस्वरूपमें कोई असत्यता आ नहीं सक्ती, संयम भी आत्माका गुण है। आत्मा सदा संयमरूप है। इसीसे किसी भी पर वस्तुके गुण पर्याय आत्मामें स्थान नहीं पासक्ते। जो इच्छा विना स्वतृप्त रहता है वही परम तप धर्मका धनी है। उसके कोई इच्छाकी कालिमा नहीं होती है। जो वस्तु आत्मा अपने अनंत गुणोंको व धर्मोंको निरवकाश किये हुए है उसमें किसी भी परगुणके प्रवेशकी जगह नहीं है, वह उत्तम त्यागरूप है ही। जिसने परम संतोषके बलसे अपनी सम्पत्तिमें ही आपा माना है उसके परसम्पत्तिमें आपापना ही नहीं है। इससे परम आकिंचन्य-रूप है। जो अपने ब्रह्मानन्दका रसपान किया करता है कभी भी ब्रह्मको त्याग अब्रह्ममें नहीं जाता, वह परम ब्रह्मचर्यका स्वामी है। भेद नयसे १० भेदरूपसे अनुभवमें आता हुआ भी वह अपने स्वरूपमें पूर्ण अखंड है। जो सबसे हटकर आपमें ही निवास करता है वह अखंडानन्दका पान करता है।

२५५-उत्तम क्षमा।

न कोई मेरा शत्रु है न मित्र, मे स्वय वीतरागी ज्ञानी ज्ञाता दृष्टा हू। मेरेमें उत्तम क्षमा सदा ही निवास करती है। न मैं कभी कोई अपराध करता हू न दूसरा कोई मेरे साथ कोई अपराध करता है। इसलिये जैसी मेरेमें उत्तम क्षमा है वैसी ही सबमें उत्तम क्षमा है। इस उत्तम क्षमाकी सत्तामें द्वेषकी जरा भी मात्रा नहीं दिखलाई पडती है। इसका रग सदा ही सुहावना और शुक्ल है-सब जीव मेरे समान है न कोई कम है न कोई अधिक। सब ही असख्यात प्रदेशी, सब ही ज्ञान सुखादि अनत गुणोंके धनी, सब ही परमानन्दमई अविनाशी है। समतासमुद्रमे मैं और सब आत्माए डूब रही है। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयका आभूषण सब हीमें शोभायमान है। सब ही त्रिलोकस्वामी है। सब ही स्वाधीन हैं। परस्पर क्षमा मागनेकी व क्षमा करनेकी कोई जरूरत नहीं है। हे उत्तमक्षमे, तू चिरकाल हमारे हृदयमें निवास कर। तेरी मनोहर मूर्ति परमाल्हादकारी और सदा हितकारी है। धन्य हैं वे महात्मा जो तेरा दर्शन नित्य करते हैं। तू मुक्ति तियाकी परम सखी है।

२५६-सत्यकी चमकती हुई तलवार।

इस ससारमें निश्चय धर्म ही सत्य धर्म है-आत्माका स्वभाव है। सत्य धर्मकी तलवार चमकती हुई बहुत ही तेज है-जो असत्यको क्षणमात्रमें काटकर फेंक देती है। इस सत्य धर्मके मलीन करनेको भय, लोभ आदि अनेक विघ्न आते हैं। इन विघ्नोंके

पर निश्चय सत्य धर्म कुछ भी नहीं घबड़ाता–जैसे ऊपर पड़ा हुआ धूला क्षणभरमें झाड़ दिया जाता है उसी तरह अनेक मलोंका बादल भी सत्य धर्मपर मलीनता नहीं कर सक्ता है। सत्य धर्म सुमेर पर्वत सम दृढ रहता है। सर्व जगत विरुद्ध होनेपर भी सत्य धर्मका बाल बांका नहीं होता है। जो सत्यका सूर्य चमकाता है वही परम सत्य निज आत्माका अनुभव कर पाता है। जो जिस द्रव्यका गुण है वह उस द्रव्यमें सदासे वास करता है उन सब गुणोंकी आवली आत्मारामका सत्य धर्म है। ज्ञानी जीव परके द्रव्य गुण पर्यायको किसी भी तरह परमें आक्षेपण नहीं करता है। इसीसे सत्य सत्यको ही पाता हुआ नित्य सत्य धर्मके स्वादको लेता हुआ परम आनंदित रहता है।

२५७–गुण ग्रहण.

इस जगतमें जितने आत्मा हैं वे सब अपने २ स्वभावमें स्थित हैं। कोई भी अपने अनंत गुणोंको नहीं त्यागता–सर्व ही अपनी निराली ज्ञानमई सत्ता धनमें विराजमान हैं। अपने गुणोंको पहचानना ही अपने गुणोंका ग्रहण है। क्योंकि द्रव्यमें अन्य द्रव्य नहीं आता। किसी भी द्रव्यके गुण अन्य द्रव्यके गुणोंमें प्रवेश नहीं करते। ऐसा वस्तुस्वभाव स्वयं सिद्ध है, ऐसा जान मैं सर्व आलम्बनोंको त्यागकर एक निज स्वभावमें ही रमण करता हूं जहां पर अभेद ज्ञाता मात्र वस्तु अपने अनुभवमें आती है। निज स्वरूप सत्तामें विश्राम लेते ही सर्व आकुलताओंका समुद्र सूख जाता है। अतींद्रिय आनन्दकी छटा चमक उठती है। ग्रहण त्यागका विकल्प मिट जाता है। इस स्वरूप रमणमें कुछ भी झगड़ा किसीके द्वारा

अति तुच्छ व हेय है। जिन्होंने इस परमरसको पाया है उन्होंने शिवतियाको अपनाया है–उन्होंने ही ज्ञान साम्राज्यका पता पाया है, उन्होंने ही भवातापके दाहको शमन किया है। वे ही इस जगतमें रहते हुए भी जगतसे बाहर हैं। इस परम रसके स्वादीके लिये जगतमें कोई भी वस्तु प्रच्छन्न नहीं है–वह उन पदार्थोंके स्वभावको अच्छी तरह जानता है जिनसे यह जगत बना है। जानता हुआ भी उनके रसका रसिक नहीं होता है–रस तो अपने आत्मस्वभावका ही लेता है। यद्यपि ऐसा ही रस सपूर्ण आत्माओंमें है तथापि एक आत्मा अन्य आत्माके रसका वेदन नहीं कर सक्ता क्योंकि हरएक आत्माकी सत्ता भिन्न २ है। इसीलिये मैं सपूर्ण विकल्प जालको त्यागकर निज आत्मा हीके रसका वेदन करता हुआ परम सुखी होरहा हूं।

२६१–श्री निर्वाणसार.

परमानन्दमई ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व विभाव भावोंसे रहित होकर जब अपने गृहमें निहारता है तो निर्वाणभावका दर्शन पाता है। इस भावमें शुद्धोपयोग मात्र है। यहा कोई भी विभावता नहीं है। निर्मल स्फटिक समान निर्वाण भावकी मूर्ति दर्शनके योग्य है। इस मूर्तिमें अनन्तकालके अनन्त पदार्थ सब ज्योंके त्यों झलक रहे हैं। चेतन, अचेतन सर्व पदार्थ उस निर्वाणभावमें अपनी आभा मात्र चले तो जाते हैं परतु वे किसी प्रकारके रागद्वेषमें निमित्त कारण होनेके लिये असमर्थ हैं। इस निर्वाणभावमें अनन्त वीर्य अपनी त्रैलोक्य विजयी प्रभुताको लिये शोभायमान है। तथा अनन्त सुख भी बड़ी ही सतोषप्रद दशाको

२५९--मंत्रकी शक्ति.

मणि मत्र औषधिमें बड़ी शक्ति होती है। परन्तु भौतिकोंमें यह शक्ति नहीं जो इस आत्माको उस आराममें कल्लोल करा सकें, जहा सदा पवित्रता, सुन्दरता, शान्तता तथा आनन्दका ही विलास रहता है। परन्तु जगतमें एक मत्र ऐसा है जो इस अनूठे कामको कर सकता है। वह मत्र निज आत्माके ही तीन गुणोंसे बना है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतासे यह स्वसवेदन ज्ञानरूप मत्र बन जाता है। इस मत्रकी इतनी उत्कट शक्ति है कि मत्रका स्पर्श होते ही आत्माको अतीन्द्रिय सुख होता है तथा ससारी आत्माके सर्व कर्मके बन्ध ढीले पड़ जाते हैं। इस मत्रका जपना ही निश्चय धर्मका मनन है। भेद ज्ञानरूपी छेनीसे सर्व पुद्गलको भिन्नकर एक निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है, यही सम्यक्त यही ज्ञान और ऐसा ही चारित्र अर्थात् निज आत्मामें उपयोगकी थिरता मन्त्रका प्रयोग है। तत्वज्ञानी जीव णमोकार मत्र सरीखे महामत्रको भी त्यागकर एक इस स्वसवेदन मत्रका ही जाप देते हैं और इसीके प्रतापसे यहा भी स्वाधीन और सुखी होते हैं। तथा भविष्यमें भी स्वाधीन और मुक्त होजाते हैं।

२६०--परमरस.

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा आज सर्व सकल्प विकल्पोंको हटाकर अपने अविनाशी आनन्द मदिरमें कल्लोल कर रहा है। इस मदिरमें बैठा हुआ आत्मा निज स्वरूपकी अनुभूतिसे उत्पन्न परमरसका स्वाद ले रहा है। इस स्वादके सामने पौद्गलिक स्वाद

ही यहा भी अतींद्रिय आनन्दका लाभ करते हैं और परलोकमें भी अनन्त सुखके भाजन हो जाते है।

२६३-सुखांबुधि।

परमात्म रस गर्भित परम सुखसम्पन्न ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा एक ऐसे सुख समुद्रमें निमग्न है कि जिसका पता लगाना एक मिथ्यात्वीके लिये अति दुर्घट है। उस आनदसागरमें कोई भी कषाय ग्राह व विषय चाहरूपी मत्स्य नहीं रहते हैं, न इसमें सङ्कल्प विकल्प रूपी विकलत्रयोंका निवास है। यह क्षीर समुद्रकी तरह अतिशय निर्मल है। इस समुद्रके जलसे महान् आत्माए जो तीर्थंकर सदृश है उनहींका अभिषेक होता है-इस साम्य जलसे महान आत्माका स्नान अधिक साम्यताका द्योतक है। बड़ी२ दूर दूरसे मुक्तिनगरके यात्री आते है और इस सागरमें स्नान करके भवताप बुझाते है तथा इसका शात जल पानकर परम तृप्ति लाभ करते हैं उनको फिर अन्य किसी खाद्यके खानेकी जरूरत नहीं रहती है। इस आनदसागरका निवास कहीं अन्यत्र नहीं है-यह इस आत्माके प्रदेशोंमें ही लहराता है। भव्यजीव इसकी शोभा देख देख आनदसे पूर्ण होजाते है। धन्य है वे आत्माए जो आप ही सागर हैं, आप ही उसके जल है तथा आप ही उसमें नहाने-वाले हैं-इस विचित्र रहस्यको समझकर जो मौनी रहते है वे ही निश्चयधर्मका मननकर परम शातिका लाभ करते हैं।

२६४-परम साम्यभाव।

परमानन्द मई ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे बनी हुई चारित्र भूमिकामें कल्लोल करता हुआ

झलकाता हुआ चऔर निराकुलताका जल बर्षाता हुआ प्रकाशमान है। इस निर्वाणभावमें संसार दशाका अभाव है परन्तु आत्माके निजानन्दमई निज स्वरूप दशाका सदभाव है। कल्पना की जाय तो स्याद्वाद नयसे निर्वाणभावका स्वरूप मात्र कुछ झलकता है। यदि कल्पनाको त्याग किया जावे तो वह निर्वाणभाव केवल मात्र अनुभवमें ही आता है। और जो आनन्द प्रदान करता है उसका वर्णन किसी तरह नहीं हो सक्ता।

२६२–धर्मतत्व।

एक व्यक्ति जो अनेक प्रकार जगतके प्रपंच जालोंमें पड़ा हुआ दुःखकी अग्निमें जल रहा था, जब अपनी शक्तिकी सम्हाल करता है तो अपनेको सर्व प्रपंचजालोंसे छूटा हुआ तथा अनन्त गुणोंकी बनी हुई निर्मल स्फटिकमणि समान निर्मल भूमिकामें बैठा हुआ पाता है। और जब अपने स्वरूपको देखता है तो आनन्द और शांतिका अगाध समुद्र अपने भीतर निर्मल अमृतमई जलसे षट् गुणी हानि वृद्धिरूप कल्लोलोंको करता हुआ झलक रहा है ऐसा पाता है। तब सोचता है, कि मैं जिस आनन्दकी खोजमें चिरआसित था उसी आनन्दको अपने भीतर देख रहा हूं। मैं बड़ा अज्ञानी था जो अपने घरको नहीं देखता हुआ बहिर्मुख हो रहा था। आज मुझे बड़ा भारी संतोष है जो मैंने चिरकालकी खोजको फल पा लिया। अब मैं सर्व अन्योंकी शरणको त्यागकर एक निज आपकी ही शरण ग्रहण करूंगा। और उसीकी श्रद्धा, ज्ञान तथा अनुभूतिमें रमण करूंगा। मैंने अब अपने रत्नत्रयको अपने ही आत्मामें पालिया है। वास्तवमें यही धर्मतत्व है। इस तत्वके ज्ञाता

उनकी अपूर्व शोभा सहित विराजमान हैं ऐसा भाने हैं–हरएक द्रव्यमें कोई मलीनता नहीं मालूम पड़ती है। सर्व प्रकारसे शुद्धता, और अनन्द समता ही दिख रही है। इस दृश्यको देखते देखते जब हमारी इकटकी लगजाती है तब सिवाय शुद्ध आत्मस्वभावके कोई वस्तु नजर नहीं आती। ऐसा मालूम होता है मानों लोकमें सिवाय परमब्रह्मके और कुछ भी नहीं है। सहज सुख शांतिमय अनुभूतिके निर्मल जलमें मग्न होता हुआ एक भव्य आत्मा अपने सांसारिक आतापोंको हरता हुआ परमानंदका विलास कररहा है।

२६६-परम दृष्टान्त

यह ज्ञान सुखसागरमें मग्न प्राणी अपने भीतर झलकते हुए ज्ञानदर्पणमें लोकालोकको उनकी अनंत भूत भविष्यत् पर्यायों सहित निराकर जिसको देखता है उसे परम समताभावमें निमग्न पाता है। कोई भी पदार्थ हलन चलन नहीं करता, कोई भी क्रिया करता नहीं–न कहीं रागद्वेष दिखता है–न कहीं मोहकी मरोड़ दिखती है। सर्व ठिकाने एक प्रकारकी वीतरागता छा रही है। ऐसी वीतरागतामें सिवाय शांतिके अशांतिका कहीं नाम नहीं है। इस परमात्मामें कोई कालिमा नहीं है इसीसे सर्व पदार्थ ज्ञानमें झलकते हैं पर उनमें रागद्वेष नहीं होता है। इस वीतराग विज्ञानका प्रकाश हर आत्मामें स्वाभाविक है। हरएक शुद्ध बुद्ध आनन्दमई मगन होता है। इस दृष्टिमें न कहीं संसार है न मोक्ष है। न कर्म है न आत्माके पुद्गलोंका बिंदु है। न व्यवहार है न निश्चय है। न बंध नाश है न निरोध है। न अस्ति है न नास्ति है। न नित्य है न अनित्य है। न एक है न दो है।

एक परम सामायिक रूप साम्यभावमें प्राप्त हो जाता है। जहा तिष्ठनेसे इस आत्माके अनुभवमें सर्व ही आत्माए एक समान मालूम होती हैं तथा अन्य द्रव्योंमें चेतनता न होनेसे वे कुछ भी विकारित नहीं होते हैं न विकार करनेमें कारण होते हैं। इस लिये वे कोई भी साम्यभावमें बाधक नहीं हैं इस द्रव्य दृष्टिसे पैदा होनेवाली समतामें जो कल्लोल करते हैं उनके राग द्वेषका रग नहीं दिखता है। वहा आत्माका परम आनद हरएक समयमें अनुभवगोचर होता है। साम्यभावके धारी सिद्धोंमें और हमारे स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है—जो वे हैं सो हम हैं, जो हम हैं सो वे हैं। इस परम जातीयताके समुद्रमें जो मग्न रहते हैं उनके सुखका पार नहीं है। वे इंद्रियजनित सुखसे विलक्षण परम अतीन्द्रिय सुखमें रमते हुए जन्म मरणके विकल्पोंसे भी शून्य हो जाते हैं। वहाकी समता परम अभेद रत्नत्रयमई मोक्ष मार्ग अथवा मोक्षकी झलक देती है। उस झलकसे पवित्रित आत्माओंकी महाका वर्णन किसी भी तरह होना समव नहीं है। वह स्वरूप तो मात्र अनुभवगोचर है।

२६५-सहज सुख।

हम जब कभी अपने ही आत्माके मध्यमें सूक्ष्म दृष्टिसे देखते हैं तो वहा सहज सुख शातिका पूर्ण साम्राज्य पाते हैं। वहा कोई विकार व कोई दुःखके सामान कुछ भी नहीं दिखाई पड़ते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभके कोई चिन्ह नजर नहीं आते हैं। निर्मल जलके समान आत्मा दिखता है। और जब कभी अपनेसे बाहर चारों तरफ दृष्टि डालते हैं तो वहा भी वैसा ही निर्मल आत्मा

रूप शांत जल है और गुण परिणमन रूप अद्भुत तरंगें हैं। इस सरोवरका जल खरचनेसे कभी खतम होता नहीं किंतु जितना है उतना ही बना रहता है। इस सरोवरमें जो स्नान करता है तथा इसका ही जलपान करता है और अन्य जलोंसे परहेज करता है वही सदाके लिये अजर अमर हो जाता है। परम शांति और सुखमें गर्भित ज्ञानके भीतर मग्न रहना ही एक आत्माका स्वभाव है। स्वभावमें रमना यही निश्चयधर्मका मनन है। वहां कोई विकल्पजाल व रागद्वेष मोहके सामान दृष्टिगोचर नहीं होते। न वहां कोई नय प्रमाण या निक्षेपका विकल्प है। न वहां कोई गुण गुणीके भेदका व्यवहार है। सामान्य एकाकार अप्रमत्त प्रमत्तके विकल्पसे दूर ज्ञाता दृष्टा आत्मा कल्लोल करता है व अपने अविनाशी पदमें तृप्ति पाता है। वचनविलाससे उसकी शोभा नहीं की जासकी है। बड़े २ शास्त्र व शास्त्रके पारगामी भी जिसका भेद नहीं पासकते हैं। जो अनुभवे सो जाने। जो संसारातीत विकल्पसे दूर रहे वह पहचाने। मैं ऐसे परमशांतिके समुद्रमें दिनरात मग्न रहता हुआ अपूर्व शांतिका उपभोग कर रहा हूं।

२६९–प्रेम-पात्रता।

इस जगतमें जगतमात्रसे शुद्ध प्रेमपात्रता उस आत्मामें है जो निर्मल निर्विकार शुद्धबुद्ध ज्ञातादृष्टा सई अपने स्वरूपमें तन्मय है। जहां रागद्वेषका लेश मात्र भी नहीं है वहीं शुद्ध प्रेमपात्रता है। सर्व ही द्रव्य परस्पर एक दूसरेको अपने स्वभावमें विकार किसी तरहका न करते हुए सहायक होरहे हैं। यही प्रेमपात्रता है। तथा किसीका किसीसे कोई विरोध नहीं है। सर्व ही आत्माएं

अपने स्वभावसे विराजित हैं उनको पुद्गल विकारी नहीं करता न पुद्गलको आत्मा विकारी करता है। आकाश व काल प्रगटसे अवकाश व परिवर्तनमें सहायक हैं। धर्म अधर्म गति स्थिति जो स्वभावत किन्हीं पुद्गलोंमें होती हैं उनको सहायक हैं। इस तरह छहों द्रव्य परस्पर मैत्रीभावसे भजते रहते तिष्ठ रहे हैं। इनमें परको छोड़ आपमें रमकर स्वानुभव करना ही निश्चय धर्मका मनन है।

२७०-परमोपेक्षा संयम।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे दूरवर्ती रहकर जब आप अपनेमें थिरता पाता है तब परमोपेक्षा संयममें लवलीन होजाता है जिस संयममें ठहरते हुए आप एकाकी सर्व भावोंसे दूरवर्ती रहकर एक शुद्ध भावमें कल्लोल करने लगता है। इस कल्लोलमें वीतरागताका ऐसा मनोहर रंग प्रकाशमान रहता है कि मुमुक्षु जीव इस भावका अनुभवकर परमानन्दमें तृप्त होजाते हैं। जिस परमानन्दमें रमते हुए एक प्रकारका ऐसा नशा चढ जाता है कि जिसके रंगमें सिवाय आपके दूसरा कोई दिखता नहीं है। अमल, निरंजन, निर्विकार सत्यमूर्ति, परमप्रभु परमेश्वर, ज्ञानानंदीका सर्वस्व परमोपेक्षा संयम है। न यहां दया है न हिंसा है, न सत्य है न असत्य है, न अचौर्य है न चोरी है, न ब्रह्मचर्य है न अब्रह्म है, न त्याग है न ग्रहण है, न कोई महाव्रत व अणुव्रत है न अविरति है। जो कुछ है वह अवक्तव्य है, केवल अनुभवगम्य है। जो जाने सो जाने जो न जाने सो न जाने। मैं इस गुप्त विद्याकी शरणमें प्राप्त होता हुआ परम अनुरागसे इस निष्कलंक भावका सन्मान करता हुआ अपनी ही शांत और ज्ञानमई भूमिकामें विश्राम करता हूं और निजानंदका भोग करता हूं।

२७१--गुणीका आनंद।

ज्ञानानन्दमई आत्माराम अपने अनंत गुणोंको लिये हुए एक ऐसी सत्तामें विराजमान है कि जिसका मिटना दुर्निवार है। उस सत्तामें सदा शांति और आनंद वास करते हैं। वहां आकुलताओंकी तरंगें कभी भी परिणामोंकी सत्ताको क्षोभित नहीं करती हैं। उस सत्तामें किसी चोरका प्रवेश नहीं होता जो आत्मारामके गुणरूपी धनको हरण करसके। यह सत्ता चिच्चमत्कारसे सदा प्रकाशमान रहती है। इसमें रागद्वेष मोह कहीं दिखलाई नहीं पडते हैं। समताकी बाहर आरही है। कालद्रव्यकी स्वाभाविक परिणति सत्ताके धनके व्यवहारमें सहायक होती है तथापि यह धन घटता बढता नहीं। इस सत्ताकी भूमिमें जो निवास करते हैं उनहीको महात्मा या परमात्मा कहते हैं। गुणीकी सत्ता सदा आनन्दधाम है। जो तिष्ठते हैं वे सुखी रहते हैं।

२७२--गुणग्राम।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर जब अपने आपकी मूर्तिको देखता है तब वहां गुणोंके ग्रामोंको बसा हुआ पाता है। इन ग्रामोंमें अनंत अविभाग प्रतिच्छेदरूप बस्ती है। जो बस्ती हलन चलन रूप परिवर्तन करती हुई भी कभी नष्ट नहीं होती है। इन ग्रामोंमें परस्पर एकता है। हर ग्राममें परम शांतिका राज्य है। सब ही ग्राम अपने स्वावलम्बनपर स्थिर हैं। एक दूसरेके सहकारी होते हुए भी अपनी स्थितिके लिये आप समर्थ हैं। इन ग्रामोंमें ऐसा कभी नहीं होता है कि एक ग्राममेंसे [illegible] निकालकर दूसरे ग्राममें भेजी जावे।

किसीकी सम्पत्तिको नहीं चाहता। सब ही ग्रामवासी सुख शांतिके विलासी हैं। इस गुणग्राम आत्माकी महिमा अपूर्व है-स्वानुभवगम्य है जहां क्रोधादि कषायोंकी कालिमा कभी पग नहीं रख सकी है न वहां विषयोंकी तृष्णा अपनी मोहनी मूर्ति दिखा सक्ती है। ऐसे वीतरागमय आत्माका दर्शन आत्माको ही होता हुआ जो आनन्द बरसता है वह अकथनीय है।

२७३-परमानंद।

इस जगतमें यदि कोई हितकारी वस्तु है तो वह एक परमानन्द है जिसके होते हुए सर्व आपत्तियें शमन होजाती हैं। संसारचक्रकी व्यथा बिल्कुल दूर होजाती है। कर्म नोकर्मकी आकुलताए मिट जाती हैं। आत्मा एक ऐसे बागमें पहुंच जाता है जहां अनंत गुण रूप वृक्षोंकी शांत छाया है। तथा आत्मानुभव रूप मनोहर सरोवर है। अनेक नयोंकी बड़ी ही सुन्दर पत्थी चट्टानदार बहुत ही दृढ़ बनमई गलियें हैं। ऐसे अनुपम बागमें रमण करनेवाला व्यक्ति सविकल्प अवस्थामें तो अनेक नयोंमें कल्लोल करता है और विकल्परहित अवस्थामें शांततायुक्त गुण वृक्षकी छायामें व आत्मानुभव रूप सरोवरमें स्नान करता है। उस समय अपूर्व परमानन्दका लाभ होता है। इस आनन्दका भोक्ता सम्यग्दृष्टी जीव होता है जिसका उपयोग सिद्ध परमात्माके उपयोगके समान विलास करनेवाला है।

२७४-प्रतापका सूर्य।

इस अथिर संसारको थिर अथिर रूप दिखाकर वीतरागताकी महिमा विस्तारनेवाला ज्ञान सूर्य्य जब जिस प्राणीमें प्रकाशमान हो

जाता है उस समय उस ज्ञानसूर्यका प्रताप बड़ी ही तेजीसे प्रमादकी शीतलताको हर लेता है और अप्रमत्त भावकी जागृति ऐसी फैलाता है कि जिससे यह प्राणी सदा निज स्वरूपमें जागता हुआ तीन लोकके पदार्थोंको उनके स्वभावमें देखता हुआ उनसे रागद्वेष नहीं करता है और अपनी शांतिके प्रतापसे अतींद्रिय आनन्दका भोग करता है जिस आनंदके सामने संसारका कोई भी सुख दु खरूप ही भासता है। आत्मीक प्रतापका सूर्य सर्व संशयके अधकारको मेट देता है और अपनी लोकालोक व्यापी ज्ञान किरणोंसे सर्वत्र व्यापकर सर्वका ज्ञाता दृष्टा होता हुआ सांसारिक वासनाओंके पार पहुच जाता है। वहा स्फटिकमणिके समान स्वच्छता रहती है। जिस निर्मल मणिकी आभामें कोई भी विभाव नहीं प्रगट होते हैं–उसे सिद्ध भगवान कहो, ईश्वर कहो, परमात्मा कहो, परमब्रह्म कहो, परमप्रभु कहो, वीतरागी कहो, ज्ञानानंदी कहो, जगदीश कहो, परमप्रतापी कहो, विमल कहो, अमल कहो, अकलंक कहो, निरंजन कहो, परम वीर्यवान कहो, परमेश्वर कहो, निर्दोष कहो, परमवीर कहो, महावीर कहो इत्यादि अनंत नामोंसे कहो तौभी उसका अनुभव उसीको होता है जो सर्व पर पदार्थोंसे उन्मुख हो निज पदार्थके सन्मुख होकर निजानंदी होजाता है।

२७५–धर्म भाव

परमज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व विकल्प जालोंसे रहित हो जब अपने भीतर देखता है तो वहा एक धर्म भावको जागता हुआ पाता है। उस भावमें कोई क्रोध मान माया लोभका चिह्न नहीं है। समता व पूर्ण वैराग्य है। वहा एक ज्ञानज्योति

अखण्ड रूपसे जल रही है जिस ज्योतिमें लोकालोकके सर्व पदार्थ ज्योंके त्यों प्रकाशमान होरहे हैं। वहां किसी पदार्थके जाननेकी आकुलता नहीं है। अतीद्रिय आनन्दका अमिट विलास जहां शोभायमान है, उस धर्मभावमें ही स्वात्मानुभूति है जिसकी महिमा अपरम्पार है। बड़े बड़े योगी जिसे लाभकर परमसन्तोषी रहते हुए सुख मानते हैं, अपने तत्वके ज्ञानसे परम सन्तोषी रहते हैं। उस धर्मभावमें ही अप्रमादी रहना मोक्षमार्ग तथा मोक्ष है। उस भावमें कोई अन्यभावका अस्तित्व नहीं है। धन्य हैं वे साधु महात्मा जो इस धर्मभावको आपमें पाते हुए परम सुखी रहते हैं।

२७६–परम शुद्ध भाव।

परम ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व संशय विपर्यय अनध्यवसायोंसे रहित होकर अपनी निज प्रदेशावलीमें जब मगन हो जाता है तब कहीं भी नहीं जाता हुआ अपनी सुख सम्पत्तिका भोग करता है। वहां परम शुद्ध भावका राज्य होता है जहां राग द्वेष मोहका कहीं पता नहीं चलता है। न वहां कर्म ही दिखते हैं न नोकर्म ही मालूम पड़ते हैं। जो सुख सिद्धोंको है वही सुख परम शुद्ध भावधारी अन्तरात्मा को है। संसार पर्यायरूप ज्ञानमें आकर जो संकल्प विकल्प पैदा करता था सो अब नहीं करता है। द्रव्य दृष्टिसे जगत छः द्रव्य रूप है। उनके स्वभाव सब पृथक् पृथक् हैं। यही भेदज्ञान परम शुद्ध भावमें साम्यकी सुगंधि स्थापित करता है, जिससे यह आत्मा परम मगनताको पाता हुआ परम सुखी रहता है। और स्वानुभवके दुर्गमें शांतिसे विश्राम करता है।

२७७-सत्यकी कठोरता.

यदि अच्छी तरह विचारकर देखा जावे तो यह विदित होगा कि इस सतरूप जगतमें सत्य अत्यन्त कठोर है। किसी भी प्रमाण नयमें व शस्त्र, सेना, शरीर व वचनबलमें शक्ति नहीं है जो सत्यका खंडन कर सके। खंडन करना तो दूर रहे उस सत्यमें कोई विकृति या दोष भी कोई उत्पन्न नहीं कर सक्ता है। सत्य है हरएक पदार्थकी सत्ता। इन पदार्थोंके मध्यमें अपनेको हित करनेके अभिप्रायसे एक निज शुद्धात्मा सत्य है। इसमें अनन्तवीर्य है तथा जितने गुण व जितने उनके अविभाग परिच्छेद हैं उनमेंसे कोई भी उसमेंसे कभी किसीके द्वारा पृथक् नहीं किया जासक्ता है। इस शुद्धात्मामें जिस आत्माका वास होजाता है वह भी परम कठोर होजाता है। उसको कषाय शत्रु वश नहीं कर सक्ते। कोई प्रलोभन व कोई युक्ति उसको अपने निज आसनसे च्युत नहीं कर सकती। वास्तवमें इस आत्माका अपने ही पास एक ऐसा निश्चय धर्मरूपी दुर्ग है जो अच्छेद्य, अभेद्य अविनाशी, निरास्रव और परम सुख शांतिका भंडार है। इस दुर्गका निवासी ही सत्यात्मा, परम दृढ परम कठोर तथा परमामृतका स्वाधीनतासे पान करनेवाला है।

२७८-परमानंद.

इस जगतमें यदि कोई निरीक्षक शुद्ध मनसे निज भूमिमें देखता है तो वहां परमानंदका समुद्र दिखलाई पड़ता है। इस सार ज्ञानानन्दमई सागरमें स्नान करना अपूर्व शांतिको प्रदान करता है जिस शांतिको चंदन, मुक्ताफल, चन्द्रकिरण आदि

पदाथ नहीं दे सके है। बडे बड़े भव आतापसे पीड़ित प्राणी भी जब एक दफे भी इस समुद्रका स्नान करलेते हैं उनकी अनादि भवातापकी उष्णता शात होजाती है। वे मगलमय अपने स्वरूपका दर्शन जब जब करते है तब तब उनके सर्व सकट टल जाते हैं- सम्यग्दृष्टि वही है जो इस परमानदको पहचानता है। जिसने इस अपूर्व भावको जाना है वही अरहत और सिद्धोंको जानता है। वही आचार्योंके स्वरूपको पहचानता है। वही साधुओंका सच्चा उपासक होता है। यह अपने भेदज्ञानके बलसे अपना और पाचों परमेष्ठियोंका भेदभाव मिटा देता है और सब आत्माओंको समान रूपसे ज्ञान, शाति और आनन्दका सागर जानता हुआ दु ख और आकुलताके कारण जो रागद्वेष मोह हैं उनसे छूटकर वीतराग विज्ञानमई आत्माके उपवनमें आनन्द सहित कल्लोल किया करता है।

२७९-परमैकता।

विचारमें भिन्नता है। ध्यानमें एकाग्रता है। मैं शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक आनन्दमई हू। मेरा सम्बन्ध न क्रोधादि मोह विकारोंसे है न आकाशादि ज्ञेय पदार्थोंसे है। मैं आप आपीमें सदा प्रसन्न हू। मैं स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्तिरूप तथा परद्रव्यादिकी अपेक्षा नास्तिरूप हू। मैं गुणापेक्षा नित्य तथा पर्यायापेक्षा अनित्य हू। मैं अभेद अपेक्षा एक तथा नाना गुणोंकी अपेक्षा अनेकरूप हू। इत्यादि विचार तरगादिकोंमें स्वसमाधिका लाभ नहीं होता है। जहा ध्याता ध्यान ध्येयमें ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयमें एकता है वहीं ध्यान व समाधि है। पूजक पूज्य, ध्याता ध्येयमें परमैक्य होना योग है-यही निजानन्दानुभव है। यही अभेद रत्नत्रय है।

२८१–निजानन्द

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सुखोंसे विमुख हो अपने ही आत्मजनित अव्याबाध सारसुखमें तन्मई होता हुआ जो आनद भोगकर रहा है उसका वर्णन कोई कर नहीं सकता। वास्तवमें शब्दोंमें यह शक्ति नहीं है जो उस सुखको बता सकें, मनके विकल्पोंमें भी उसके जाननेकी ताकत नहीं है। जो कोई ज्ञाता दृष्टा है वही अपनी ज्ञान परिणतिमें उस सुखको अनुभव द्वारा जान सकता है। जब कोई उस आनन्दका स्वाद लेता है तब वह बिलकुल अनमोल तथा सर्व मनके विकल्पोंमे शून्य रहता है। उस सार सुखकी महिमा वचन अगोचर है। ससारके विकल्प जालोंके भीतर पडा हुआ प्राणी एक ऐसे मोहमें पड जाता है कि जिससे छूटना असह्यसा होजाता है परन्तु जिन्होने भेद विज्ञानके द्वारा निज परिणतिको जान लिया है वे नियमरूपमे आपको आपरूप जानकर निश्चय करते हुए परमसुखी और सतोषी रहते हैं, सार सुखका आप ही सागर है। आपमें स्नान करना सार सुख पानेका उपाय है।

२८२–सहज समाधि

हम जब सर्व आकुलताओंको दूर कर निज घरमें निज वस्तुका अवलोकन करते हैं और अपनी दृष्टि सम्पूर्ण पर पदार्थोंसे हटा लेते हैं तब हम एक ऐसी सहज समाधिमें पहुच जाते हैं जहा साम्य भावके सिवाय अन्य भावका दर्शन नहीं होता है। इस सहज समाधिमें नय निक्षेप तथा प्रमाणके विकल्प नहीं होते। यहा न मनसे चिन्तवन है, न वचनोंसे जल्पन है और न कायका हलन चलन है। यहा निज स्वरूपकी निजमें ही मग्नता है। कौन किसमें

मग्न हुआ यह भी मात्र कल्पना ही है। एकाकार आत्मवस्तु निज सत्ताको लिये हुए इस सहज समाधिमें शोभायमान है। यहां ही स्वानुभव रूप सुधा समुद्रका वास है जिसके अमृतका पान परम तृप्तिका कारण है। इसीको अतींद्रिय आनन्दका भोग कहते हैं। यही भोग सर्व भोगसे विलक्षण एक परम आदर्श रूप है। जो इस सहज समाधिको लाभ कर लेते हैं वे ही इस जगतमें स्वाधीन होकर सदा सुखी रहते हैं।

२८३--परमागमसार।

परमानंदमई ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व परमागमका सार जो निज तत्व है उसके विलासमें आल्हादित होता हुआ निजानुभूति-तियासे कल्लोल करते हुए परम तृप्तिको पारहा है। जिसने द्वादशांग वाणी रूपी मक्खनमेंसे निजात्मा रूपी घृतको निकाल कर पान किया वह परम पुष्टिको पाता हुआ एक वीरात्माके पदमें आरूढ़ रहता है। उसको विषय कषायके बादल अच्छादित नहीं करते। वह मोहाधकारसे कभी ग्रसिभूत नहीं होता। स्वाधीनताका सर्व सुख उसीके पास रहता है। वह जगतमें रहता हुआ भी जगतसे पृथक् रहता है। पानीमें चिकनई जैसे ऊपर तैरती है वैसे यह आत्म प्रभु विश्वके ऊपर २ तैरता है। उसके अमिट स्वभावके मेटनेको किसी भी द्रव्यमें शक्ति नहीं होती है। वह निजात्म गृहमें निवास करता हुआ परमागमका आनन्द लेतारहता है। उस आत्मानन्दीको परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, विष्णु, शिव, शंकर, महेश, ब्रह्मा कहते हैं। वह वास्तवमें नामसे रहित एक अपूर्व चेतन्य वस्तु है उसे जो ज्ञाता है।

२८४-वैराग्य

परमानन्दमई ज्ञाता दृष्टा आत्मा ससारको पर्याय दृष्टिसे देखना छोड जब द्रव्य दृष्टिसे देखता है तब उसके दर्शनमें जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश सब अलगर अपने शुद्ध स्वभावमें दिखते हैं, सबमें शाति और समताकी नहार आती है जिनसे बचनेके लिये अनेकों ग्रन्थ बडे परिश्रमसे लिखे जाते व अनेकों उपदेश यत्र तत्र दिये जाते उन राग द्वेष मोहोंका अर्थात मिथ्यात्व व क्रोध, मान, माया, लोभका कहीं अस्तित्व ही नहीं दिखता है। उनका नामोनिशान भी नहीं मालूम होता है। वास्तवमें स्वभावकी राज्यधानीमें वैराग्यका ही राज्य चल सक्ता है वह रागादि पिशाचों व दुष्टोंके ठहरनेको स्थान नहीं मिल सक्ता है ऐसे लोकको न कोई हेय (त्यागने योग्य) मानता न उपादेय (ग्रहण योग्य) मानता है। आत्मारामर्मेसे न किसी वस्तुका त्याग हो सक्ता है न कोई पर वस्तु उसमें ग्रहण हो सक्ती है। वैराग्यके प्रभावसे यह वीर आत्मा आप अपनेमें ही कल्लोल करता हुआ स्वानुभवका अनुपम आनद भोग करता है।

२८५-सम्यक्त्व सार.

परम सुखका धनी आत्मा सर्व ससारके विकारोसे बाहर जाकर जब अपने ही अटूट अविनाशी भण्डारका दर्शन करता है तब वहा एक चमकते हुए रत्नपर नजर डालता है जिसकी ज्योतिसे सर्व भण्डार दीप्तमान हो रहा है। वास्तवमें इस रत्नका अपार माहात्म्य है। इसको सम्यक्त्व सार कहते हैं। इस रत्नके न रहनेसे आत्माका सब भण्डार अन्धकार युक्त, फीका व निष्प्रयोजन है

माता है। यह बड़ा ही अमूल्य रत्न है। इस रत्नकी चमकसे इस मिश्रित जगतकी भिन्न२ पदार्थावली भिन्न२ झलक जाती है। क्षीर नीरकी तरह मिले हुए जीव पुद्गल भी अलग२ दिखते हैं। जीव तो शुद्ध परमात्मारूप और पुद्गल अपने स्पर्शादि गुण रूप। इस रत्नकी ज्योतिमें देखने हुए न कोई बड़ा दिखता न छोटा, सब जीव समान गुणोंके धारी नजर आते हैं। कौन शत्रु है कौन मित्र है इसकी कल्पना बिल्कुल भी नहीं होती है। किससे राग करना किससे द्वेष करना यह भी समझमें नही आता। वास्तवमें वीतराग विज्ञानताका साम्राज्य इसी रत्नके प्रभावसे दृढ़ होजाता है। इस रत्नकी चमकसे जब कभी यह आत्मा अपनी खूबीमें रजायमान होने लगता है तब इसको अनुपम अतीन्द्रिय आनन्दका लाभ होकर परम सन्तोष प्राप्त होता है।

२८६—परम तप.

इस संसारमें भ्रमण करते हुए किसी जीवको परम भाग्यसे परम तप रूपी रसायणका लाभ होजाता है। जिस रसायणको पीकर वह भवभ्रमणके रोगको घात कर देता है और आत्मानंदमें मगनता प्राप्त कर लेता है। वह परम तपरूपी रसायण किसी भी बाहिरी आलम्बनसे प्राप्त नहीं होती है। उसकी उत्पत्तिकी भूमि निज आत्माकी शुद्ध स्फटिकमय प्रदेश भूमि है। जब उस भूमिमें मिथ्यात्व व तत् सम्बन्धी कषायोंकी वासनाओंके कंकट नहीं होते हैं, तब ही वह रसायण सम्यक्तरूपी वृक्षमें पैदा होती है। उसको आत्मानुभव भी कहते हैं। सम्यक्त वृक्ष अपनी सत्तासे मिथ्यात्वकी कालिमाको हटाकर , ममकारके आश्रय चोरोंको नहीं आने

देता है। और वैराग्य तथा सम्यग्ज्ञान रूपी सिपाहियोंको सदा अपनी रक्षामें पाता है। जिनके प्रतापसे सम्यक्त वृक्ष अच्छी तरह फलता है तब उसमेंसे जो रस चूता है वही आत्मानुभव रूपी परम तप रूपी रसायण है। इस रसायणको पीते हुए योगीगण यहां भी परम सुखी रहते और भविष्यमें भी परमानन्दका भोग करते हैं। इसी रसायणका लाभ जिन २ को होता है वे ही परम तपके धनी हैं। शरीर सम्बन्धी कायक्लेशादि तप नहीं हैं। वे बाहिरी तप कहलाते हैं। वे हो व न हो, जिसने आत्मानुभवकी रसायण पा ली वही परम तपका तपनेवाला है। इसी रसायणके द्वारा संसारी आत्मारूपी अशुद्ध सोना शुद्ध मुक्त कुंदनवत् होजाता है। वास्तवमें मैं हूं सो हूं, जो नहीं हूं सो नहीं हूं इस विकल्पसे दूर जब अनमोल अचिन्त्य निज स्वरूपमें रमणता होती है तब ही आत्मानुभव रूपी रसायणका पान लेते हुए परम पुष्टि मिलती है।

२८७ ज्ञानस्फटिका।

परमपूज्य ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा एक अनुपम ज्ञान-स्फटिकाको पहने हुए अपनी निश्चल ज्ञान चेतनामें निरालमारा होता हुआ जिस अनुपम निजानुभवमें उत्पन्न रसका पान कररहा है वह रस सिवाय आत्माके अन्य किसी जगह नहीं पाया जाता है उस रसका स्वाद सम्पूर्ण रसोंसे निराला और अद्भुत है। ज्ञानस्फटिकामें ऐसी निर्मल आभा है कि जिस चमकमें सम्पूर्ण स्वपर ज्ञेय यथार्थ प्रतिभासित होते हुए भी किसी तरहके राग, द्वेष, मोहको नहीं पैदा करते हैं। चाहे पदार्थ द्रव्यरूपसे दीखें, चाहे पर्यायरूपसे

दीखें, चाहे शुद्ध दीखें, चाहे अशुद्ध दीखें तथापि उनका दिखाव ज्ञानकठिकामें कोई विकार पैदा नहीं करता है। इस ज्ञानकठिकाको पहरे हुए यह आत्मा अपने अभेद रत्नत्रयमई एक स्वभावमें ही तन्मय रहता है। निज अनुभूतिके सिवाय किसी भी परकी अनुभूतिमें उपयुक्त नहीं होता। साक्षात् स्वभावमें व्यापक रहकर इतना अटूट व पूर्ण भर जाता है कि वह अन्य किसी परभावको अपनेमें आने नहीं देता है। इस ज्ञानकठिकाकी महिमासे यह निजासनमें शोभता हुआ सिद्ध आत्माकी महिमाको विस्तार कररहा है।

२८८--ज्ञानानन्द।

परमसार वस्तु जगतमें एक आत्मा ही है जो सर्व परभावोंसे रहित तथा निज शुद्ध स्वाभाविक गुणोंसे सम्पन्न है। इस शुद्ध आत्मामें ज्ञानानन्दरूपी अमृत ऐसा भरा हुआ है कि जिस अमृतके पानसे सर्व सताप मिट जाते हैं--शांति और साम्यभाव जागृत होजाते हैं। तथा कर्मकी कालिमा हट जाती है। और एक अद्भुत दशा होजाती है जिस दशाकी प्राप्तिके लिये इन्द्रादिक देव निरतर लालायित रहते हैं। उस दशाको ही मुक्तदशा या स्वातंत्र्य कहते हैं। वास्तवमें जहां पराधीनता है वही दुःख है, वही अशुद्धता है, वही अशुचित्व है तथा जहां स्वाधीनता है वहीं ज्ञानानन्दका साम्राज्य है। मैं रागद्वेषादि रहित परम वीतराग सिद्धसम शुद्ध हूं यही भावना आत्माको स्वातंत्र्य उत्पन्न करानेवाली है। यदि देखा जावे तो भावना या विचार ये सब विकल्प हैं--बधके कारण हैं, मेरा स्वभाव विकल्प रहित, विचारकी कल्लोलोंसे शून्य, क्षोभ रहित

समुद्रवत् निश्चल है। अतएव जो आप आपीमें ठहरता है, अथवा जो ठहरता है, ठहराता है, ध्यान करता है इत्यादि भावोंसे शून्य होकर जैसा है वैसा ही होकर रह जाता है, न परको ग्रहण करता है, न निजका त्याग करता है। वही आत्मा सदा ही ज्ञानानंदका स्वाद लेता हुआ परम तृप्त रहता है।

२८९-भावशुद्धि.

इस संसारमें यदि कोई मसाला है कि जिसके द्वारा आत्माकी अशुद्धि दूर होने तो वह एक भावशुद्धि है। भावशुद्धिके द्वारा आत्मा अवश्य शुद्ध होजाता है। भावशुद्धिके प्रतापसे साधकको सुखशांतिका स्वाद आता है। भावशुद्धिके बलसे ही अनेक महात्माओंने अपनी शुद्धि प्राप्त की है। इस मसालेकी रचना त्रिफलाके समान सम्यक्त, ज्ञान तथा चारित्र इन तीनोंकी एकतासे होती है। परन्तु ये तीनों वस्तुएं किसी अन्यके द्रव्यक्षेत्रादिमें नहीं मिलती है। जो मसाला बनाना चाहता है उसीको अपने ही आत्मामें इन तीनों पदार्थोंकी प्राप्ति होती है। और जब कभी मसाला बनानेवाला शुद्ध निश्चयके बलसे सर्व परद्रव्योंसे अपने उपयोगको मोड़कर निज आत्माके केवल शुद्ध स्वभावमें उसे सन्मुख कर देता है और एकत्र होजाता है तब ही तीनों वस्तुओंकी प्राप्ति होजाती है और उनके मेलसे भावशुद्धिका मसाला तय्यार होजाता है। इस मसालेके द्वारा जब अपना ही आत्मा पुन पुन घर्षण किया जाता है तब आत्माका मैल कटता है। आत्मामें चमक बढ़ती है। सुखशांतिका स्वाद आता है। यही मसाला सर्व अशुद्धिको मेट देता है। इसीको आत्मानुभूति या निज दुर्गवास कहते हैं।

कुछ करना है । वहा यह आत्मप्रभु इसी तरह उन्मत्त होरहा है जिस तरह एक मानव मद्य पीकर उन्मत्त होजाने । इस उन्मत्त भावको निश्चय रत्नत्रय व मोक्षमार्ग कहते हैं, इसी उन्मत्त भावके प्रतापसे उन्मत्त भावके विरोधी सर्व शत्रु शनै शनै भाग जाते हैं और यह आत्मा सदा ही उन्मत्त रहनेकी अवस्थामें पहुच जाता है । इसकी उन्मत्ततामें ससारकी रागद्वेष परिणतिकी बिलकुल भी जागृति नहीं है–यह सर्वसे उदासीन है–एक निज अनुभूतितियाकी आसक्तिमें लीन है। अनुभवानन्द रसरूपी मदिराका नित्य पान करता हुआ यह उन्मत्त व्यक्ति परमरसमें उन्मत्त होकर परमसुख धाममें निवास करता हुआ जैसी परिणतिमें परिणमन कर रहा है वैसी परिणति ही सदा मनन योग्य व उपादेय है ।

२९२–स्वपद।

सर्व परपदोंसे विलक्षण निजपद है । इस पदमें ही सर्व पूज्यनीय पद गर्भित हैं । अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी पद भी इसी ही पदमें विराजमान हैं । यहा वीतरागता, सम्यक्त, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव तथा उत्तम शौच धर्मोंका पूर्ण साम्राज्य है । व इसी पदमें निर्मल ज्ञानदर्पण भी विराजित है जिसमें सर्वस्वपर ज्ञेय अपने अनन्त गुण पर्यायोंके साथ विना क्रमके झलकते हैं । इस पदमें कोई भी पदार्थ कोई प्रकारका विकार नहीं पैदा कर सके हैं । रागद्वेष मोहकी कलुषता यहा नहीं है । इस पदमें जो तिष्ठते हैं उनको सदा सुख शातिका अनुभव होता है । यह पद ही मोक्ष है, यही मोक्षका मार्ग है । यहा व आश्रव नहीं होते हैं। इस पदमें न निश्चय नय है, न व्य-

व्यहारनय है। न प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाण हैं न नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव निक्षेपोंका विकल्प है, यही निर्विकल्प तत्व है, यही स्वात्मानुभव, स्वसंवेदनज्ञान, स्वरूपाचरण चारित्र तथा निजानंद समुद्र है। मैं इसी पदरूप हूं, अन्यरूप नहीं, यही निश्चयधर्मका मनन है।

२९३--पुरुषत्व।

एक कायर व्यक्तिने जब अपना स्वरूप समाला तब सच्चा पुरुषत्व प्राप्त कर लिया। यह पुरुषत्व वह है जिसमें अपना आत्मबलरूपी पुरुषार्थ जागृत होजाता है और यह पुरुषार्थ यकायक आत्माको अपने रत्नत्रयमई निज घरमें बिठा देता है। जहां अनंत आत्मीक गुण पूर्णताके साथ कल्लोल कर रहे हैं न वहां कोई मोहकी कालिमा है न कोई द्रव्य कर्म बन्धकी पाशिया है। परम स्वच्छता और परमानंदका ही जहां निवास है। संसारके इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगादि विकल्प जहां नहीं पाए जाते हैं, ऐसे मनोहर घरमें तिष्ठनेवालेको घरसे बाहर कर मोह जालमें फसानेके लिये अनेक रागादि शत्रु आकर घरके बाहर चेष्टा करते हैं। परन्तु संयम रूपी दृढ दुर्गके भीतर उनका प्रवेश होना शक्य नहीं है। परम पुरुषार्थ शुद्ध स्वरूपका विकाश है। जो इस पुरुषार्थमें तन्मय होते हैं वे एक ऐसे अमृतका पान करते हैं जो सदा इस आत्माको परमतृप्त तथा परमसुखी रखता है ऐसे महा पुरुषको जगतका नाटक विकारी नहीं बनाता है। अनेक पर्यायें द्रव्योंकी पलटती हैं सो पलटती रहो, स्वभावका न अभाव होता न नाश होता। वह ज्योंका त्यों अपनी जीवनज्योतिको लिये हुए सदा शोभता है। स्वभावमें मग्नता ही पुरुषत्व है।

२९४-निजत्त्व।

सर्व तत्त्वोंमें सार तत्त्व निजत्त्व है। जिसमें कोई प्रकारकी आकुलता नहीं है। न वहा कोई परद्रव्यका सम्बन्ध है। वहा परम अद्भुत अनंत शुद्ध गुणोंका अटूट और अमिट निवास है। एक२ गुणमें अनन्त शक्ति है। जो निजत्वको जानता है उसकी सर्व चिंताए मिट जाती है। वह इस जगतमें साताके सिंहासनपर बैठकर निजानन्दका स्वद लेता रहता है। उसके सामने सर्व जीव समान ज्ञानानन्दी सिद्ध समान दिखलाई पडते हैं। अनंत भ्राताओंके साथमें यह आत्मा परम समताकी शोभाको प्राप्त होता है। बड़े२ गणधर, मुनि, साधु इन्द्र अहमिन्द्र जिस शोभाके सामने अपना मस्तक नमाते हैं और गुणोंका मननकर आत्मरसकी शांततामें मग्न होते हैं। इस निजत्वमें ही मोक्ष है–इसीमें ही मोक्षमार्ग है। यही अभेद रत्नत्रय स्वरूप है। इसीमें निर्विकल्प समाधि जागृत होती है। यही परमानद धाम है। यही स्वानुभव समुद्र है। जो इस समुद्रमें स्नान करते हैं व इसीके निर्मल जलको पीते हैं वे ही परमतृप्तिको पाते हैं।

२९५-आत्मानंद।

परमानन्दी ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा जब कभी निज शक्तिका विचार करता है तो वहां अनंत अनुपम आत्मानंदका अपूर्व दर्शन होता है। इस आत्मानदका स्वाद आते ही वह मिथ्या रुचि जो इन्द्रिय सुखको उपादेय समझ रही थी यकायक चली जाती है और मोक्ष पथिकको कुमार्गसे हटाकर सुमार्गके सन्मुख कर देती है। इस सुमार्गपर चलते हुए इस व्यक्तिको आत्मानन्द कभी नहीं छोड़ता। वास्तवमें आत्मानदका भोग ही एक कदम है जो

मुक्तिकी तरफ बढ़ता चला जाता है। जगतमें उस व्यक्तिको सदा आनद है जो साम्यभावमें कल्लोल करते हुए द्रव्य दृष्टिसे देखकर सतुष्ट होजाते हैं और जो पर्याय दृष्टिको गौण कर देते हैं। धानमें चावलसे जैसे छिलका अलग है वैसे मेरा आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्मसे भिन्न है। मैं आप ही परमशुद्ध, परमज्ञानी, परमसुखी, परमबली व परमशात हू। मै हूँ या नहीं की कल्पनासे रहित हूँ। सदा आत्मानद रससे पूर्ण चैतन्यके निर्मल जलसे व्याप्त हू।

२९६- शक्तिकी व्यक्ति।

अटूट अनत शक्तिका धारी आत्मा सर्व दुःख क्लेशोंसे रहित हो अपनी शक्तिकी व्यक्तिमें उद्योगशील होरहा है। उपयोगकी परिणतिको निज शुद्ध स्वरूपमें तन्मय करता हुआ आत्मिक आनदमई अमृतका पानकर रहा है ज्यों २ अध्यात्ममें थिरता बढती है त्यों २ निज धनकी प्रगटता होती है। जो अपनी ज्ञानादि सपत्तिको पहचान चुके हैं उनको यह निश्चय होजाता है कि उनकी ज्ञानादि सम्पत्तिको न कोई हरसक्ता है न ले सक्ता है न वट मिट सक्ती है। वह ज्ञानादि सम्पत्ति सदा ही आत्मामें रहती है। जो इस सम्पत्तिके स्वामी हैं उनको पौद्गलिक पर सम्पत्तिकी कोई आवश्यक्ता नहीं होती। इसीसे वे ससार शरीर भोगोंसे उदासीन होकर व सर्व चिंताओंको छोड़कर एक अपने धनके भोगमें ही लवलीन होजाते हैं। इस भोगमें न कोई पराधीनता है, न कोई व्यय है न कोई अतराय है। इस शक्तिकी व्यक्तिमई अनुभवानन्दमें ही मोक्ष मार्ग है व यही मोक्षका विलास है। जो इस सारको जानते हैं वे सर्व सकल्पविकल्पोंसे रहित हो स्वरूप गुप्त होजाते है।

२९७-शमामृत.

ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपनी अनादिकी तृषाको बुझानेके लिये अपने भीतर छिपे हुए एक रत्नोंसे भरपूर समुद्रको देख पाता है। उसके भीतर स्वानुभव रूपी बड़ाही शान जल है उसीको शमामृत कहते हैं-इस अमृतके पान करनेसे अपूर्व तृप्ति हो जाती है। यह ज्ञाता पुरुष और सर्व प्रयत्न त्याग करके इसी रसके पानमें लवलीन होजाता है। यह वह अपूर्व पौष्टिक रस है कि जो आत्माको अनन्तवीर्य प्राप्त करा देता है तथा उसके संसारके भ्रमणको एकदम मेट देता है। इस रसका पीनेवाला मोक्ष मंदिरमें ही तिष्ठकर सब तरहसे कृतकृत्य और निश्चिन्त होजाता है। तथा सर्वको देखता हुआ भी दृष्टा ज्ञाता मात्र रहता है-उनकी विचित्र पर्यायोंके दर्शनसे उसकी परिणतिमें विकार या कलुपता नहीं पैदा होती है। जो ऐसे ज्ञानी हैं वे समताकी सीधी और निर्मल सड़कपर बेखटके चले जाते हैं, उनको देखकर मोह रागद्वेष कामादि शत्रुओंका कलेजा कांप जाता है और उनमें साहस नहीं होता कि वे सामना कर सकें। वास्तवमें जो शमामृतके पीनेवाले हैं वे ही परम सुखी हैं।

२९८-परम शांति.

गुणोंका समुदाय चैतन्य मूर्ति आत्मा अपनी परम शांतिमें इस तरह कल्लोल कररहा है जैसे पूर्णमासीका चंद्रमा अपनी शांतिमें विराजमान हो। जैसे चंद्रमाको देखनेसे अमृत वर्षाके समान सुख भासता है ऐसे ही निज आत्माके दर्शन करनेसे आनन्दामृतकी वर्षा होती है। इस परम शांतिमें चारित्र मोहनीय, अंतराय तथा अज्ञान कर्मकी कोई कालिमा नहीं है। यहां स्फटिक मणिके समान

परम शुचिता है। इस परम शातिके विलासमें हर जगह शाति
ही समा दीखता है न कोई क्रूर न कोई वक्र सब जगह शाति
ही साम्राज्य माळूम होता है। इंद्रिय विषयोंके चाहरूपी कीडे औ
रागद्वेषके सर्प कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ते हैं। यहा आनन्द
समुद्र ही भरा है। ज्ञानी जीव इसी समुद्रमें मग्न हो होकर अना
निरानद मग्नताकी त्रासको मिटा रहे हैं। और एक ऐसे पदमें जा
हैं जिस पदके लिये इन्द्रादि देव भी तरसते हैं। सम्यग्दष्टी जीवों
जिससे अतिशय प्रेम है वह शाति हरएक जीवके गुणमें हरव
वास कर रही है। जो इस परम शातिको माने वही निग्रन्था
और साधु है।

२९९-सार भाव.

इस ससारमें सारभाव यदि है तो अपने ही पास है। उ
सारभावको जानकर निज सुधाका पान करना ही वीरता है। प
क्षत्री वीर इसी वीरतासे प्रसिद्ध हुए हैं। इस सारभावका त
निज आत्मद्रव्यके शुद्ध गुणोंका एक अखड समुदाय है। इ
द्रव्यमें स्वस्वरूपका अस्तित्व है तथा पर रूपका नास्तित्व है
एक समयमें अस्ति नास्तिके विकल्पसे रहित यथावत् पदार्थका ज
झलकाव है वहीं सारतत्त्वका प्रकाश है। इस प्रकाशमें रागद्वेष
कालिमाके दर्शन बिलकुल नहीं होते हैं। जहा उपयोग सर्व
साम्यताको धारकर वर्तन करता है और एक निज रसके पा
तल्लीन होजाता है वही सारतत्त्व है। सिद्धका सिद्धत्व, अरहत
अरहतपन, साधुका साधुपन इसी सारभावमें है। बड़े बडे तपस
इसी सारभावमें रमण करनेको ही तप समझते हैं। वास्तवमें ज

सारभाव है वही तप है, संयम है, सम्यक्त है, ज्ञान है और चारित्र है। सारभाव मोक्षमार्ग है, सारभाव मोक्ष है, सारभाव असार संसारको सार बना देता है, शरीरीको अशरीरपनका भान कराता है। और परम मंगलीक ज्ञानानंदमई वीतरागताके उच्च आसनपर विठा देता है।

३००–कारण समयसार.

मैं आप सबसे निराला–सबमें आला, गुणानंदमई शिवाला, अनुभवामृतका प्याला पिया करता हूं। मेरी नातेदारी किसी राग-द्वेष मोहसे नहीं है। वे संसारी हैं मैं अविकारी हूं, वे व्यवहारी हैं मैं निश्चय धर्मधारी हूं। वे दुःखकारी हैं मैं सुखकारी हूं। वे पापाचारी हैं मैं शुद्धाचारी हूं। वे क्षोभकारी हैं मैं शांतिधारी हूं। वे विसमता प्रचारी हैं मैं समता विस्तारी हूं। वे चतुगति भ्रमणकारी हैं मैं शिव विहारी हूं। वे कर्मबंधकारी हैं मैं निर्बंध दशाधारी हूं। वे कर्मव्यूहके पुष्टकारी हैं मैं कर्म व्यूहका नष्टकारी हूं। वे जड़ताके धारी हैं मैं चैतन्यता रमणकारी हूं। मुझसे सिवाय मेरे शुद्ध द्रव्य क्षेत्र भावरूप स्वचतुष्टयके और किसीसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं इसीसे सर्वसे नाता तोड़, मुह मोड़ सर्व परके विकल्पोंको त्यागकर अपने स्वचतुष्टयमें एकाग्र होता हूं। यही कारण समयसार है इसीसे कार्य समयसार होता है, यही मोक्षमार्ग है, यही अभेद रत्नत्रय है, यही मोक्षद्वार है, यही ज्ञानीके गलेका हार है।

३०१–धर्मभाव,

परमयोगी और ज्ञानी आत्मा अपने भीतर जब ध्यानसे देखता है तो वहां एक ऐसा भाव दिखलाई पड़ता है कि जिस भावमें सर्व

जगतके पदार्थ अपने अपने गुण पर्यायोंको लिये हुए एक साथ आते जाते व कल्लोल करते हैं, तथापि उस भावमें कोई रागद्वेष मोहका विकार नहीं झलकता है। उस भावमें अपूर्व समता और शांतिका राज्य रहता है। इस राज्यमें आदि और अतपना नहीं है। यह अनादि अनंत अकृत्रिम राज्य सदा ही ध्रौव्य बना रहता है। इसमें नाना प्रकारके स्वाभाविक परिणमन होते हैं तथापि इस धर्मभावका नाश नहीं होता है। इस धर्मभावमें एक रूपता होनेपर भी दश रूपता बडी ही मनोहरतासे झलक रही है। क्रोधकी कालिमाके वहा दर्शन नहीं होते किंतु उत्तम क्षमा बडी ही सुन्दरतासे विराजमान है। जिसके होते हुए ही वज्र पडे तौ भी इस धर्मभावमें विकार नहीं होता है। मान कषाय भी कहीं ढूढे नहीं मिलता है। किंतु अपूर्व मार्दवता ऐसी है कि जिसमें रत्नत्रय बड़े हर्षसे आकर विराजमान होते हैं। मायाके स्थानमें आर्जवने ऐसी सरलता कर रक्खी है कि तीन लोककी वक्रता उसमें अपना असर नहीं कर सक्ती है। लोभकी कालिमाका वहा पता नहीं है। किंतु शुचिताने ऐसी सफाई कर रक्खी है कि वहा कोई कालिमा नजर नहीं आती है। असत्यताका कोई चिन्ह नहीं दिखता है किन्तु सत्य धर्मकी ऐसी पुष्टता है कि कोई भी शक्ति जगतमें ऐसी नहीं है जो इस धर्मभावको अपने स्वभावसे गिरा सके।

असंयमकी शिथिलताको इस धर्मभावमें कोई नहीं पासक्ता, विरुद्ध इसके इस धर्मभावमें संयमकी भीत चारों तरफ ऐसी दृढ बनी हुई है कि आस्रव या बध भाव इस भीतको लाघ नहीं सक्ते हैं। यहांपर ऐसी शुद्ध उपयोगकी तपरूप अग्नि जल रही है कि

जिसके तापसे संतापित हो कर्मरूपी मृग दूर ही दूर रहते हैं—निकट आनेकी हिम्मत नहीं कर सके हैं। इस धर्मभावमें अधर्म भावके त्यागका स्वाभाविक धर्म रमण कररहा है जिससे इसमें कभी विभावता नहीं आसक्ती है। आकिंचनन इसी धर्मभावकी शरण ग्रहण की है क्योंकि यहां अन्तरंग चौबीस प्रकारकी परिग्रहका सर्वथा अभाव है। सर्व कुशीलोंसे छूटा हुआ यह धर्मभाव स्वाभाविक चारित्ररूप ब्रह्मचर्य्यमें तन्मय होकर परमानंदका भोग कर रहा है। दशलाक्षणीरूप धर्मभावकी सदा जय हो। यही भाव इस आत्माका सौन्दर्य है। यही भाव इस आत्माका भूषण है। यही भाव इसके सुखका समुद्र है। जो इस धर्मभावपर दृष्टि रखता है वही निश्चय धर्मका ध्याता सच्चा महात्मा है।

२०२-अभेद रत्नत्रय।

ज्ञाता दृष्टा आत्मा अनादि कर्मबंधके कारण अपने स्वभावको न पाता हुआ विभाव अवस्थामें रम रहा है। उस आत्माके लिये स्वरूपकी व्यक्तिका कारण एक निजतत्वका लाभ है। इसी लिये निश्चयधर्मका मनन आवश्यक है। मैं आप ही सम्यग्दर्शन हूं, आप ही सम्यग्ज्ञान हूं व आप ही सम्यक्‌चारित्ररूप हूं। इन तीन रूप होकर भी निश्चयसे एक अभेद रत्नत्रय स्वरूप हूं, मेरेमें कोई भेदके विकल्प नहीं हैं। न मैं क्रोधी हूं, न मानी हूं, न लोभी हूं, न मायावी हूं। राग द्वेष मोहकी कालिमाका कोई धब्बा मेरेमें नहीं है। मैं न नारकी हूं, न देव हूं, न पशु हूं, न मनुष्य हूं। मैं सिद्ध, शुद्ध, अविनाशी, परमानंदमई हूं। मैंने अपने स्वरूपको इसी तरह भिन्न जाना है जिस तरह एक तरकारीमें मिश्रित लव

णको भिन्न पहचाना जावे। अपनी स्वानुभवमई परिणतिको ही अपना स्वभाव जानकर मैं अन्न तन, मन, वचनके सर्व विकल्पोंको त्यागता हू और निश्चित हो अपने शुद्ध आत्मस्वरूपके श्रद्धान और ज्ञानमें तन्मय होकर निश्चय चारित्रवान होता हुआ अमेद रत्नत्रयके स्वादमें मग्न होरहा हू। इस स्वरूपानन्दमई सागरमें गोता लगाते ही क्या हू क्या नहीं यह सब विचार बन्द होजाते हैं और एक ऐसा समता और शांतिका भाव छाजाता है कि जिस भावमें रमण करना ही जीवन्मुक्त अवस्थाका एक निराकुल जीवत्व है।

३०३--क्षमाभाव।

इस जगतमें यह आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर जब अपनी स्थितिपर ध्यान देता है तो वहा क्षमाभावका राज्य पाता है। क्रोधादि विकारोंका कहीं पता नहीं मिलता। इस क्षमा-भावमें रत्नत्रयकी अपूर्व शोभा चमक रही है। आत्मा अपने अद्-भुत गुणोंकी मूर्ति लिये हुए एक अमिट और अपूर्व शोभाके साथ झलक रहा है। उसके प्रकाशकी दीप्तिमें सर्व लोकालोक एक साथ अपनी विचित्र रचनाके साथ प्रतिबिम्बित होरहे हैं। इस शांतिमय राज्यमें सर्व ही आत्माओंके साथ साम्यता है। जो मैं हू सो सब हैं। जो सब है सो मैं हू। ऐसी एकताके हृदयमें व्यवहारके भेदोंका लोप होजाता है। एक शांतिमय अमृतका समुद्र ही रह जाता है, ज्ञानी जीव इसी समुद्रमें ही स्नान करते, इसीका जलपान करते और परम वीर होते हुए परम पुष्ट बने रहते हैं। इस रसपानमें आत्मानुभवकी महिमा प्रगट होती है। यहीं अतीन्द्रिय आनन्द है। यही अभेद रत्नत्रयकी दृढ़ शिला है। जिस शिलापर विराजमान

होकर एक अनुभवी आत्मा निजमें निमग्नताको निरन्तर... हुआ परम सुखी और स्वाधीन रहता हुआ सदा कल्लोल करता है।

३०८-सत्यता।

यदि कोई इस संसारमें सत्यताको देखना चाहे तो उसको दर्शन एक निज आत्मामें ही होगा। आत्मामें असत्यता व मि... स्वका नामोनिशान नहीं है। न वहां मिथ्याज्ञान न मिथ्या चारित्र है। सत्य स्वरूप यथार्थ रत्नत्रयका धारी आत्मा अपनी अखंड अवि... सत्यमूर्तिको लिये हुए अपनी सत्यताको दर्शा रहा है। इस सत्यताका विश्वास करनेवाला प्राणी एक ऐसे रमणीक आनन्दसागरमें पहुंच जाता है कि जहां इंद्रियोंके क्षणिक सुखकी बास भी नहीं है। न जहां क्रोधादि जलचर प्राणियोंकी उछल कूद है, न वहां संकल्पविकल्परूप पवनोंके झकोरे हैं। ऐसे अनुपम शांत समुद्रमें सुखशांतिका भोगनेवाला अपनी सत्यताका गाढ़ प्रेमी हो जाता है। निज सत्यता रमणीमें रमण करता हुआ द्वैतभावसे अद्वैतभावमें पहुंचकर अभेद रत्नत्रयके महासुहावने अनुभवानन्दमई अमृतका पान किया करता है।

निज देशकी तरफ ही है—इस स्वदेश प्रेमने इसको बड़ा ही सयमी, ज्ञानी, सम्यग्दृष्टी तथा वीर बना दिया है। यह श्री वीरकी तरह निज रत्नत्रय निधिका प्रेम रखता हुआ निरतर स्वात्मानन्दका लाभ करता है और वीतरागी होकर सर्वको देखता जानता हुआ भी समदर्शी रहता है। इस वात्सल्यभावमें रागका चिह्न मात्र भी नहीं है। इसीसे इसको शुद्ध प्रेम कहते हैं। इस शुद्ध प्रेमसे सर्व आत्माओंके साथ शुद्ध प्रेम होरहा है। इसका फल यह होता है कि ऐसे प्रेमी जीवन्मुक्त परमात्मा तुल्य होकर संसारमें रहता हुआ भी अलिप्त रहता है।

३०६--अमरत्व।

परम पुरुष परमात्मा निज अमरत्वमें कल्लोल कर रहा है। सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रके विकल्पोंसे दूर है। उत्तम क्षमादि दशलाक्षणी धर्मकी कल्पनासे भी रहित है। इसके स्वरूपमें मनके विकल्पोंका सचार नहीं होसक्ता। यह आप आपी अपनी भूमिमें विराजित रहता हुआ जिस प्रकारका आनद लाभ कर रहा है इसका वर्णन नहीं होसक्ता। इस आत्माने सर्वसे परान्मुखता कर ली है, केवल अपनी ही ओर सन्मुख होरहा है। आप ही ज्ञेय है, आप ही ज्ञाता है। आप ही ध्येय है, आप ही ध्याता है। आप ही भोग्य है, आप ही भोक्ता है। ससारमें कोई शक्ति नहीं है जो इसको सहार कर सके। यह स्वाधीनतासे सदा काल अपनी सत्तामें विराजमान रहता है। इसके गुणोंकी गिनती भले ही कोई विकल्पवान करे परतु उसको अपने गुणोंके गिननेका कोई प्रयोजन नहीं है। जो आमका स्वाद लेता है वह उसके वर्णआदि पर ध्यान नहीं रखता है।

निज अमरत्वमें ही सुख समुद्र है, यही सार है, शेष असार है।

३०७--निर्वाणसुख

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व विभाव भावोंसे हटा हुआ अपनी सरूप समाधिकी तरफ जब दृष्टि लगाकर देखता है तो वहा परमनिर्वाण सुखका लाभ कर लेता है। आत्माके स्वाभाविक सुख गुणकी महिमा अपार है। यह परम पवित्र तृप्तिकारी, अविकारी, गुणकारी एक अद्भुत वस्तु है। इस सुखके पानमें परम वीतरागता झलकती है जिसके प्रतापसे कर्मवर्गणाओंकी पक्तियें उस आत्माकी सत्तामें प्रवेश नहीं कर सक्ती हैं किंतु जो कुछ कर्मबंधन आत्माकी सत्तामें होते हैं वे भी उस सुखके प्रतापसे सूखकर गिर जाते हैं। निर्वाणसुख आत्माकी सम्पत्ति है। हरएक आत्मा इस सपत्तिका धनी है। जो अपने आत्मभडारकी तरफ दृष्टि डालेंगे वे ही इस सुखको भोगेंगे। धन्य हैं वे परमात्मा समुदाय जो निरतर इस निर्वाणसुखका भोग करते हुए परम ज्ञाता दृष्टा वीतरागी बने रहते है। जगतमें यदि सार कोई वस्तु है तो वह निर्वाणसुख ही है। इसीके भोगके लिये ज्ञानी मनुष्य जगतकी सपत्तिसे मुह मोड़ वनके पर्वतकी गुफामें तिष्ठ त्रिगुप्तिकी चादर ओढ़ निज आत्मसमाधिकी सुखमय शय्यापर शयन करते हुए निर्वाणसुखका लाभ करते हैं। श्रीमहावीर भगवानने इस सुखको पाया है, पाते हैं व पाते रहेंगे। जो उनके पथपर चलते हैं वे भी इस सुखके भागी होते हैं।

३०८--निर्विकल्प समाधि

ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व प्रपच जालोंसे रहित हो निज आ[त्मा]नुभवमें दत्तचित्त होता हुआ एक ऐसी स्वरूपकी एकाग्र-

ताको प्राप्त होजाता है जिसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। इसमें ध्याताके भावको डगमगानेवाले रागद्वेष मोहके विकल्प नहीं होते। वीतरागताका अनुपम समागम सर्व चिंताओंसे रक्षित रखता है। आत्मज्ञान होते हुए भी आत्मा ऐसा है ऐसा नहीं है इत्यादि विचारोंकी जहां पहुंच नहीं है। सतमन पवनके संचारके रोकने न रोकनेके झगड़ेको छोड़कर यकायक श्रुतज्ञानद्वारा प्राप्त आत्मबोध रूपी भावमें ऐसे डूब जाते हैं कि उनके चित्तकी फिरन बन्द हो जाती है। वास्तवमें इस स्वानुभवरूप निजानन्दके भोगमें तन्मय होते हुए एक सुख शांतिका ही स्वाद आता है तौ भी ज्ञाता प्राणी उस भोगके समय यह विकल्प नहीं करता है कि मैं कोई स्वाद पा रहा हूं। ऐसी समाधिके होनेके लिये वीतरागताका चिन्तवन उपकारी है। जब उपयोग पर पदार्थसे हटता है तब ही स्वस्वरूपमें जम जाता है। यहीं जबतक जमाव है तबतक निर्विकल्प समाधि है। यह परम कल्याणरूपिणी तथा सुखदाई है।

३०९-परमतत्त्व।

ज्ञातादृष्टा आत्मा जब निज स्वभावमें तन्मय होता है तो वहां उस परमतत्त्वका दर्शन पाता है जो अपना ही स्वभाव है। उस परमतत्त्वमें सर्व लोकालोक झलकते हैं-तथापि वे जगतके पदार्थ किसी तरहका विकार नहीं करते हैं। उस परमतत्त्वकी ज्ञानदृष्टि दीपकके समान सर्व पदार्थोंको झलकाती हुई परम उज्वल और निराकु रहती है। रागद्वेष मोह वहांपर अपना स्थान नहीं जमा सके, न वहां किसी पुद्गलके परमाणुकी कभी पहुंच होती है। उसकी एकता, निश्चिन्तता, एकाग्रता अपूर्व है। वहां कोई भी भय-

कर क्षोभकारक तत्व नहीं है—परम साम्यताका ही वहा दर्शन होता है। गुणस्थान, मार्गणास्थान, समासस्थान, कषायस्थान उसकी सत्तामें नहीं हैं। वहा ज्ञानदर्शन चारित्र वीर्य सुखादि गुणोंका पूर्ण साम्राज्य है। यह परमतत्व किसी परभावका न कर्ता है न भोक्ता है। यह अपनी ही शुद्ध परिणतिका ही कर्ता तथा भोक्ता है। उस परमतत्वमें अतींद्रिय सुखका भोग है—जिस भोगके सामने इंद्रियोंके सुख सर्व विरस तथा फीके हैं। धन्य हैं वे प्राणी जो इस परमतत्वका स्वाद पाते हुए सदा ही निर्भय, निर्मोही और ज्ञानानन्दी बने रहते हैं।

२१०-अद्यघभाव।

एकाकी निश्चल निजरूपमें रमनेवाला आतमा परम शुद्ध अनघभावमें कल्लोल करता हुआ जिस आनन्दका भोग कर रहा है वह आनद अनघभावमें ही प्राप्त होता है। इस भावमें किसी प्रकारका मल नहीं है। यह भाव परम शातिका समुद्र है। यह भाव साध्य साधक भेदसे दो रूप होकर भी एक रूप है। इसी भावमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रका साम्राज्य है। यह भाव परम निर्मल स्फटिक मणिके सदृश स्वच्छ है। इसमें लेश्याओंके रंग नहीं हैं, गुणस्थानों व मार्गणाओंके विकल्प हैं। इस भावमें अनतगुणोंकी एकता है। इस अमिट मेलके कारण यह अनघभाव बहुत बड़ा शक्तिशाली है—इसके भीतर कोई भावकर्म तथा द्रव्यकर्म प्रवेश नहीं कर सके। यह सबसे निराला है तथापि परमानदमई ज्ञान शिवाला है। इसकी शात छायामें भवाताप मिट जाते हैं—रागद्वेष मोहके क्षोभ नहीं दिखते। समताभाव बड़े ही ऐश्वर्यसे

विराजता है, यही भाव मुक्तिनाथोंका आधार है। यही भाव सतोंको शरण है। यही भाव सम्यग्दृष्टियोंको उपादेय है। अबन्धभावमें और भाववानमें कोई अन्तर नहीं है। गुणगुणी कहनेमें भेद है वस्तुत अभेद है। धन्य है वे महात्मा जो इस भावमें नित्य मगन रहते हुए स्वात्मानुभवका उपभोग करते हुए सदा सतोषी रहते हैं।

३११--वीतरागता।

ज्ञाता दृष्टा आनदमई आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित हो जब अपने अस्तित्वको देखता है तो वहा परम वीतरागता हीका साम्राज्य झलकता है। इस वीतरागतामें कषायकी कालिमा बिल्कुल नहीं है। यहा पूर्ण सुख और पूर्ण ज्ञान है। यहा सर्व लोकालोक झलकते है तथापि कोई चेतन अचेतन पदार्थ किसी तरहका विकार नहीं कर सक्ते। परमात्म पदार्थका वस्तुपना वीतरागता हीमें है। वीतरागता परम निर्मल समुद्र है जिसमें स्नान करनेवालोंके सर्व पापमल धुल जाते है। वीतरागता परमामृतमई भोजन है, जिसके स्वाद लेनेसे अगाध सुख अनुभवमें आता है। वीतरागता एक अटल साम्राज्य है जिसके पतन करनेको किसी ज्ञानावरणादि कर्मकी शक्ति नहीं है। वीतरागता समताकी सुन्दरताको रखते हुई जगतमें बन्ध अबन्धके भावको मेट देती है। वीतरागता आत्मानुभवके सरस रससे परिपूर्ण हो सदा ही प्रफुल्लित रहती हुई भव्यके भीतर विराजती है। वीतरागता हीके प्रतापसे निज आत्माके समान सर्व आत्माए झलकती है। वीतरागता निश्चय दृष्टिको स्थिर करती हुई चारित्रकी ज्योतिसे नित्य प्रकाशित होती रहती है। इस निर्मल वीतरागतासे मेरा अमिट सम्बन्ध है। मैं हू सो यह है। यह है सो मैं हू। मैं

आपी वीतरागमई होता हुआ अपनेमें अपनेको अपनेमें विराजमान करता हुआ निर्विकल्प स्वानुभवमें विश्राम करता हूं।

३१२-परमार्थ.

सकलगुण सम्पूर्ण ज्ञानानन्दमय अविनाशी आत्मा सर्व दोषोंसे रहित निज स्वभाव रूप परमार्थको हृदयांकित करता हुआ सर्व विभाव भावोंकी कालिमासे छूटा हुआ इस क्षणभङ्गुर जगतकी अवस्थाओंको जानते हुए भी उनमें हर्षित व खेदित न होता हुआ अपने आत्मानुभवमें उत्पन्न परमामृत रससे तृप्त होता हुआ परमानन्दका भोग कर रहा है। परमात्म पदार्थ ही एक परमार्थ है, वही निर्विकार है, वही सुखकार है, वही परमशांति भंडार है, वही मोक्षमार्गका नायक है-वही मोक्षका सहायक है, वही सर्व द्वन्द विनाशक है, वही लोकालोक प्रकाशक है। जो गुणी निज आत्माको परमात्माके समान जानकर, उसका यथार्थ श्रद्धान कर उसीके ही आचरणमें तन्मय हो जाते हैं वे ही परमार्थको पाते हैं अथवा वे स्वयं परमार्थ स्वभावमें विराम करते हैं, यह सम्पूर्ण जगत परमार्थके ज्ञाताको परमार्थ दिखता है। अचेतन अचेतन रूप तथा चेतन चेतन रूप अपनीर मनोहर शोभाके साथ अपना रग दिखाते हैं। ज्ञानी प्रभु इस सर्व जग नाटकको देखता हुआ भी न देखता हुआ स्वस्वरूपाशक्तिके पवित्र प्रेममें प्रेमालु होरहा है।

३१३ धर्मचक्र

परमप्रतापशाली सम्राट् आत्मा अपने स्वदर्शनरूप ज्ञानचक्रसे विभावोंकी सेनाओंका संहार करता हुआ स्व विजयके परमाल्हादमें सन्तोषित होकर निज अनुभूति-नियाके संगमें निज आत्मा उपवनके

गुण-वृक्षोंकी शोभाके निरखनेमें और उनकी समतापूर्ण शात छायाके मध्य विश्राम करनेमें उपयुक्त होता हुआ वीतरागताकी मनोहर मूर्ति झलका रहा है। इसके सपूर्ण असख्यात प्रदेशी अगमें ज्ञान ज्योतिका तेज है, अद्भुत अनन्तवीर्य है, शातिमई प्रकाश है, तथा सुखाकर महात्म्य है, इस सम्राट्ने त्रिलोकको विजयकर परम स्वाधीनता प्राप्त कर ली है। कोई भी अन्य पर इसकी सत्ता व शक्तिमें निरोधक नहीं है। इसने अनन्तकालके लिये स्ववीर्यका पूर्ण प्रभाव अपने देशमें जमा दिया है। ज्ञानचक्रके महात्म्यसे सर्व ज्ञेयोंको जानते हुए भी यह परम निर्विकार तथा परमानन्दरूप है। ज्ञान चक्रके समान किसीकी भी शक्ति नहीं है जो शत्रुभावसे आ सके। यदि कोई आता भी है तो स्वय अपनी क्षतिका हानिकर फल पालेता है-ज्ञानचक्रमें कोई बाधा नहीं पहुचा सक्ता। धन्य है वे जीव जो इस ज्ञानचक्रसे निज वीर्यको सम्हालते हुए स्वात्मानन्दका स्वाद लेते हैं।

२१४-परम साम्यभाव।

ज्ञानानन्द स्वरूप परमज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा एक ऐसे भावमें तन्मय होरहा है कि जिसका कथन मुखसे नहीं होसक्ता। यह एक वचन अगोचर भाव है। इस भावमें कोई भी उपाधि दिखलाई नहीं पड़ती है। न यहा क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न काम है, न भय है, न हास्य है, न जुगुप्सा है, न शोक है और न कोई विकार है। यही निर्विकार भाव मोक्षमार्ग है तथा यही मोक्षरूप है। यही शातिका पुज है। इसीमें रत्नत्रयका अमृत घुला हुआ है। इसी भावको ध्यानकी आग भी कहते

हैं। यह सुवर्णके समान आत्माको शुद्ध करनेवाला है। जो इस भावमें तन्मय होते हैं उनके लिये यह सर्व लोक परम शांतिका समुद्र है। इस भावमें यह सर्व लोक षट्द्रव्योंका समुदायरूप भिन्न२ दिखता है। यह भाव दर्पणके समान स्वच्छ है। इसी परम निर्मल साम्यभावमें ही स्वानुभवका झलकाव है। वहीं ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अपूर्व आत्मीक गुणोंका सहयोग होकर पुष्पोंकि सगठित गुच्छेकी बहारका दिखाव आरहा है। धन्य हैं वे जो इस साम्यभावका आनन्द लेते हैं और संतोषी रहते हैं।

११५–समताभाव।

परमयोगीश्वर ज्ञाता दृष्टा आनंदमई आत्मा निज स्वरूपमें तन्मयता प्राप्त करके निज आनन्दके विलासमें उल्लासमान रहता हुआ परम तृप्तिको प्राप्त कर रहा है। इसके भीतर कोई प्रकारका विकार नहीं है। यह सब तरहसे सुखी और निराकुल है। रागद्वेषकी कालिमासे रहित परम सार समताभाव यहां कल्लोल कर रहा है। इस समताभावमें सर्व द्रव्य, गुण, पर्याय अपने२ वास्तविक स्वरूपको लिये हुए विराजित हैं। दीपककी ज्योति सज्जन दुर्जन, सुन्दर असुन्दर, दीर्घ लघु, स्त्री पुरुष आदिके नानारूपको प्रगट करती हुई भी अपनी एकताके रसमें तल्लीन रहती हुई किसीके रागद्वेष करनेके लिये उत्सुक नहीं होती है, इसीतरह यह आतम-ज्योति समताभावमें तन्मय रहती हुई व स्वपरको जानती हुई परम निर्विकार रहती है। समताभावकी महिमा अपार है। जो इस भावके दास हैं वे अवश्य मुक्तिके नाथ होजाते हैं। समताभावसे ही परमात्मपदकी शोभा है। समताभावसे ही परम अध्यात्मरसकी

प्राप्ति है। समताभावसे ही आत्माका आत्मत्व है। समताभाव गुणाकर है। यही सुखधाम है।

२१६–ज्ञानभाव।

इस जगतमें मैं कौन हूं इस प्रश्नके उत्तरको विचारता हुआ ज्ञानी जीव अपने ज्ञानभावमें स्थिर होता हुआ सर्व प्रपंचोंसे छूटकर एक विकल्प रहित शुद्धभावमें स्थिरता प्राप्त कर लेता है। ज्ञानभावकी महिमा अपार है। यह स्वपरको प्रदीपके समान झलकाता हुआ भी निर्विकार रहता है। सर्व लोकालोकके पदार्थोंका यथार्थ तत्त्व ज्ञानीके ज्ञानभावमें झलकता है। वीतरागताके सुन्दर रसके मिश्रणके कारण सर्व दुःखोंका अभावरूप निजानन्द रसका पान ज्ञानीको होता हुआ उसे परम तृप्तिमई भावमें सलग्न रखता है। स्वानुभवसे उत्पन्न आनन्दामृतमें कोई मिष्टता न होने हुए भी परमशांतिमई निराकुलता प्रदानका परम अद्भुत बीज है। जो ज्ञानी ज्ञानभावमें रहते हैं वे जगतकी सर्व अवस्थाओंको गौण करके उनके निमित्तसे होनेवाले राग, द्वेष, मोह विकल्पोंका विध्वंश कर देते हैं और परम समताके समुद्रमें मग्न होजाते है। ज्ञानभाव ही मोक्ष है, ज्ञानभाव ही मोक्षमार्ग है। ज्ञानभाव ही स्वानुभाव है, ज्ञानभाव ही रत्नत्रयरूप बोधि है, ज्ञानभाव ही आदर्श है, ज्ञान भाव ही सिद्धत्व है, ज्ञानभाव ही सुखरूप है, ज्ञानभाव ही कर्ममलहर सार जल है। धन्य हैं वे भव्य जीव जो इस ज्ञानभावका आनन्द लेते हुए जीवित रहते हैं।

२१७–वैरागी बाबा।

अहा ! क्या खूब ! एक वैरागी बाबा अपनी अनुपम स्वा–

भाविक सजधजके साथ एक शरीररूपी कुटीमें बैठे हुए आत्मस्थ होरहे हैं। यद्यपि इनका आकार पुरुषाकार है तथापि पुद्गल-पिंड या उसके स्पर्श, रस, गंध, वर्णका यहां कोई भी चिह्न नहीं है। न कोई तैजस कार्मणमेंसे सूक्ष्म शरीर है, न कहीं इस वैरागी बाबाके प्रदेशोंमें राग, द्वेष, मोहकी कोई कालिमा है, न यहां कोई गुणस्थान है, न संयमस्थान है, न विशुद्धि स्थान है। न इस वैरागी बाबामें श्रावकपना है, न साधुपना है, न केवलीपना है। न इसमें आश्रव है, न बंध है, न संवर है, न निर्जरा है, न मोक्ष है, न मोक्ष स्थान है, न संसार है, न संसारका कोई मार्ग है। इस वैरागी बाबामें ज्ञानका सूर्य ऐसा दीप्तमान होरहा है कि कोटि सूर्य्यकी दीप्ति भी तुच्छ है। इस ज्ञान-ज्योतिमें लोकालोक एक काल अपने सर्व गुण पर्यायोंके साथ झलक रहे हैं। बाबाके मुखमें शांतिका अटूट सौन्दर्य है। प्रेमका अखण्ड विलास है। आनन्दानुभवका आश्चर्यकारक भोग है। बाबाके सर्व अंगमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप तीन रत्नकी प्रभा द्योतित होरही है। यद्यपि इस वैरागी बाबाके पास न वस्त्र है, न आभूषण है, न कोई अन्य अलंकार है। तथापि इन तीन रत्नोंने बाबाके मस्तकको नहीं छोड़ा है। वे पौद्गलिक नहीं हैं किन्तु आध्यात्मिक हैं इसीसे बाबाकी शोभाको वृद्धिगत कर रहे हैं। यद्यपि वैरागी बाबा वैरागी हैं तथापि अपनी परमप्रिया आत्मानुभूति तियाके इतने गहरे रागी हैं कि रात्रिदिन उसके भोगमें तल्लीन रहते हुए कभी भी उससे वियोग नहीं करते हैं-उनके इस रागकी तुलना बडेरे चक्रवर्ती सरीखे भोगी भी नहीं कर सके हैं। धन्य हैं! यह वैरागी बाबा, यही सच्चे साधु हैं,

यही सच्चे जिन हैं, यही सच्चे योगी हैं, यही सच्चे सम्यग्दृष्टी हैं, यही सच्चे ध्यानी हैं, यही सच्चे धर्मी हैं तथा यही सच्चे निर्लोभी हैं व दर्शन योग्य यदि कोई हैं तो यही हैं।

३१८-अद्भुत मोती।

एक सम्यग्दृष्टी जौहरीके हृदय वाक्समें एक अद्भुत मोती है जिसकी उत्पत्ति नहीं है न जिसका आदि है न अन्त है। यह मोती परम सुंदर, परम सच, परम क्रांतियुक्त और परम शांतिमय है, अनादिकालीन भवतापको शमन करनेवाला है तथा अपने प्रकाशसे ही आप और अन्य ज्ञेयको झलकानेवाला है। यह सदा एकसा रहता हुआ भी अपने गुणोंकी चमकमें लहराता हुआ तरंगें लिया करता है। उन तरंगोंमें आभा उठती वठती रहती है तथापि गुणावलीकी स्थिति बनी रहती है इस कारणसे इस मोतीको उत्पाद व्यय ध्रौव्यमई त्रिस्वभावात्मक कहते हैं। यह एकरूप होकर भी ब्रह्मा, विष्णु महेशरूप होरहा है। इस मोतीका धारी अन्य ओरसे उपयोग हटाकर इस मोतीके भीतर ऐसा आशक्त हो जाता है कि रात्रिदिन इसीकी शोभाके अवलोकनमें व इसीसे शांति व आनंदकी प्राप्तिमें तन्मय रहता है। उसके लिये या तो यह विश्व ही नहीं होता है अथवा यह विश्व ही मोतीरूप होजाता है। उसकी दृष्टिमें सिवाय इस मोतीके कुछ नजर नहीं आता। मोती, मोती, मोती यही भावना उसके सर्वांगमें व्याप्त होजाती है। जो इस चेतन्यमई मोतीको पहचानते हैं वे ही ज्ञानी, वैरागी व परमसुखी हैं। आश्चर्य तो यह है कि विकल्प दशामें मोती व उसके स्वामी दो झलकते हैं परंतु निर्विकल्प दशामें यह द्वैतभाव नहीं रहता है।

जो मोती है वही मोतीका धारी है। वास्तवमें वस्तु एक है। आत्म मोतीका अपनी ही आत्मताकी आभामें मस्त रहना यही मोतीपना व यही मोती है। इस अद्भुत मोतीकी महिमा अगाध है।

३१९-मतवाला।

एक मतवाला निज अनुभूतिके योगसे प्राप्त नशेमें बेहोश होकर सर्व विश्वको एक आनन्दसागर देख रहा है-उसकी दृष्टिमें द्रष्टा और दृश्य दोनों एक हैं। लाखों गालियोंकी बौछाड व लाखों स्तुतिके हार उसके स्वरूपमें कुछ विकार नहीं प्राप्त करते हैं। वह गंभीर मेरु सदृश अचल रहता है। यद्यपि किसी पर पदार्थमें उसकी वृत्ति नहीं जाती है तथापि उसकी मस्तताकी झूम अपने प्रदेशोंमें परिणमन कर रही है। इस मतवालेने खाना, पीना, श्वास लेना, बोलना बतलाना सब छोड दिया है। ग्रहण त्यागका विकल्प भी वहां नहीं है। क्रोध, मान, माया, लोभादि शत्रु इस मतवालेकी मस्तीसे भय करके दूर२ भाग रहे हैं। वीतरागता इसके सर्वांगमें व्याप रही है। मतवालेने वास्तवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके अपूर्व मसालोंसे बनी हुई अनुपम भाग पी है। और नशे तो कम होजाते हैं परन्तु यह नशा कभी नहीं मिटता। मन मोहनी छटाके भावमें पूर्ण होकर यह मतवाला जो आनन्द भोग रहा है वह अकथनीय है।

३२०-शांतरस।

ज्ञाताद्रष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व शृंगारादि रसोंसे विलक्षण एक अपूर्व शांतरसमें विराजमान है। इस शांतरसमें किसी तरहका मल व दोष नहीं है। शांतरसका धनी सर्व आपत्तियोंसे विलक्षण

एक महान गुणपूर्ण सम्पत्तिको रखता है जिसका नाम अतीन्द्रिय सुख है। इस सुखके भोगमें कोई कष्ट नहीं होता है, न इसमें किसी पर पदार्थकी आवश्यकता है न कोई परिश्रमकी जरूरत है, न यह किसीसे दिया जासकता है न किसीसे लिया जासक्ता है। यह सुख शांतरससे इतना भीगा हुआ है कि इस सुखके भोक्ताके भीतरसे इस रसका छिड़काव इतना अधिक होता है कि जो कोई इस रसके धनीके पास आता है वह स्वयं शांतरसमें भीग जाता है और कुछ देरके लिये जबतक वह संगति नहीं त्यागता है परम शांतिको पाता हुआ भवातापकी दाहोंसे बचा रहता है। शांतरसमें विकल्पातीत ज्ञान है। न इसमें मिथ्यात्व आदि कोई गुणस्थानोंका विकल्प है, न गति इंद्रिय आदि मार्गणाओंका झलकाव है, न इंद्रिय आदि जीव समासोंके झगडे हैं, न कषायोंके मंद तीव्र मध्यम अनुभाग हैं। यह शांतरस परम निर्मल जलकी तरह झलकता हुआ अपनी आभामें सर्व द्रव्योंके स्वभावोंको बताता हुआ भी किसी भी परपदार्थमें नहीं जाता। शांतरसका धनी आत्मा सब तरहसे अपने प्रदेशोंमें ठहरा हुआ सब तरह ज्ञानानंदका भोग करता हुआ जिस दशामें विराजमान है उस दशाकी प्रतिष्ठाका महत्व वचनातीत है।

३२१--ज्ञानकी तरंग।

ज्ञानकी तरंग अपनी अद्भुत शक्तिके साथ बहती हुई, अपनी निर्मलतासे सर्व स्वपर ज्ञेयको झलकाती हुई, वह चारों तरफ परम शीतलताका विस्तार करती हुई सुखकी सुगन्ध फैला रही है। जो इस सुख सुगंधके रसिक हैं वे भ्रमर जैसे कमलकी गंधमें आशक्त होजाता है इसतरह सुख सुगन्धमें मग्न हो इस ज्ञान तरंगकी

सेवाका त्याग कभी नहीं करते हैं। इस ज्ञानतरगमें वे ऐसे उन्मत्त होजाते है कि वे अपना सर्वस्व उसीमें अर्पण कर देते हैं यहातक कि वे अपनी सत्ताको भी भूल जाते हैं। वास्तवमें जो कोई जिस वस्तुका उपभोग करता है वह जब अपने उपयोगका सर्वस्व उसी वस्तुमें मोड देता है तब ही उसको उस वस्तुका यथार्थ स्वाद आता है। स्वादके लिये एकाग्रताकी आवश्यकता है। जहा एकाग्रता होती है वहा द्वैतका अद्वैत होजाता है। वस्तुए अपनी सत्तासे चाहे दो बनी रहें परन्तु उपभोक्ताको उपभोग्यका स्वाद उसी समय आता है जब द्वैतभाव मिट जाता है। उपभोक्ताके भावमें मै उपभोक्ता यह उपभोग्य यह कल्पना भी नहीं आती है। ज्ञानी अपनी ज्ञानतरगक जब भोग करता है तब दो वस्तुए भी नहीं होती हैं। ज्ञानी वस्त है, ज्ञान तरग उसीकी वस्तुता है। वस्तुका अपनी वस्तुतामें रहन स्वाभाविक है–सहज ही बना हुआ है। जैसा अग्निका अपनी उष्णतामें रहना स्वाभाविक है। अग्नि अपनी उष्णतामें तन्मई है व अग्नि अपनी उष्णताका भोग कर रही है यह केवल वाग्जाल है। ज्ञानी सदा अपनी ज्ञानादि शक्तियोंका स्वामी है। सदा ह अपने स्वभावसे अद्वैत है, सदा ही ज्ञानानन्दका विलास करता है जो इसी बातके समझने व समझानेके झगडेसे दूर है वही ज्ञान है, वही स्वानुभव रसिक है, वही परम योगी और परम मुनि है वही ज्ञान तरगोंका अद्भुत समुद्र है।

३२२–पवित्र गंगा।

आज हम निज आतम परिणति रूपी पवित्र गगामें स्ना कर रहे हैं। इस गगाका उदय परमात्मरूपी हिमाचलसे हुआ है

ज्ञान समुद्रमें इसका प्रवाह वह रहा है। इसका निर्मल शांततारूपी जल सर्व विकारोंसे रहित भवातापको शमन करनेके लिये रामबाणके समान है। इस जलमें अतींद्रिय आनन्दका अदभुत स्वाद है। इसमें संकल्प विकल्परूपी मगरमच्छोंका दौरदौरा नहीं है न इसमें रागद्वेषकी कालिमा है न इस जलमें पुद्गलमई ज्ञानावरणादि कर्मोंकी मिश्रता है। यह जल स्वच्छ स्फटिक मणिके समान चमक रहा है। इसकी निर्मलतामें अनेक ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं तथापि इसकी भूमिकामें उनके प्रतिभाससे कोई विकार नहीं होता है। यह पवित्र गंगा अपने भक्तोंका उद्धार करनेवाली है। उनको वीतरागताका रस पिलाकर पुष्ट करनेवाली है। आज हमारे आनन्दका पार नहीं है। हम इस गंगामें गोता लगाते हुए अपनेको गंगा रूप ही करते हुए अदभुत साम्यताका विकाश कर रहे हैं मानों सिद्ध रूप ही होकर स्वानुभूतिमें मग्न होरहे हैं।

३२३-मतवालेका स्वांग।

एक आत्मा आत्मानुभवका मद पिये हुए सर्व जगतकी रंगतोंसे उन्मुख होकर मतवालेके स्वांगमें रंगा हुआ अपने अपूर्व नशेमें चूर हो बैठा है। दुनियाके लोग उसे दुनियाके कामका न जानकर उसकी निंदा करते हैं—उसको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं। उसको कोई लात घूसा भी मार देते हैं तौभी वह इन सबकी तरफ बिलकुल भी ध्यान न करता हुआ अपने ही आत्ममदकी तरंगोंमें कल्लोल कर रहा है। इसका यह स्वांग इसको सिद्ध भगवानसे भेंट करा रहा है। यह उन्मत्त न सिद्धोंको नमस्कार करता है न अरहन्तोंकी स्तुति करता है न आचार्य उपाध्याय साधुका गुण गाता

है न इनमेंसे किसीकी कोई प्रकारसे पूजा करता है। इसकी आश्चर्यकारक दशा है। यह आत्मानदके नशेमें अपनेको ही सबसे महान सुखका निधान, परम ज्ञानवान, तथा परमपवित्र मान रहा है। इन माननका विकल्प न करते हुए भी ऐसी मान्यतामें इतना गुप्त है कि इसके मनमें कोई विचार होता ही नही। इस मतवालेको कोई उठाकर फेंक दें, कोई मनोहर आभूषण व वस्त्रोंसे सज दें, कोई शस्त्रोंसे घायल करे तौभी इसकी मदता नहीं जाती। इसकी उन्मत्ततामें विकृति नहीं होती। वास्तवमें यह एक परम अभेद्य शात रसमई दुर्गमें पहुच गया है जहा कोई इसका कुछ भी बाल बाका नहीं कर सक्ता। धन्य है इस मतवालेका स्वाग जो सबके लिये दर्शनीय है परन्तु वह किसीको नहीं देखता—यही अपूर्वता परमानन्दका बीज है।

३२४–अद्भुत नदी।

एक भवभ्रमणसे थका हुआ व्यक्ति अत्यन्त त्रासको प्राप्त हो सर्व परद्रव्योंकी शरणमें जाकर भी अशरण होता हुआ तथा भवके जन्म मरण वियोग व विषयतृष्णाके महान क्लेशोंसे व्याकुल होता हुआ अपनी दाहकी शातिके लिये यकायक आत्मानुभूति रूपी नदीमें पहुच जाता है जहा समताका महा सुन्दर व मिष्ट जल बहता है जिसमें ज्ञानमई तरगें उठ रही हैं। इस नदीके जलके स्पर्श होते ही सपूर्ण आपत्तियोंसे मुक्त होकर एक अतींद्रिय आनन्दका स्वाद पाता है जिसका अनुभव इंद्रियासक्त प्राणियोंको कभी नहीं होता है। इस नदीमें नोकर्म व द्रव्य कर्म रूपी ककड़ पत्थर व वालुका नहीं हैं न इसमें रागद्वेषादि भाव कर्मोंका मल है।

इस जलमें परम स्वच्छता है जिस स्वच्छतामें पदार्थोके स्वभाव जैसे है तैसे दिख रहे हैं। इस आत्मानुभूति रूपी नदीमें गोता लगाते हुए प्राणी सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित अत्यन्त निश्चल दशाको प्राप्त होता है जहा नय, प्रमाण, निक्षेप आदिके कुछ विसवाद नहीं है। इस नदीका स्नान आत्माकी शुद्धताका कारण है। यह नदी इसलिये अद्भुत है कि इसमें जल न कहींसे आता है न इसमेंसे कहीं जाता है न कम व बढ़ होता है। तरगें भले ही हों पर इसका एक अश भी कभी नहीं सूखता। इस अनादि अनत परम स्वाधीन नदीका विहारी सदा ही निर्मल रहता हुआ और सुखशातिको भोगता हुआ परम तृप्त रहता है।

३२५-परमतत्त्व।

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई परम निरजन शुद्धात्माका भावज्ञान ही परम तत्त्व है। जहा सर्व कल्लोल मालाए विदा होजाती हैं और उपयोग आप ही अपनी मूल भूमिकामें थम जाता है वहीं परम तत्त्वका दर्शन होजाता है। परमतत्त्व मैं हू—मेरेमें परमतत्त्व है ऐसा विकल्प जहा नहीं रहता है। विकल्प करनेवाला ही विलय हो जाता है वहीं परमतत्त्व झलकता है। जिस परमतत्त्वकी ज्योतिमें स्वआत्माके सिवाय अन्य अनेक विकारी तथा अविकारी पदार्थ झलकते हैं तौभी किसी तरहके रागादि विकारको नहीं उत्पन्न कर सक्ते है वही परमतत्त्व है। परमतत्त्व जातिकी अपेक्षा एक होनेपर भी व्यक्तिपनेकी अपेक्षा अनत आत्माओंमें अनन्त है—जहा एक व अनेकका विकल्प न होकर सामान्य परमतत्त्वका झलकाव है वह परमतत्त्व है। स्याद्वाद नयकी अनेक कल्पनाएँ पदार्थको अनेक रूप

भिन्न२ दृष्टिसे दिखलाती है। जहांतक ये सब कल्पनाजाल हैं वहांतक परमतत्त्व हाथमें नहीं आता। जहां उपयोग इन सब कल्पना जालोंको फेंककर एक सामान्य चिद् स्वभावमें जम जाता है वही परमतत्त्व है। जहां परका ग्रहण तथा निजका त्याग नहीं होता किंतु अपना सत्य अपने पास रह जाता है—अपने सर्व सत्वका प्रभुत्व होकर भी जहांपर प्रभुत्वका अहंकार नहीं है किंतु वीतरागता और साम्यभाव है वहीं परमतत्त्व है। परमतत्त्व एक अति मनोहर और अत्यन्त सार वस्तु है। इसका वस्तुत्व निरंतर स्वात्मानंदका भोग है। जहां अतींद्रिय आनन्दके सिवाय आनन्दका नाम नहीं है वहीं परमतत्त्व है।

३२६–एक कतरनी।

बहुत दिनोंके प्रयासके पीछे श्रीगुरुके अनुग्रहसे एक भव्यात्माके हाथमें एक कतरनी आगई है जिससे वह भव्य उन सर्व कार्मिक बन्धनोंको आत्मासे छुडाता हुआ आत्माकी स्वच्छता कर रहा है जिनका सम्बन्ध अनादिकालसे होरहा था। वह कतरनी एक स्वानुभवमई ज्योति है जिसमें संकल्प विकल्पोंका अभाव है इस कतरनीमें ऐसी तीक्ष्ण धारा है कि यह आत्मा और अनात्माकी मिली हुई सूक्ष्म संधिके ऊपर पड़ती हुई आत्माको अनात्मासे एकदम भिन्न कर देती है। ज्ञानमई ही कतरनी है, ज्ञानमई ही हाथ है जो कतरनीको पकड़ता है, ज्ञानमई ही उपयोग इसका प्रयोग करता है। वीतरागता मिश्रित ज्ञानमई कतरनीका उपयोग होते हुए कुछ भी प्रयास नहीं मालूम होता है। उसके प्रयोगके समय मन, वचन, कायके व्यापार अलग रह जाते हैं। चैतन्य अपने

पूर्ण शक्ति इसी कतरनीके व्यवहारमें लगा देता है। मैं बन्धोंको काट्टू—उस बन्धके काटनेके लिये मैं कतरनी व्यवहार करूँ, बन्ध कटते हैं ये सब विचार उस कतरनीके व्यवहारके समय नहीं होते हैं। सच पूछो तो आत्मा उस समय आत्मारूप ही रह जाता है। आत्माको आत्माके सिवाय कुछ नहीं दिखता। गुणगुणी द्रव्य पर्यायके सर्व विकल्प मिट जाते हैं। आत्मा एक एकाकी अपनी ही शुद्ध परिणतिमें रमण करता है। यही कतरनी है, यही कतरनीका प्रयोग है। यही परको काट आपको आपमय रखनेकी क्रिया है।

३२७-ज्ञान सरोवर.

एक ज्ञानी निरन्तर ज्ञान सरोवरमें मग्न होकर अपने आत्म प्रदेशोंको सुख शांतिसे भरपुर करके जो वर्तन कर रहा है उसका कथन किसी तरह नहीं होसक्ता। इस ज्ञान सरोवरमें स्वात्मानुभूति रूपी जल है जिसमें अपूर्व तरगे नित्य उठकर ज्ञानीको आल्हादित कररही हैं। इस सरोवरकी मर्यादा नहीं है। इसकी स्वच्छतामें अनन्त पदार्थ विना किसी क्रमसे एक साथ झलकते हैं तौभी कोई विकार नहीं पैदा करते हैं। इस सरोवरमें सकल्प विकल्परूप मीने नहीं हैं न यहा क्रोधादि मच्छोंका सचार है। गुणस्थानमें मिथ्यात्व सासादन आदि भेद भी यहा नहीं हैं। शुद्ध सरोवरमें मग्न होना सर्व सकटोंसे जीवको पृथक रखता है। ज्ञान सरोवरमें जो रमता है वही रत्नत्रयका स्वामी है, वही सर्व आकुलताका नाशक है, वही शुद्ध स्वभावका प्रकाशक है। समता नदीके समान समताका द्योतक यह सरोवर है जहा ममता मोहकी कालिमाका नाम-तक नहीं है। इस सरोवरकी शोभा तो निराली है। अनतगुण

रूपी कमल यत्रतत्र विकसित हो अपनी प्रभा एक दूसरेपर विस्तार रहे हैं । तटोंपर मनोहर भावरूपी सीढ़ियां हैं, इन्हीं शुद्धताकी निकटवर्ती सीढ़ियोंके द्वारा इस ज्ञान सरोवरमें गमन होता है। अनेक शुद्ध पदार्थरूपी वृक्ष सरोवरके तटोंपर शोभित अपनी झलक ज्ञान सरोवरमें दिखा रहे हैं । जो इस ज्ञान सरोवरके रुचिवान हैं वे ही सम्यग्दृष्टी ज्ञानवान हैं और वे ही भव भयसे अतीत हो सदा आनन्दमें काल व्यतीत करते हैं ।

३२८-निर्मल जलावगाहन।

मैं आज सर्व द्वन्द्वोंसे हटकर निज घटके भीतर भरे हुए निर्मल ज्ञान-जलमें अवगाहन करता हुआ व उस ज्ञानके विषयरूप ज्ञेयकी अनन्तताका अनुभव करता हुआ जो संतोष प्राप्त कर रहा हूं उसका वर्णन नहीं हो सक्ता । यह ज्ञान जल अथाह है, परन्तु इसमें कोई रागद्वेष मोहकी कालिमा नहीं है, न इच्छारूपी मीनें ही यहां कल्लोल करती हैं । निर्मल स्फटिक समान जलमें जो वीतरागतारूपी शीतलता है उसके द्वारा जो सुख अवगाहन होनेवाले व्यक्तिको मिलता है वह सुख इंद्रियजन्य सुखसे अत्यंत विलक्षण है । इस जलमें उत्पाद व्ययरूप तरंगे उठा करती हैं तथापि जल न कमती होता है न बढ़ता है और न अपनी अमिट मर्यादाको त्यागता है । यद्यपि जिस आत्माके प्रदेश रूप क्षेत्रमें यह अथाह जल है वह नियमित है परिमित है तथापि जलकी अनन्तता सर्वज्ञ गम्य ही है । एक समयमें सर्व ज्ञेयोंको जानता हुआ और निर्विकारी रहता हुआ यह आत्मप्रभु अपनी अपूर्व महिमाको विस्तारकर सिद्ध महलमें ही मानों वास कर रहा है ।

३२९-ऐक्यकी तरंग।

इस जगतमें अनैक्यकी कलुषता रागद्वेषका बीज है। जो भव्यात्मा इस कलुषतासे बचकर वीतरागताके आगनमें कल्लोल करना चाहते हैं वे भेदभावको मेटकर शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें आजाते हैं और तब सर्व स्थानोंमें शुद्ध आत्माके स्वभावोंको एक समान देखकर अद्भुत ऐक्यभावका लाभकर उसीकी निर्मल तरंगोंका विलास करते हुए परमानन्दका भोग करते हैं। ऐक्यकी तरंगमें मेरा तेरा नहीं रहता है, समताकी शोभा अद्भुत तरंग दिखाती है। पाप पुण्यके व उसके फल सुख दुःखके सर्व विकल्प स्वाहा होजाते हैं। निर्विकल्प और परमशांत अवस्थाका दृश्य छ जाता है। भले ही स्याद्वाद नय उसको बतलावे कि आत्मा नित्य भी है अनित्य भी है, एक भी है अनेक भी है, सत् भी है असत् भी है, शून्य भी है अशून्य भी है तथापि तत्वज्ञानीके भीतर ये सब विचार बंद होजाते हैं और वह बिल्कुल अविचार होकर अपनी सत्तामें आप ही तन्मय होजाता है। इसी तन्मयतामें रत्नत्रयका ऐक्य है। इसी ऐक्यमें अद्भुत तरंगावली है। जो बिलकुल शुद्ध और पूर्ण स्वरूप है इसीका स्वाद लेकर मग्न रहना ऐक्यकी तरंगका लाभ लेना है।

३३०-संसारनाशक वटी।

एक परम हितैषी ज्ञानी वैद्यकी कृपासे एक अनादि कालके संसार-रोगीको संसार रोग नाशक परम पुष्टिकारक, परममिष्ट, परमकोमल, परमानंदकारक और परम सुन्दर रत्नत्रयमई वटी प्राप्त होजाती है इस वटीको स्वानुभूति कहते हैं। जो परम रुचिसे इस

वटीका सेवन करते हैं उनका कर्म रोग नष्ट होता चला जाता है तथा निजस्वरूप सन्मुख होता है। इस वटीका सेवन करनेवाला इस बातको बिलकुल भूल जाता है कि सेवनेवाला कौन है व किसका मैं सेवन कर रहा हूं। सकल्प विकल्पके कोई जाल बुद्धिमें नहीं रहते हैं। जैसे पवनसचार रहित समुद्र निश्चल रहता है वैसे राग द्वेषरूपी पवनके सचार विना ज्ञानीका उपयोग निश्चल रहता है। इस वटीके प्रभावसे सम्पूर्ण चेतन अग आनन्दकी वासनासे वासित होजाता है। वटीसेवककी दृष्टिमें सर्व जगतके पदार्थ भिन्न२ अपने२ स्वरूपमें दिखते हैं। पुद्गल, जीव, धर्म, अधर्म, काल, आकाश सब अपने२ स्वभावमें कल्लोल करते हुए व अपनी परिणतिमें आप ही परिणमन करते हुए मालूम पडते हैं। कोई पदार्थ किसीसे शत्रुता न रखता हुआ किन्तु मित्रत्व रखता हुआ झलकता है—सबमें एकता और प्रेम नजर आता है। इसी कारण समताका क्षीर सागर चहु ओर झलकता हुआ ज्ञानीको जो सुख शातिका अनुभव आता है उसका वर्णन ही असभव है।

२२१—सिद्धान्तका रहस्य।

शब्द भडार सिद्धातसे काम नहीं निकलता, क्योंकि वह पौद्गलिक जड है, उसीका रहस्य आत्मानदका पान है। जो इस अमृतको पीते हैं वे सदा ही आल्हादित, सतुष्ट तथा तृप्त रहते हैं। इस अमृतकी प्राप्ति अपने ही आत्माके सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्रमई—रत्नत्रयमई विभूतिके दर्शन तथा भोगसे होती है। जिस समय कोई महात्मा इस अमृतका पान करता है उस समय वह सर्व सकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर निर्विकल्प आत्मसमाधिमें लय हो

जाता है। यद्यपि लोकमें छ द्रव्योंकी सत्ता है तथापि उस ध्याताके ध्यानमें सिवाय आपके और कोई दृष्टिगोचर नहीं होता है। सच पूछो तो वहा आप भी अपनेको नहीं दिखता है। वहा तो एक अपूर्व आनन्दका मद चढ़ जाता है जिसमें बेहोश हो वह सब कुछ भूल जाता है। इस तरह जो सिद्धातका रहस्य लेता है वही सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, श्रुतकेवली, केवली तथा सिद्धसम है। उसकी आत्मामें ज्ञान वैराग्य रसकी तरंगें अद्भुत उत्सव उत्पन्न करती हुई स्वतत्रता और शुद्धताकी सीमाकी तरफ लेजाती हैं।

३३२-ज्ञानकी खड्ग।

एक वीर आत्मा अनादिकालके पीछे पड़े हुए कर्मशत्रुओंसे त्रासित होकर उनके सहार करनेका दृढ निश्चय करके भेद ज्ञानकी तीक्ष्ण खड्ग उठाता है और उन शत्रुओंके सामने उस खडगका ऐसा अभ्यास करता है कि वे शत्रु भय खाकरके उसको छोड़कर चले जाते हैं। तथा उसकी खडगकी स्मृति ऐसी बलवती होती है कि वे फिर भी आक्रमण करनेका साहस नहीं कर सक्ते तब वह वीर सदाके लिये विजय पताका फहराता हुआ जिन या जिनेन्द्र नामको पाकर अपनी सत्ताको सदा काल स्थिर रखता हुआ अपने परम सतोष तथा आनन्दमें मग्न रहता है। यह भेदविज्ञान खड्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र ऐसे तीन मसालोंसे बनाई जाती है। इसकी चमक स्वानुभूतिकी ज्योतिसे चमकती हुई परद्रव्योंको दूर रखती है। तथा स्वद्रव्यकी खुबियोंको इस तरह झलकाती है कि आनन्द गुण जो चिरकालसे अप्रगट था यकायक प्रगट होजाता है। यह आनद ही एक अपूर्व रस है जिसके रसमें यह वीरात्मा

भ्रमरकी तरह लुब्धायमान होता हुआ अपने मरण जीवन आदिकी कुछ भी चिंता न करता हुआ तन्मय होकर पड़ा हुआ मोक्ष और मोक्षमार्गके रूपको दिखाता है।

२३३-परम अद्भुत मंत्र।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा अपने सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर एक ऐसे परम अद्भुत मंत्रको जानता है कि जिसमें न कोई शब्द है न उसका उच्चारण हो सक्ता है न मनमें ही उसका मनन हो सक्ता है। उसकी परिणति मन वचन कायके परिणमनसे निराली है। उस मंत्रको स्वानुभव कहते हैं। इस मंत्रके शांतमय प्रयोगसे स्वयं कर्मफल झड़ जाते हैं और यह आत्मा परम शुद्धताको प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं वह मंत्र एक अद्भुत अतींद्रिय आनन्द भी प्रदान करता है। इसी मंत्रने मिथ्यात्वीको सम्यक्ती, श्रावक, मुनि, केवली तथा सिद्धपदमें पहुंचा दिया है। सिद्ध सबसे अंतिम पदमें पहुंचकर भी इस मंत्रका शरण नहीं त्यागते हैं। वे भी निरन्तर इसी मंत्रके प्रभावसे अपने स्वभावमें रमते हुए नाना-नंदका विलास करते हैं। स्वानुभव मंत्रकी महिमा अगाध है। इसी मंत्रकी छाप पड़नेसे ही जैन सिद्धांतमें णमोकार मंत्रकी अद्भुत महिमा कह दी गई है। जो इस मंत्रको जानते हैं उनका नर्कवास भी अच्छा है। स्वर्ग व अहमिंद्रपद इस मंत्रके बिना निरर्थक है। मैं आज सर्व अन्य तंत्रों मंत्रोंको छोड़कर इसी स्वानुभव रूप मंत्रका प्रयोग करता हुवा निश्चय धर्मका धर्मी होता हुआ मात्ररूप होरहा हूं।

३३४-सत्य व्रत।

जगतमें यदि कोई सत्यव्रतको पहचानना चाहे तो वह सिवाय अपने स्वरूपके कहीं और पा नहीं सक्ता-सत्यव्रत उसे ही कहते हैं जिसमें वस्तुका सत्यपना स्थिर रहे-उसमें किसी भी परवस्तुके सम्बन्धसे कोई अवस्तुपना न आजावे। निज आत्मा अनंत ज्ञानादि गुणोंका समूह है। उनका अखंड समुदाय ही आत्मा है। उसमेंसे न तो कोई गुण अलग होसक्ता है और न कोई गुण उसमें प्रवेश पासक्ता है। अपने भीतर तिष्टे हुए अगुरुलघु गुणके कारण वस्तुके सत्यव्रतके अखंड पालनमें कोई त्रुटि नहीं आती है। ऐसी दशामें उनका आत्मत्व रहना ही सत्यव्रत है-जो कुछ जैसा वह है वही वह है-यही सत्यता है। यहा रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म व शरीरादि नोकर्मका कहीं भी अवकाश नहीं है, वह निर्मल स्फटिकके समान व निर्मल जलके समान सदा अखंड रूपसे शोभायमान है। उसमें कहीं भी कोई वैभाविक विकार नहीं है। धन्य है वे जीव जो इस सत्यव्रतको अखंड रूपसे पालते हुए अनंतकाल तक मस्त रहते हैं। वे ही सच्ची सामायिकको पाते हुए स्वरूप रमणसे परमानंदका स्वाद लेते रहते हैं और पूर्ण सत्यव्रती कहलाते हैं।

३३५-संसार निषेध।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर जब अपने भीतर आपको देखता है तब वहां बिल्कुल संसारका निषेध ही मिलता है। वास्तवमें जहां संसार है वहां निश्चयधर्म नहीं है, जहां निश्चयधर्म है वहा संसार कहीं दिखलाई नहीं

पड़ता है। निश्चयधर्म हरएकका हरएकमें है। हरएक अपने धर्मका स्वामी है। आत्माका धर्म आत्मामें है। पुद्गलका धर्म पुद्गलमें है। आकाशका धर्म आकाशमें है। मैं आत्मा हू–मेरा धर्म मेरेमें है। मेरा धर्म ज्ञानदर्शन चारित्र वीर्य सुख आदि मेरेमें है। मेरेमें अज्ञान, कषाय, विषय आदि सकल्प विकल्प नहीं है। मेरेमें ससारका नाम मात्र भी नहीं है। मैं द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव रूप पच परावर्तनोंसे भिन्न हू–न मेरेमें कोई नरक तिर्यंच मनुष्य या देवगति ही है–मैं ससारके कारण रागद्वेष मोहसे भिन्न हू, मै ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे निराला हू, मैं शरीरादि नो कर्मसे भिन्न हू, ससारके कारण असख्यात लोकप्रमाण कषाय स्थान, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये चार प्रत्यय व उनके ही भेद मिथ्यात्वादि अयोग पर्यंत गुणस्थान मेरेमें नहीं हैं–जहा ससार है वहीं मोक्ष है न मेरेमें ससार है न मोक्ष है। मैं सात तत्वसे निराला एक अनुभव योग्य वस्तु हू।

२३६–जय लक्ष्मी।

वास्तवमें जयलक्ष्मी उपकारिणी है। इसका लाभ उसीको होता है जो निज स्वभावमें कल्लोल करता हुआ परस्वभावमें किंचित् भी रागद्वेष नहीं करता हुआ क्रोधादि शत्रुओंका प्रवेश नहीं होने देता है वही अष्टकर्म वैरियोंपर विजय प्राप्त कर जयलक्ष्मीसे आलिंगन करता है। इसीको जिन, जिनेन्द्र या परमात्मा कहते हैं। अपना स्वभाव परम शुद्ध ज्ञानान्दमय है यही मनन निश्चय धर्मका मनन है। मेरेमें आश्रव, बध, सवर, निर्जरा व मोक्षके कोइ विकल्प नहीं है। न वहा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान चारित्रके भेद हैं–मैं निर्मल ज्योतिधारी दीपकके समान स्वपरका प्रकाश करनेवाला हू

मेरे ज्ञानमें ज्ञेय झलकते हैं परन्तु मुझे विकारी नहीं बना सके हैं। मेरी लीला ही अद्भुत है। मैं सर्व जगतकी सैर करता हुआ भी वीतरागी हू। अनादिसे अनन्तकाल तक एक निज स्वभावमें रहना ही मेरा कर्तव्य है। मेरा जगत मेरेमें है। मेरी सम्पत्ति मेरेमें है, मेरा आसन मेरेमें है, मेरा भोजन मेरेमें है, मेरा पान मेरेमें है, मेरी नारी मेरेमें, मेरी शोभा मेरेमें है, मेरा खेल मेरेमें है। सब कुछ मेरा मेरेमें है इसलिये मैं परम सतोषके साथ आपमें रमण करता हुआ जयलक्ष्मीके प्रतापसे परमानदित होरहा हू।

३२७–ज्ञान मार्ग।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित हो जब अपने आपमें देखता है तो वहा एक ज्ञान मार्गको पाता है जिस मार्गमें सिवाय आपके कोई चल नहीं सक्ता है। चलनेवाला चलने२ स्वय निज स्वभावमें पहुच जाता है। वास्तवमें साध्यके अनुकूल ही साधन होता है। ज्ञान मार्गमें आत्मा अपने स्वाभाविक गुणोंपर लक्ष्य देता हुआ स्वभावके अतिरिक्त विभावोंका बिलकुल भी सन्मान नहीं करता है। उसकी दृष्टिमें निजद्रव्य, क्षेत्र, काल भावके सिवाय पर द्रव्यादिकी भावना नहीं रहती है। वह स्वय स्वरूपाशक्त होकर अनुभवानन्दके अमृतका पान करता हुआ ऐसा उन्मत्त होजाता है कि उसको सिवाय आपके किसीका भी स्मरण नहीं रहता है। ज्ञान मार्गमें न स्वासके निरोधका प्रयत्न है न ग्रन्थ पठन है न आसनका बल है न किसी पर द्रव्यका आलम्बन है। आप ही अपने स्वाभाविक बलपर आलम्बन रखता हुआ जो खड़ा होता है वही ज्ञान मार्गका चलनेवाला है। ज्ञान मार्गमें व्य-

व्यहारका स्वप्न भी नहीं आता न वहां कोई क्लेश मोह सतापका आविर्भाव होता है। ज्ञान मार्ग सुवर्णमय मार्ग है। यह मोक्षसे कुछ कम नहीं। निर्विकल्प भावके साम्राज्यको ज्ञान मार्ग कहते हैं। यही यथार्थ सुखसाधक है।

२३८-परमात्मसुख।

जब भलेप्रकार विचार किया जाता है तो यही झलकता है कि परमात्मसुख परमात्मामें तो है ही परन्तु अपने इस निज आत्मामें भी है—जैसे वहां आनंदका सागर शांतिमई कल्लोलोंसे लहलहा रहा है वैसे यहां भी विकसित होरहा है। परमात्म सुखकी महिमा अगाध है। इन्द्रियजनित सुख जब पराधीन है तब यह स्वाधीन है। इन्द्रियोंका सुख विषरूप, नष्ट होनेवाला, आकुलताकारी तथा पापबंधका बीज है जब कि अतीन्द्रिय सुख बाधा रहित, अविनाशी, निराकुल और कर्मबंधका नाशक है। जब यह आत्मा आप अपने स्वरूपमें रमता है तब परमात्म सुख सदा ही अनुभवमें आता है। निश्चयसे न मेरेमें संसार है, न मोक्ष है, न बंध है, न आश्रव है, न भावकर्म है और न नोकर्म है। शुद्ध स्फटिकके समान मेरी निर्मल मूर्ति है जिसकी शोभा वचनातीत है। मैं बिना किसी संशयके सर्व बाधाओंसे दूर होकर निज अनुभूति तियामें रमण करता हुआ जो कुछ स्वाद पाता हूं वही परमात्म सुख है। यह सुख ज्ञानियोंकी विश्रामभूमि है इसीके प्रतापसे सर्व परशत्रु अपनेसे दूर रहते हैं। जैसे कमल जलका स्पर्श नहीं कर सके वैसे वे ज्ञानी आत्माको स्पर्श नहीं कर सके। ज्ञानी सर्व विकारोंसे रहित हो निरंतर उसी परमात्म सुखका ही अनुभव करता है।

३३९-संगति।

जगतमें सगति बहुत भारी असर रखती है। पुद्गलकी सगतिसे ही त्रिलोकीनाथ परम कृतकृत्य ज्ञानानदमई आत्मा अपने प्रदेशोंमें सकम्प होता हुआ तथा विकारी होता हुआ रागद्वेष मोहके निमित्तसे कर्मोंको बाधता हुआ लोकाकाशके मध्यमें चक्कर लगाया करता है और सुख शातिकी कामनासे पर पदार्थोंमें रति करता हुआ उनके वियोगमें दुःखी होता हुआ व इच्छित सयोगकी तृष्णामें फसा हुआ महा व्याकुल रहता है। इस कुसगतिको कुसगति समझते हुए जो अपने अमिट शुद्ध गुणोंकी सगति करते हैं वे स्व-स्वरूपाशक्त होते हुए सर्व तृष्णाके झझटोंसे छूटकर, सर्व आकुलताकी तरगावलीसे रहित होकर नित्य परम सुख शातिका भोग करते हैं। मैं शुद्ध, सिद्ध, अविनाशी, ज्ञाता दृष्टा, आनन्दमई, एकरूप, असहाय, निर्मल जल या स्फटिकमणिकी मूर्तिमय स्वच्छ हू-मेरेमें न कोई परगुण द्रव्य पर्याय है न परकृत नैमित्तिक भाव है। मैं अखड, अभेद, स्वानुभवगम्य हू। मैंने अपनी स्वानुभूति नारीकी सगति ही उपादेय समझी है। इसलिये इस सुखदाई सगतिमें रहता हुआ मैं आनन्दामृतका स्वाद लेता हू और परम समाधिमें मौन रहकर जिसकी सगति की है उससे ऐसा एकमेक होजाता हू कि पूर्ण अद्वैत भावमें प्राप्त होजाता हू। यही निश्चयधर्मका आरोहण है।

३४०-संत-समागम।

वास्तवमें सतसमागम बहुत ही अपूर्व वस्तु है। जिनको यह समागम निरतर प्राप्त है वे बडे ही भाग्यशाली जीव हैं। मैं जब अपनी ओर दृष्टिपात करता हू तो अपने भीतर बड़ा ही अपूर्व-

अमिट सतसमागम पाता हू । मेरे अनत ज्ञानादि गुणरूपी सतोंमें परम वैराग्यकी छटा झलक रही है । इन गुणरूपी सतोंने परस्पर ऐसी एकताकर रक्खी है कि वे सब मेरी भूमिकामें बड़े मेलसे रहते हुए मेरे स्वराज्यको परम स्वतन्त्र व सुखदाई किये हुए हैं । यहा कोई विरोध व कोई उपाधि नही है । साम्यभाव बडी ही शांतिसे झलक रहा है । ऐसे सत समागमका लाभ लेता हुआ मैं त्रिलोकज्ञ व त्रिकालज्ञ होता हुआ भी किंचित भी खेदको नहीं प्राप्त करता हू । वास्तवमें मेरा कोई प्रयास स्वपरके जाननेका नही है । मेरा स्वभाव ही ऐसा अपूर्व है कि जिसमें स्वपर सब एक साथ जैसेके तैसे झलकते हैं परन्तु वे कोई दृश्य मेरी वीतराग विज्ञानमई भूमिकाको मलीन नहीं कर सक्ते हैं । ऐसे समागममें मैं परम तृप्त होता हुआ अपनी अनुभूतितियाके रमणसे जो आनद प्राप्त करता हू वह अकथनीय है ।

३४१-परमप्रेम.

एक ज्ञानी आत्मा अपनी सर्व शक्तिको उपयोगमें लाकर अपने ही प्रदेशमें विराजित आत्मदेवका दर्शन, पूजा, मनन करता हुआ जिस उत्कृष्ट प्रेमको दर्शा रहा है उसका कथन किसी भी तरह नहीं होसक्ता है । इस परम प्रेममें द्वेषभाव नहीं झलकता है । यहा सब तरहसे एकाकार अद्वैत सामान्यभाव निर्विकल्प भावका ही दर्शाव है। अपूर्व, अतींद्रिय और परम शात आनन्दका अटूट श्रोत यहापर बह रहा है । यह आत्मा इसी श्रोतके अमृतमई जलमें नित्य स्नान करता है और नित्य इसी हीका पान करता है । इस जलमें जो मिष्टता व पुष्टता है उसके प्रतापसे किसी भी तृष्णा

क्रोधादि कषायके अशका यहा टिकाव नहीं है। परम कृतकृत्यता और तृप्तिको पाता हुआ यह ज्ञानी आत्मा अपनी आभामें परम सौन्दर्य व परम गभीरभावको दिखला रहा है। इसको परमात्मा कहो, परमेश्वर कहो, विष्णु कहो, महेश कहो, बुद्ध कहो, ब्रह्म कहो, पुरुषोत्तम कहो, शकर कहो, जिनेन्द्र कहो, सार्व कहो, आप्त कहो, गणेश कहो, सर्वज्ञ कहो, वीतराग कहो, सत् कहो, चित् कहो, आनन्द कहो, एक कहो, अनेक कहो, नित्य कहो, अनित्य कहो, भोक्ता कहो, ज्ञाता कहो, ज्ञेय कहो, प्रतिमा कहो, मदिर कहो, तीर्थ कहो तीर्थंकर कहो, जो कुछ कहो सब कथनमात्र है। निश्चयसे यह तो मात्र अनुभवगोचर है।

३४२-मोह महातम।

किसी व्यक्तिने कहा कि मोह महातम तुम्हारे भीतर छाया हुआ है इससे इसको दूर करना चाहिये। उनकी इस बातको सुनकर मैं जो अपने भीतर ध्यानसे देखने लगा तो कहीं भी इसका पता मुझको नहीं मिला। मैंने अपने ही साथ बैठने उठनेवाले पुद्गलके भीतर देखा तो वहा भी इसका पता न चला। मेरी सगतिमें उदासीन भावसे रहनेवाले धर्म, अधर्म, काल, आकाशमें देखा तो वहा भी इसको न पाया तब मैंने अपने ही आत्मामें इसको तलाश किया तो वहा भी यह न मिला। वहा तो परमज्ञान प्रकाश अपनी प्यारी वीतरागता और आनन्द मग्नताके साथ व परम शुद्धताके साथ झलक रहा है। न कहीं मोह है, न कषाय है, न कोई विकार है—शुद्ध स्फटिकमणिके समान परम स्वच्छताके सिवाय वहा कोई भी दोष कहीं नहीं दिखलाई दिया। धन्य है मेरी ज्ञानदृष्टि

जहां सब पदार्थ अपने अपने स्वाभाविक रसमें मग्न होते हुए ही दिखलाई पड़ते हैं। न कोई किसीको कष्ट देता मालूम पड़ता है न कोई किसीको प्यार करता मालूम पड़ता है। साम्यभावका जो अपूर्व दृश्य है वह सर्वत्र झलक रहा है। इसीलिये मैं मोहादिका नाम भी न लेता हुआ अपनी शुद्ध चेतन्य परिणतिमें कल्लोल करता हुआ स्वानुभवका आनन्द ले रहा हूं।

३४३–शांत छवि.

जगतमें यदि कोई परमशांत छविका दर्शन करना चाहे तो उसको अपनी ही भूमिकामें देखना चाहिये। जिस समय परपदार्थोंसे रागद्वेष त्यागकर वह अपने ही भीतर देखेगा तो उसको ऐसी शांत छवि दिखलाई देगी कि जिसके मुकाबलेकी कोई छवि और कहीं नहीं मिल सक्ती है। वह छवि अकृत्रिम, अमिट, अनादि, अनंत, परम सौम्य चैतन्य धातुकी मूर्ति सर्वज्ञ व सर्वदर्शीपनेकी महान शोभाको रखनेवाली है। उस मूर्तिको सिद्ध परमात्मा, परमानंदी, परमेश्वर, परम कृतकृत्य, परम सार, परम अनुपम, परम गंभीर, परम धीर व परम अमल कहते हैं। वास्तवमें उसका कोई नाम नहीं है न उसमें कोई स्पर्श रस गंध वर्ण है। वह परम प्रतापमय कोटि सूर्यकी दीप्तिसे भी अधिक दीप्तिमान है। उस छविका जो दृष्टा है वही वह छवि है–दृष्टा दृश्य एक ही है। मैंने अपनेको जाना ऐसा कहना जैसे व्यवहार है, वैसे मैंने अपनेमें ही परमशांत छविको देखा यह कहना व्यवहार है। वास्तवमें जो आप ही छविका स्वामी है वही शांत छवि है। जो इसका दर्शन वे परमानंदको भोगकर परमसुखी रहते हैं।

३४४--दर्शनविशुद्धि×

वास्तवमें दर्शनविशुद्धि एक अपूर्व रत्न है। जिसके मुकुटमें यह शोभायमान है उसकी महिमा वचन अगोचर है। उसको यह जगत एक नाट्यशाला दिखती है। पुद्गल और जीवके सम्बन्धसे मेल होरहे हैं तौभी उस ज्ञाताको पुद्गल पुद्गलरूप और जीव जीव-रूप नजर आता है। सर्व जीवोंकी समानता उसको समतासागरमें डुबा देती है। उसके हृदयमंदिरमें रागद्वेषादि विकारोंका पता नहीं चलता। वहा तो एक आत्मारूपी देव अपनी अद्भुत शानसे विराजित सर्व ज्योतियोंको मद करता हुआ यहातक कि अरहतके परमौदारिक पुद्गलमई शरीरकी आभाको भी लज्जित करता हुआ विराजमान है। जिस ज्योतिमें स्वपर प्रकाशता तो है परन्तु कोई चिन्ता या आकुलता नहीं है। इस मनोहर आत्ममूर्तिको कोई बना नहीं सक्ता न कोई उसे बिगाड़ सक्ता है। यह अव्याबाध, अनु-पम, परम विशाल, परम सुन्दररूप व परमसार है। इसके हरएक प्रदेशसे आनन्दामृतकी बौछारें सदा निकला करती हैं। जो तत्व-ज्ञानी इस आत्मादेवकी सेवा करता है उसे निरतर अमृतका पान प्राप्त होता है। वह सदा इसकी शात बौछारोंसे अपने गात्रको पवित्र करता हुआ परम सतोष और परम शातिको पाया करता है।

३४५--धर्म×

लोग कहते हैं कि इस जगतमें कोई एक ऐसा मित्र है जो विना किसी स्वार्थके दुखियोंका दु ख निवारण करके उनको परम सुखके स्थानपर पहुचा देता है। मैं बड़े प्रेमसे ऐसे परमोपकारी

मित्रको ढूंढने लगा। तीन लोकके भीतर सब ही जीवोंको सब ही पुद्गलके स्कंध और परमाणुओंको तथा आकाशादि द्रव्योंको देखते२ फिरा परन्तु कहींपर उस धर्मको नहीं पासका जो मेरे सब संकटों और क्षोभोंको मेटके मुझे परमामृतका पान करा सके। मैं सब जगह देखते२ हार गया तब मैंने अपने भीतर देखना शुरू किया कि शायद वह मित्र मेरे ही पास हो। व्यवहारकी दृष्टिको गौणकर जब निश्चय दृष्टिसे देखने लगा तो मैंने अपने ही पास उस धर्मका पता पालिया जो मेरा परम उपकारी है। ऐसे दु:खहारक सुखकारक मित्रको पाकर कौन ऐसा व्यक्ति है जो सुखमें मग्न न हो। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि जिसकी तलाशमें अनादिकालसे था उसको अब पा लिया है तब मैं कभी भी उस धर्मकी आराधना नहीं छोडूंगा। सर्व कामोंको बदकर एक इसी ही कार्यको मुख्य मानकर वर्तन करूंगा। मेरा धर्मरूपी मित्र मेरे ही आत्माका स्वभाव है जो अभेदरूप ज्ञायक मात्र है। यद्यपि उसमें वीतरागता, आनन्द और अतुल बलवानपना आदि शक्तियां निमग्न हो रही हैं तथापि ज्ञाताद्रष्टाको वह एक रूप ही दिखता है। मैं इस साम्यरूप धर्मकी छायामें विश्राम करता हुआ सर्व विकल्पोंसे, चिंताओंसे, रागद्वेषादि कषायोंसे व विषयवासनाओंसे मुक्त होकर परम निराकुल और अद्भुत आनन्दसागरमें निमग्न होकर परमामृतका पान करते हुए परम संतोषी होरहा हूं।

२४६–उत्तम क्षमावाणी.

परम ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर जब [illegible] सत्तामें देखता है। तो वहां एक अपूर्व स्वभाव नजर आता

है जिसमें हर प्रदेशमें उत्तम क्षमाका ही झलकाव है। यहा क्रोध, मान, माया, लोभका कहीं भी कोई चिन्ह नहीं मालूम होता है। हरएक प्रदेशमें समताभाव अपनी परम शोभाको विस्तार रहा है। और ऐसा अपूर्व भाव है जिसमें यही मालूम होता है कि न वहा पहले कभी कोई द्वेष था न अब है, न वहा पहले कभी राग था न अब है। त्रिकाल साम्यभाव परम आनन्दकी विलासितासे चमकता हुआ ऐसा वीरत्व प्रगट कर रहा है कि वहां किसीकी शक्ति नहीं है जो किंचित् भी कोई विकार पैदा कर सके। इस उत्तम क्षमामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्रका ऐसा एकतामई प्रभाव है जिससे वहा कोई आस्रवादि तत्त्व नहीं प्रगट होते हैं। आश्चर्य तो यही है कि वहा मोक्ष तत्त्व भी नही है। यदि कोई ऐसा चाहे कि मैं यहा भिन्न२ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्रका दर्शन कर सकूं तो वह इस उद्यममें सफलीभूत नहीं होसक्ता, क्योंकि ये तीनों भिन्न२ नहीं पाए जाते हैं। इन तीनोंकी ऐसी एकता है कि इनका भिन्न२ पहचानना बडी भारी बुद्धिमानीका काम है। भेद विज्ञानकी दृष्टिसे इनका भेदभाव दिख सके तो दिख सके। अभेद भावमें क्या झलकता है सो सब वचन अगोचर है। मैं इस उत्तम क्षमामें ही आसक्त होता हुआ निश्चलताके साथ निज क्षमावणीकी परिणतिमें विलाप करता हुआ परमसुखका भोग कर रहा हूं।

३४७-परमानन्द सागर।

ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे रहित होकर जब निश्चिन्त बैठता है तो यकायक वह एक परमानन्दके समुद्रमें डूब जाता है—उस स्थानमें जो शातिलाभ करता है उसका

वर्णन कोई नहीं कर सक्ता है। वह एक ऐसा आनन्द है जिसकी तुलना किसी भी सांसारिक सुखसे नहीं होसक्ती है। बड़े २ इन्द्रादिक देव व चक्रवर्ती अनेक इंद्रियोंके भोगोंमें जो सुख लब्ध करते हैं वह सुख वास्तवमें सुखाभास है–दुःखरूप है–आकुलतामय है। उस सुखसे कभी भी किसी जीवको तृप्ति नहीं होसक्ती है। इसीलिये तीर्थंकर चक्री बलदेव समान महापुरुष इस क्षणिक अतृप्तिकारी सुखकी चेष्टा छोड़कर उसी निराकुल आनन्दका ही सेवन करते हैं जो हरएक आत्माके पास है व हरएक आत्माका स्वभाव है। आत्मा स्वभावसे सुख समुद्र है–जिन्होंने अपने पदमें अपना स्थान बनाया है उन्होंने ही निज सुखका लाभ पाया है। जो इस सुखामृतका पान करने लगते हैं उनकी चेष्टा सर्व अन्य ज्ञेयोंसे हटकर एक निज आत्म नेयकी ही तरफ झुक जाती है क्योंकि जो वस्तु जहां है वहांसे उसका लाभ हो सक्ता है। निज स्वभावका विश्वास, ज्ञान व उसीमें तन्मयता उस आनन्दको झलकाती है, जो गुप्त होनेपर भी भेद विज्ञानीको अच्छी तरह प्रगट होजाता है। बड़े २ योगी जिसके लिये घोर प्रयत्न करते हैं वह वस्तु बिलकुल सहजसाध्य है। जो अपने स्वभावको पहचानते हैं वे ही निजानंदका भोग करते हैं इसलिये मैं सर्व प्रपंच छोड़कर एक निज समुद्रमें ही कल्लोल करता हूं।

२४८-वीतराग छवि।

जगतमें बहुतसे छविदार पदार्थ हैं–परंतु यदि कोई यह कहे कि सबसे बढ़िया छवि किसकी है तब उसको यही कहना होगा कि वह परम मोहिनी इस आत्माकी वीतराग छवि है जिसमें कोई

तरहके विकार नहीं है। इस वीतराग छविके दर्शनसे जो आनन्द होता है उसका कथन वचनगोचर नहीं किन्तु मात्र अनुभवगोचर है। जो अपने ही आत्माकी वीतराग छविको देखता है वह देखते देखते उस छविके साथ ऐसा मिल जाता है कि वहा फिर द्रष्टा और दृश्यमें द्वैतभाव नहीं रहता है। जहा ऐसी अद्वैतता होजाती है वहा ही स्वानुभवका रस उछलता है और वहा ही परमानन्द स्वादमें आता है। इस वीतराग छविमें मोही होकर ही प्रत्येक साधु स्वपदपर डँटे रहते है। यही उपासकोंका लक्ष्यबिंदु है। सिद्ध भगवान भी इसी छविके धारी हैं। मैं तो यह समझता हू कि सर्व जगतके आत्माओंकी छवि ही ऐसी है। जो ऐसी ही छविको देखता जानता है वही समताके आसनपर बैठ जाता है। उसे फिर यह जगत चेतनासागर ही मालूम होता है। सुखशातिके सिवाय कहीं कोई वस्तु नहीं दिखती है।

३१९—सन्त समागम।

ज्ञाता द्रष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व विचारोंसे रहित होकर आत्म विचार करनेके लिये जब उद्यम करता है तो उसको राग-द्वेषादि कषायोंकी सगति आनकर विघ्नकारक होजाती है। इससे वह ऐसा चाहता है कि उसको सतोंका समागम रहे कि जिसमें कोई भी असत व्यक्ति उसके परिणमनमें विघ्नकारक न हो। उन सतोंको जब ढूढने लगा तब अपनी आत्म भूमिकामें ही उन सतोंका दर्शन पाकर प्रसन्नचित्त होगया। जब गौरकर देखता है तो अपने भीतर बहुतसे गुणरूपी सत बड़ी शातिसे तपस्या तथा ध्यान कर रहे हैं। वे गुण रूपी सत चेतना गुण, सम्यक्त्व गुण, चारित्रगुण,

आनन्दगुण, आत्म वीर्य गुण आदि हैं तथा अस्तित्व वस्तुत्व आदि सामान्य गुण भी हैं। ये सब गुण परम एकताके साथ और परम शांतिके साथ कल्लोल कर रहे हैं। जो उपयोगवान जीव अपने गुणोंकी सैर करनेमें उपयुक्त होजाता है वह ऐसे सतोंका समागम प्राप्त करता है जिनकी सगति अनत कालतक छूटनेकी नहीं है। वास्तवमें ये ही आत्मगुण आत्माके सच्चे सेवक हैं वे कभी भी आत्माकी सगतिको नहीं छोडते है। जो इन गुण रूप सतोंकी सगति करता है वह धीरे धीरे इनकी सगतिसे ही ऐसी एक एकताकी दशाको पहुच जाता है कि जहा सिवाय आप आपके और कुछ भी नजर नहीं आता है तब वहा सर्व सतोंकी सगतिका एक अपूर्व रस आजाता है जिसको भोगता हुआ परम तृप्त होकर स्वात्मानदका स्वाद लेता रहता है।

२५०--परम योग।

परम प्रतापी श्री महावीर परमात्माने जिस परम योगसे श्री महावीर नाम पाया वह एक अपूर्व साधन है। इस परम योगमें एक ही द्रव्य है, उसहीके गुण हैं और उसहीकी पर्यायें हैं। इसमें दो द्रव्योंका स्थान नहीं है। वह एक द्र य भी सर्व परकृत विकारोंसे रहित परम शुद्ध ज्ञानानदमय है। उसमें कोई एक ऐसा ज्ञान और आनदका समुद्र है कि जिसके जलका पान एक आत्मा निरतर अनतकाल भी करता रहे तो भी उसमें एक बूदमात्र भी ह्रास नहीं होता है। इस योगको स्वात्मानुभव कहते हैं। यही एक शुद्ध ज्ञानचेतना है। जो इस परमयोगमें विलास करते हैं उनके लिये यह ससार कुछ भी रागद्वेष मोहका कारण नहीं होता

है। छ द्रव्य अपना नाटक खेल रहे हैं ऐसा दृश्य उस योगकी चेतनामें झलके तो झलको परन्तु उस भूमिमें कोई भी विकार नहीं होता है। इस परमयोगमें उत्तम क्षमादि दश धर्म व सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तथा श्रावक व मुनि धर्म सब वास करते हैं, परन्तु परम योगके योगीको सिवाय स्वात्म रस पानके न और कुछ दिखता है न और कुछ स्वाद आता है। जिनके यहा परमयोग है यहा ज्ञानकी दीपमालिका सदा जलती रहती है जो किसी आवरण व किसी मोहकी पवनसे बुझती नहीं है। जो उस योगीकी निस्टता मनते हैं वे भी सुख शांतिके अपूर्व रसमें मग्न होजाते है। धन्य है यह परमयोग! धन्य है श्री महावीर सरीखे परम योद्धा जो इसके प्रतापसे स्वरूपका विलास किया करते हैं।

३५१-सविचित्र उदय।

मैं यकायक जब आपमें आपको देखने लगा और अपनी निर्मल दृष्टिसे अपने असली स्वभावपर लक्ष्य देने लगा तो मुझे यकायक एक ऐसा स्वरूप दिखलाई पड़ा जिसको मैंने अबतक मोहशत्रुके पंजेमें पड़कर नहीं देखा था। इस स्वरूपकी महिमा वचन अगोचर है। यद्यपि वहा कोई वर्ण, रस, गंध, स्पर्श नहीं है, न कोई मोटापन या पतलापन है तथापि वहा ज्ञान, शांति व आनन्दका पूर्ण साम्राज्य है। वास्तवमें सब रूपोंसे बढ़िया रूप शांतिका ही होता है। इस रूपको बड़े २ इन्द्र चक्रवर्ती आदि सब मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं। इस रूपमें वे क्रोध, मान, माया, लोभके विकार नहीं होते हैं जिनसे प्राणी क्षोभित होकर दुःखी होजा[illegible] स्वरूप निरखनके समयमें अबतक

जिसका उदय नहीं हुआ था ऐसा निराकुल इंद्रिय रहित सुखका उदय होजाता है। उस सुखका बडा ही मनोहर स्वाद आता है। इस सुखका स्वाद यद्यपि इस व्यक्तिको नवीन भासा है परन्तु वास्तवमें जिसमें यह सुख है वह अनादि अनन्त एक स्वरूप परम आनन्दमय तथा परम निराकुल सदा ही रहता है। उस व्यक्तिको देखा तो वह मैं ही हूं मुझसे कोई निराला नहीं। इससे मैं मेरेमें ही मेरेसे मेरे ही लिये मेरे ही उपादानसे मेरेको अनुभव करता हूं। छ कारकोंके विकल्पसे पार होकर निर्विकल्प समाधिमें गुप्त हो आनन्दका विलास करता हूं।

३५२-मेरा धर्म।

मैं जब अपने धर्मके महत्वको विचारने लगा तो मालूम हुआ कि मेरा धर्म मेरे पास बहुत ही अदभुत छटाको लिये हुए बहुत ही निराली सजधजके साथ विराजमान है। इस धर्ममें क्षीर समुद्रकी मद २ कल्लोलोंकी तरह परिणतियें होती हैं तथापि यह धर्म ज्योंका त्यों बना रहता है न घटता है न बढता है। जैसे क्षीर समुद्रके जलमें तरंगोंके होते हुए भी उस जलका स्वभाव किसी मलीन पदार्थका मिश्रण न होनेके कारण निर्मल, शीतल व स्वादिष्ट सदा ही बना रहता है इसी तरह मेरा धर्म सदा ही पवित्र, शांत और आनदमय बना रहता है। इसमें सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता सदा ही झलकती है। इसमें अल्पज्ञता व कषायोंकी कलुषता कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ती है। निश्चयसे मेरा धर्म परमात्मापना है। मैं अपने इस शुद्ध स्वभावमें ही रमण करनेकी रुचि रखता हुआ उसीमें ही रमण करता हूं। और जो कुछ ज्ञेय मेरे ज्ञानधर्ममें

झलकते हैं उनको मैं जानता हुआ उनके साथ कोई रागद्वेष नहीं करता हू। इसीसे मैं स्वात्मानुभव करता हुआ परमानन्दका विलास करता हू। जब मैं अपने धर्मकी एकाग्रतामें तन्मय होजाता हू मुझे यह नहीं भासता है कि मैं हू या नहीं। मुझे सिवाय निज रसके स्वादके और कोई स्वाद नहीं आते। धन्य है मेरा धर्म, यही सार है—यही अमृतसागर है—यही अपार है।

३५३-ज्ञानज्योति।

जब कोई शातिपूर्वक अपने आत्माके मनोहर आगारमें देखता है तो वहा एक ऐसी ज्ञान ज्योतिका प्रकाश पाता है कि जिसके द्वारा जो कोई भी पदार्थ जो जानने योग्य हैं वे प्रकाशमें अवश्य आजाते हैं। इस ज्ञान ज्योतिके झलकावमें वह चिंता बिलकुल नहीं होती जो एक बातको जाननेके लिये होसक्ती है। जब स्पष्टपने ज्ञानमें सब ज्ञेय आजाते हैं तब निज आत्माका गुण निराकुल सुख भी पूर्णपने अनुभवमें आजाता है और यह भेद भी प्रगट होजाता है कि इंद्रिय विषयोंका सुख सुखाभास है—तृप्तिकारी नहीं है। ज्ञान ज्योतिके झलकावसे ससारके सर्व क्लेश, सर्व आताप बिलकुल शमन होजाते—चतुर्गतिका भ्रमण नहीं होता क्योंकि इसके कारण कर्मोंका सम्बन्ध ही नहीं रहता है। ज्ञान ज्योति आत्मासे निराली नहीं है। जो आत्मा है सो ही ज्ञान ज्योति है। भेदसे दो व अभेदसे एक है। इस ज्ञान ज्योतिको देखनेवाले भव्य जीव ही निश्चय धर्मका मनन करनेवाले हैं व स्वात्मानन्दका भोग करनेवाले हैं। वे ही ज्ञान चेतनाके विलासी हैं। कर्म और कर्मफल चेतनासे उदासी हैं। वे ही सच्चे महात्मा होते हुए परमात्माके अनुपम रसके पहचा-

मनेवाले हैं और स्वस्वरूपमें सदा ही प्रसन्नता रखनेवाले हैं

३५४-सच्चा सुख।

परम प्रतापी ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब इस बातकी खोज लगाता है कि सत्य सुख कहा है तो उसको सिवाय अपने ही स्व भावके उसका कहीं अन्य स्थानमें पता नहीं मिलता है। इस सुखकी महिमा निराली है। जिसने एक लव मात्र भी इसे पाया है उसने सर्व इंद्रिय सुखोंकी निरसताका यथार्थ अनुभव अपनेमें झलकाया है। उसको भले प्रकार ज्ञात होजाता है कि पराधीनता दुःखकारी जब कि स्वाधीनता सुखकारी है। अज्ञानी जीव मोहके अंधेरीसे अंधे होकर इस अनुपम सुखका पता नहीं पाते हैं और अतृप्तिकारी आकुलतावर्द्धक इंद्रियोंके सुखकी तृष्णासे आकुलित होकर पुन पुन इंद्रिय विषयरूप बाहरी पदार्थोंके भोगनेके लिये दौड दौडकर जाते हैं-पदार्थोंको और अपनेको नित्य एक दशा रखना चाहते हैं परन्तु उनकी दशाएं क्षणभंगुर हैं इससे लाचार होकर कभी भी इच्छाकी पूर्ति नहीं कर पाते हैं। उस मोह परदेके हटते ही अपना स्वभाव सूर्यसम अनतज्ञान दर्शन सुख वीर्यका पुञ्ज अविनाशी अमूर्तीक अव्याबाध झलक जाता है और यकायक स्वाधीन सच्चे सुखका अनुभव होने लगता है। इस सत्य सुखका भोगना ही अनुपम भोग है। मैं इसका स्वामी भोक्ता हू। मेरा यह भोग्य है यही श्रद्धान ज्ञान व तदनुसार चारित्र सर्व प्रकार निराकुलताका भंडार है। यही मनन निश्चय धर्मका मनन है।

३५५-सहज शक्ति।

एक ज्ञानी आत्मा जब अपनी सहज शक्तिका पता लगा

है तब उसको विदित होता है कि जो कुछ चाहिये सो सब कुछ वहा मौजूद है। स्वाधीनता जिसमें सर्व शक्तिया विना किसी बाधाके काम कर सकें परम वाञ्छनीय है। जहा इसका निवास है वहा और किसी वस्तुकी आवश्यक्ता नहीं रह जाती है। ज्ञानका सर्व ज्ञेयोंको जानना, चारित्रका निज द्रव्यमें चलते हुए क्रोधादिके वश न होना, सम्यक्त्वका आपके स्वरूपके स्वादका भोग करके रुचि दृढ रखना, आनन्दका विना किसी आलम्बके सुगमतासे अनुभवमें आना आदि ही परम रत्न है जो आत्माकी स्वाधीनताके आभूषण हैं। सहज शक्तिका यह माहात्म्य है कि तीन लोककी आकर्षण शक्तिया मिलकर भी यदि उद्यम करें कि हम ज्ञान, चारित्र, सम्यक्त्व और आनन्दमें विकार व तुच्छता उत्पन्न करदें तौभी वे कुछ नहीं कर सक्तीं। इस सहज शक्तिका स्वामी मैं परमयोगी होता हुआ निजधामके तपोवनमें ही विहार करता हुआ न कुछ खाता हू, न पीता हू, एक स्वानुभवसे उत्पन्न परम आनदका ही स्वाद लेता हू। इसीसे ही अपूर्व तृप्ति व निराकुलताको पाता हू और सदा जीवित रहते हुए मरणादि आपत्तियोंके भयसे बिलकुल अस्पृश्य रहता हू। मेरे स्वभावको कोई पर द्रव्यका भाव कभी किसी तरह विकारी नहीं कर सक्ता है इसीसे मैं अखण्ड आनन्दका विलास लेता हुआ परम सन्तोषी होरहा हू।

२५६-परम पद।

यदि विचार कर देखा जावे तो प्रगट होगा कि परम पद अपने ही पास है। वास्तवमें आप ही परमपद है। परमपदमें कोई अन्य पद नहीं है। न वहा पुद्गल द्रव्य है न वहा धर्म अधर्म

आकाश काल है, न अन्य जीवोंकी सत्ता है, न वहां वैभाविक भाव है, न एकेंद्रिय द्वेंद्रिय तेंद्रिय चौंद्रिय पचेंद्रिय आदि जीव हैं, न मिथ्यात्वसे ले अयोग पर्यंत चौदह गुणस्थान हैं, न वहा बन्ध है, न मोक्ष है, न आश्रव है न सवर है। वह परमपद परम अद्भुत सुखदाई और ज्ञानका भण्डार है—उसमें कोई तरहका विषाद व वैरभाव नहीं है। वह पद ऐसा भी नहीं है कि जिसका वचनसे वर्णन होसके। वचन तो क्या मन भी उस पदके वास्तविक स्वरूपका विचार नहीं कर सक्ता। वह पद तो जैसा है वैसा ही है। सकेत मात्र शुद्ध निश्चय नय बताती है कि वह पद शुद्ध आत्मीक गुणोंका भण्डार है और वह पूर्ण ज्ञान व पूर्ण आनंदमई है। परमपद, सिद्धपद, परमात्मपद, पवित्रपद, सब एक हैं। जो सर्व मन वचन कायकी तरफदारी छोड़ देता है वही स्वय परमपदरूप हो जाता है। परमपदकी महिमा अगाध है। इन्द्र धरणेन्द्र भी जिसका पता नहीं पासके। बड़े२ योगी वर्षों मनन करते तब कहीं परमपदके दर्शन कर पाते हैं। रत्नत्रयका स्वामित्व ही परमपद है। जो इस ज्ञानमय पदमें स्थिति करते हैं वे शुद्ध आनंदका लाभ लेते हुए सदा स्वाधीन रहते हैं। परमात्माका शुद्ध प्रकाश इस ही सत्य भूमिकामें प्रगट रहता है। सर्व शुभ व अशुभके विकल्पजालोंको त्यागकर जो अपने इस स्वभावका मनन करते हैं वे ही यथार्थमें निश्चय धर्मका मननकर स्वाभाविक आनन्दका भोग करते हुए परम तृप्त रहते हैं।

३५७-समताभाव।

जगतमें आत्माका यदि कोई सर्वोपरि गुण है तो वह सम-

ताभाव है। इस भावमें न राग है न द्वेष है न विकार है न विकल्प है न संकल्प है न मेरापन है न तेरापन है न उन्नतिकी वांछा है न अवनतिका शोक है न कर्मबंध न उदयके झकोरे हैं। यह भाव क्षोभरहित समुद्रकी तरह निश्चल व गम्भीर है-जहां आत्मा आत्मस्थ होता है वहीं यह भाव झलकता है। इस भावमें जमे रहते हुए अनन्तकालमें भी थकन नहीं चढती है तथा जो कुछ भी अनात्माका-सम्बंध था वह इस भावके सामने दूर होता जाता है। यह समताभाव शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है, शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यका भंडार है। इस समताभावमें ही आत्माको परमात्माका दर्शन होता है या आत्माको आत्माका दर्शन होता है, ये दोनों ही बातें कहनेमें आसक्ती हैं। इस भावमें जमते हुए मन, वचन, काय रहें तौभी न रहनेके समान है। कर्मबंध रहे तौभी कुछ बाधक नहीं है-मोक्षरूप और मोक्षमार्ग रूप यही समताभाव है। जो समताभावकी धुनी रमाते वे ही आचार्य, उपाध्याय साधु हैं, वे ही वैरागी व महात्मा हैं। समताभावमें ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र इन तीन रत्नोंकी शोभा है। जो इस भावमें रमनेवाले हैं वे ही स्वानुभव पाकर निजानंदका विलास लेते हुए परम तृप्त रहते हैं।

३५८-ज्ञानकी शय्या।

परम प्रतापी आत्मा अब पौद्गलिक सर्व शय्याओंका ममत्व त्याग सहज शुद्ध निर्विकार ज्ञानकी निराकुल शय्यापर लेटे हुए स्वरूप समाधिकी गाढ निद्रामें दटा हुआ जगतके प्रपंचजालसे बिल्कुल बेखबर है। इस शय्याके न खण्ड हैं, न पाए हैं, न इसका विनाश है, न इसमें जीर्णता है। यह शय्या परम कोमल है इसकी

मृदुता किसी भी जातिके पुद्गलोंमें नहीं है। तौभी इसपर वीतरागताकी परम निर्मल चादर बिछी हुई है। सम्यग्दर्शनकी स्वच्छ भूमिपर विराजित यह शय्या अपनी शोभासे तीन लोकके प्राणियोंका मन मोहित कर रही है। आत्माराम जिस अद्भुत सुखशांतिका विलास लेरहा है वह वचन अगोचर है। इस शय्यापर क्रोधादि कषायरूपी सर्प नहीं चढ सक्ते वे तो इसे देखकर ही भाग जाते हैं। इन्द्रियोंसे भोगने योग्य चेतन अचेतन पदार्थ इस आत्माको अपनेसे उदास देख स्वयं घृणावान होकर अन्य रागी व्यक्तियोंकी शरणमें चले जाते हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम तप, त्याग, आर्किचिन्य, ब्रह्मचर्य ये दश धर्म इस आत्मारामकी ज्ञान शय्याकी रक्षाके लिये चारों तरफ बैठकर पहरा दे रहे हैं। ये हिंसादि अविरतिरूप व क्रोधादि कषायरूप बैरियोंको निकट नहीं आने देते। इस अनुपम ज्ञान शय्यापर सुखसे लेटा हुआ यह आत्मा जिस अद्भुत आनन्दका स्वाद लेरहा है वह कथनमें नहीं आसक्ता। जो जाने सो जाने, जो न जाने सो न जाने।

३५९–एक कुमारकी सगाई।

एक व्यक्ति जो सदासे ब्रह्मचारी और कुमारा है, जगतका अनुभव करता हुआ व जगतके पदार्थोंको जानता हुआ कहीं भी अपने मनको शात नहीं कर पाता है। कोई भी जगतके पदार्थ उसके मनको आकर्षण करके अपने तरफ नहीं खींच सक्ते थे। यकायक एक दिन जगतका स्वप्न देखता हुआ स्वप्नमें मुक्तिसुन्दरीकी मनोहर छबिको देख लेता है, देखतेके साथ ही आशक्त होजाता है। अब इसी चिंतामें रात्रि दिन मग्न रहता है कि किस-

तरह में उस मनको लुभानेवाली अनुपम सुंदरीका स्पर्श करू। भेदविज्ञान रूपी पुरोहितजीसे मुलाकात होती है वे उसकी सगाई उस मुक्तिसुन्दरीके साथ पक्की करते हैं। यह सगाई ऐसी होजाती है कि कभी टूट नहीं सकी–सगाई होजाना सो ही कुमारके मनको पूर्ण निश्चय होजाना है, कि मैं अन अपनी प्रियाका लाभ अवश्य करूगा–इस निश्चयके होते ही वह अपनी प्राणप्रियाका स्मरण करते हुए बहुत ही सुखशांति पाता है। इसी सगाईको जैन सिद्धान्तमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति कहते हैं। इस सगाईकी बधाई देनेके लिये उसके पास संवेग, निर्वेद, उपशम, वात्सल्य, भक्ति, अनुकंपा, निन्दा, गर्हा, नि शंकित, नि कांक्षित, निर्विचिकित्सिता, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, प्रभावना आदि महान् व्यक्तिगण आजाते हैं और उसकी प्रशंसामें होनेवाले वर वधूके मंगल गीत गाते हैं। वास्तवमें अब यह कुमार जिस स्वानुभवका आनन्द पारहा है वह वचन अगोचर है।

२६०–सिद्धोंका भोजन।

हमारा भोजन रोटी, दाल, चावल है, पशुओंका घास फूस दाना है। नारकियोंका दुर्गंधित मिट्टी है, देवोंका मानसिक कण्ठ विषे अमृतका झरन है, एकेंद्रियोंका लेपाहार है, अण्डोंका उजाहार है, केवली सशरीरोंका नोकर्मवर्गणाग्रहण आहार है तब सिद्ध परमात्माओंका आहार क्या है ? वे सिद्ध भगवान सदाकाल आत्मानुभव स्वरूपाचरण और क्षायिक सम्यग्दर्शनसे उत्पन्न अतींद्रिय आनंदरूपी अमृतका भोजन करते रहते हैं। इस भोजनके अलाभका कभी कारण नहीं होता–अनंत लाभ रूप शक्तिके प्रतापसे निरंतर

स्वात्मानदरूपी भोजनको लेते हुए परम तृप्त रहते हैं। इस भोजनके लिये उन्हें किसी परवस्तुकी आवश्यक्ता नहीं पड़ती है न कोई इच्छा ही उत्पन्न होती है। विना इच्छाहीके जैसे पर्वतसे नदीका प्रवाह बराबर वहता रहता है उसी तरह आत्मारूपी पर्वतसे स्वात्मानदरूपी अमृतका प्रवाह सतत् वहता रहता है। सिद्ध सम मैं व आप सर्व ही आत्माएँ हैं। सबहीके शुद्ध प्रदेशोंमें यह अमृत भरा है। सर्व ही स्वभावसे इस अपने स्वाधीन भोजनके ग्रहणसे परम तृप्त होरहे हैं। जो भव्य जीव इस अपने अपूर्व भोजनकी तरफ दृष्टि रखते हुए जगतके अतृप्तकारी भोजनोंके आस्वादसे उदासीन होजाते हैं वे वास्तवमें स्वात्मानदका भोजन पाते हुए अपूर्व लाभ प्राप्त करते हैं जिसका कथन किसी मुखसे हो नहा सक्ता है। मैं आज परम सिद्धोंके आहारका दर्शन करता हुआ अपने जन्मको सफल मान रहा हू।

३६१—अमृतमय पानीका लोटा।

एक पथिक मिथ्यात्वकी ओटमें विराजित परम पवित्र और आनदकारी सुखसागरको न देखता हुआ चिरकालसे भवसमुद्रके अतृप्तिकारी दुःखमय खारी जलको पीता हुआ तृषाको समय २ बढाता हुआ महान व्याकुल था, परम गुरुके उपदेशसे ज्यों ही मिथ्यात्वकी आड़को हटाता है यकायक परम सुखसमुद्रका दर्शन पाकर उसकी मनोहारिणी शात छबि और उसके परम मिष्ट जलसे स्पर्शित वैराग्यमय वायुके स्पर्शसे गदगद होजाता है—तृषा बुझानेको सब ओरसे अग व मन सकोचकर उपयोगरूपी लोटेमें स्वात्मानदरूपी जल अच्छी तरह भर लेता है और उस जलको बारबार

पीता है–अनादि तृषाको बुझाता है, अपूर्व सुख स्वाद पाता है। आश्चर्य यही है कि इस लोटेका यह जल कभी कम नहीं होता है। जब देखो तब भरा ही भरा मिलता है। इस जादूके भरे लोटेको कामधेनु, चिंतामणिरत्न, व कल्पवृक्षसे भी अधिक आश्चर्यकारी पाकर इस पथिकको यह भाव होगया है कि मैं तो स्वय परमात्मा हूं। मैं सर्वका स्वामी, परम सनाथ, परम ज्ञानदर्शनवीर्य व सुखका भण्डार, अविनाशी, अखण्ड व शुद्ध परिणामोंमें आप ही परिणमनेवाला और अपनी शुद्ध सुखकी सम्पत्तिको स्वतन्त्रतासे भोगनेवाला हूं। इस भावमें रङ्गा हुआ उस अद्भुत लोटेसे वारवार अमृतका पान करता हुआ आत्मानदके नशेमें चूर होकर सिवाय आत्माके और किसी पदार्थका स्वाद न लेता हुआ जिस रङ्गतको दिखा रहा है उसका वर्णन वचन अगोचर है।

३६२–अद्भुत कामी।

इस जगतमें कामी पुरुष अपनी इच्छानुसार पदार्थ पानेपर थोडे कालके लिये ही उसका समोग कर सक्ता है फिर अवश्य उसका मन आकुलित होजाता है। मिठाई खानेवाला १२ घंटे लगातार मिठाईका भोग नहीं कर सक्ता। इस विश्वमें आत्माराम ऐसी अद्भुत शक्तिका धारी है कि यह निज अनुभूतितियाके साथ निरतर समोग करते हुए अनतकालमें भी आकुलित नहीं होता–समतासे विसमतामें कभी नहीं आता। एक क्षणमात्रके लिये विश्राम भी नहीं लेता है। ऐसे धारावाही आत्मभोगीके समान जगतमें और कौन कामी हो सक्ता है। इस अद्भुत कामीका वीर्य रचमात्र भी क्षीण नहीं होता है। इसका अनत बल ज्योंका त्यों बना रहता

है। यह बल सभोगके कार्यमें सहाईभूत होनेसे निरतर परिणमन-शील है तो भी कुछ कम नहीं होता। अद्भुत कामीको निरतर आश्चर्यकारी आनन्द भी मिल रहा है। अनतसुखके घेरेवाकी कोई तुलना नहीं कर सक्ता है। कोई तो परकी कन्याको विवाह करके उसके साथ समोग करते हैं परन्तु यह महाकामी आप हीकी स्वानुभूति कन्याको जन्म देकर आप ही उसके साथ निरतर भोग करता है–लोकमें इसे घृणित कृत्य कहते हैं परन्तु इस अलौकिक सिद्धातमें इससे बढ़कर कोई प्रशसनीय कार्य नहीं है। यही धर्म है। यही मोक्ष व मोक्षमार्ग है।

२६२–एक सच्चा धोबी।

जो मैलको धोकर साफ करता है उसको धोबी कहते हैं। धोबीको मैले कपड़ेमें कपड़ेकी स्वच्छता और मैलके स्वभावका पृथक् २ ज्ञान है। वह अच्छी तरह जानता है कि यह कपड़ा रुईका बना है जो सफेद होती है। कपडा स्वभावसे कभी काला नहीं होसक्ता है। यह ऊपरकी कालिमा है जिसने कपडेकी सफेदीको मात्र छिपा दिया है। भीतर कपडा अपने स्वभावसे स्वेत वस्त्रके समान प्रकाश-मान है। जब वह मैलको धोता है तब भी उस कपडेकी स्वच्छताका ही ध्यान करता है। उसकी बुद्धिमें कपडेका स्वभाव पूर्णपने झलक रहा है। इसी तरह सम्यग्दृष्टी धोबी अपने आत्माको शुद्ध सिद्ध-सम ज्ञाता दृष्टा आनदमई अविनाशी उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव रूप जानता है–उसकी दृष्टिमें यही आत्माका स्वभाव पूर्णपने समा रहा है। रागादिकी कलुपता व शरीरादिका मल पुद्गल द्रव्यमई है–आत्मासे सर्वथा पृथक है। उसका आवरण होनेपर भी आत्माका

स्वभाव आत्माकी सत्तामें ज्योंका त्यों विद्यमान है। इस ज्ञानी धोबीको वस्त्र धोनेवाले धोबीकी तरह किसी साबुनके लगानेकी जरूरत नहीं पड़ती है—इसके पास मात्र एक यही उपाय है कि यह अपने आत्माके स्वभावकी रुचि सहित जानकारी रखता हुआ उसीको ही देखा करे, उसीको ही चाहा करे, उसीमें ही रमा करे, उसमें ही ठहरा करे। यह सच्चा धोबी इसी स्वात्मानुभवसे ही शुद्धात्माको झलकाता हुआ सदाके लिये स्वच्छ और पूर्ण बना रहता है और स्वभावसे बहनेवाले आनंदामृतका पान करता है।

२६४–सच्चा व्यवहार व लेनदेन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व अज्ञानी वस्तुओंसे अपना व्यवहार त्यागकर मात्र अपनी ही सत्तामई भूमिमें जमा हुआ व्यवहार व लेनदेन कर रहा है–परवस्तु चाहे चेतन हो या अचेतन हो किसीकी भी तरफ दृष्टिपात नहीं करता है। यह अपनी ही आत्मवनीसे स्वात्मानुभवरूप फलके अमृतको लेकर अपने ही आत्माके लिये अपने ही आत्मामें अपने आपहीसे अर्पण करता है और आप ही परम तृप्तिमई आनन्दके स्वादका भोग करता है यह व्यवहारी वीतराग परिणतिको देता है जिसन पानेवाले आत्माको महा सुख होता है इसीलिये यह दात [illegible] बदलेमें स्वा मानदका भोग करता हुआ अपने जीवनको सफल [illegible]र रहा है। दातार और पात्र दोनों ही वही है। इसीसे इसको व्यवहार कहते, अमूतार्थ कहते, असत्यार्थ कहते। निश्चयनयसे देखा जावे तो न कोई किसी भावको किसीको देता है न कोई किसी भावको किसीसे लेता है। यह ज्ञानी प्रभु अपने स्वभावमें निर्मल ज्योतिके समान प्रकाशमान

है। स्वाभाविक परिणमन है सो कहने योग्य नहीं–ज्ञानीके ज्ञान गोचर है। एक अल्पज्ञको तो ऐसा दिखता है कि वह निराबाध अक्षोभ समुद्र परम निष्कम्प निर्मल ज्ञानानन्दमई जलसे परिपूर्ण है न वहासे कुछ जाता है न वहा कुछ आता है। वहा जो कुछ है सो सब कुछ सदा ही बना रहता है। यह लेनदेन वही करता है जो अकृत कृत्य है कृतकृत्य परम सतोषी आत्मप्रभुमें लेनदेनका विकल्प नहीं है। वह अपने सार स्वभावमें जमा हुआ जो विलास कर रहा है उसका कथन अक्षरोंसे होना अशक्य है। तो भी जगतके लेनदेनसे यह सच्चा लेनदेन अपने स्वभावमें रमणताका कारण है।

२६५–अद्भुत होली।

चेतनराम इस वसतऋतुमई स्वानुभवके विलासके समयको देखकर अपनी प्रियतमाओंको एकत्र कर उनके साथ विचित्र होली खेलता हुआ अपूर्व आनन्द ले रहा है। चेतनरामकी प्रियतमाए शांति, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, सत्यता, शुचिता, विरक्तता, उदारता, अतृष्णा, शीलता, ज्ञानचेतना, सुबुद्धि, सुदृष्टि आदि परम मनोहर हैं उनके बीचमें चेतनराम तिष्ठा हुआ एकाग्रध्यानकी पिचकारीमें ज्ञानामृतमई परम् शीतल व सुगधित जलको भरकर होली खेल रहा है व प्रियतमाए भी वैसी ही ध्यानकी पिचकारीमें वैसा ही जल भरकर चला रही हैं। चेतनराम तथा उसकी स्त्रियें सब ज्ञानामृतसे तर होकर बहुत ही शोभा विस्तार रही हैं। परस्पर प्रेम ऐसा उमड़ रहा है कि अन्य पदार्थका ध्यान ही नहीं रहा है। इस समय स्वानुभव रसका अपूर्व दृश्य होरहा है। सब ही ओर

सब कुछ विकल्प त्यागकर एक इस रस हीमें मग्न हैं। माननीय प्रियतमाओंकि भोगमें आसक्त होकर यह चेतनराम परमात्मपनेके ठाठको दिखा रहा है। यहा रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि आठ द्रव्य कर्म, व शरीरादि नोकर्मोंका चिन्ह भी नहीं है मात्र एकरसता है-महान होली है जो परम मगलकारिणी है।

३६६-अभिषेक.

एक ज्ञानी अपने ही आपको प्रभु मानकर और उसे एक अद्भुत सहानुभूतिमई परमदृढ पाषाणकी मूर्ति कल्पनाकर समतारसमई क्षीरोदकसे अभिषेक कराता हुआ-आप ही सुखसमुद्रमें मग्न होरहा है। इस अभिषेकमें जलकी धारा एक सदृश स्वभावमई परिणतिमें कल्लोल करती हुई वहा करती है। इस धाराकी शातता अपूर्व है-कषाय कालिमाको धोती हुई यह धारा तृष्णाकी तापको शमन करनेवाली है। चिन्ताके जालको छिन्न भिन्न करनेवाली है-यह समतारसका अभिषेक हरएक शुद्ध स्वरूपके ज्ञाताको प्रिय है। इसमें किसी परद्रव्यकी आवश्यकता नहीं है। यह अभिषेक वास्तवमें अभिषेककर्ताको अभिषेक योग्य कर देता है। सम्यक्त्व, ज्ञान, चरणकी शोभा इस अभिषेकसे परम प्रकर्षताको प्राप्त होरही है। मोक्ष प्राप्त जीव और मोक्षमार्गी जीव दोनों ही समानतासे इस स्व अभिषेकमें लीन हैं। जो इस स्व सम्यक्रूप स्वकार्यमें तन्मय हैं वे ही परम व्यापारियोंमें श्रेष्ठ व्यापारी हैं।

३६७-शमताका आनन्द.

एक वीर योद्धा निर्भय होकर ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मोंकी व रागादि भाव कर्मोंकी कुछ भी गणना व महत्व न करके अपने ही

स्वभावकी ज्ञानमई भूमिमें जिसकी थाह नहीं है यात्रा करता हुआ मार्गमें अनेक विचित्र ज्ञेयमई पदार्थोंकी छटाको उदासीनभावसे निरीक्षण करता हुआ समताकी शांत छायामें विश्राम लेता हुआ, ज्ञानानुभूतिके मिष्ट फलोंको उसीसे उत्पन्न परम आनन्दमई अमृतमई जलको पीता हुआ समय२ जिस जातिके सुखका विलाप कर रहा है उसका वर्णन होना अशक्य है। यद्यपि इस यात्रामें मोटरकी सवारी नहीं है, नीमके वृक्षकी छाया नही है, मिष्टादि छ रसोंका भोग नहीं है, किन्हीं मित्रोंसे वार्तालाप नहीं है, न किसी भौतिक स्त्रीसे काम भोग है तथापि जो आनन्द इस अध्यात्मीक यात्रामें है उसका अनन्तवा भाग भी अन्य यात्रामें नहीं है। जो इस अनुपम स्वभाव सवेदन यात्रामें गमन करते हैं वे निराकुलताके भाजन होते हुए जगतसे भिन्न होते हुए भी जगतके प्यारे और पूज्यनीय होजाते हैं।

२६८-अद्भुत यज्ञ।

यज्ञ करना महान् कर्म है। जो यज्ञ करते हैं वे ही सच्चे पुरुष हैं। जो यज्ञ करते है वे ही कर्तव्यका पालन करते हैं। जो यज्ञ करते हैं वे ही सुखी रहते है। जो यज्ञ करते है वे ही निरतर तृप्त रहते हैं। धन्य हैं वे कर्म योगी जो आत्मध्यानमई अग्निको जलाकर कर्म ईंधनको जलाते हैं व उस अग्निमें अहिंसा, सत्य, शील क्षमा, मार्दवका परम सुगंधित मसाला और वीतराग भाव रूपी घृत डालकर उसकी सुगन्धसे मस्त होजाते हैं अहं ब्रह्मास्मि अहं सिद्धोऽस्मि, अहं शुद्धोऽस्मि, अहं अरहंतोऽस्मि, अहं आनन्दोऽस्मि इत्यादि मंत्रोंको पढ़२ कर आहुति देते हैं। यज्ञका

कर्ता परम एकाग्र भावसे निज अनुभूतितियाके साथ बैठा हुआ इस यज्ञके द्वारा अंतरगमें एक ऐसा साम्यभाव उत्पन्न कर रहा है कि जिसके द्वारा स्वयं अमृत वह रहा है और जिसको पान कर यह परम तृप्त होरहा है। इस यज्ञको स्वानुभव यज्ञ कहते हैं। जैसे सशरीर प्राणी यज्ञ करते हैं वैसे अशरीर भी इस यज्ञको करते रहते हैं वहा कर्म ईंधन नहीं होता तौभी आत्मध्यानकी अग्नि चेतनाकी वीर्यमई बिजलीसे जलती रहती है और यज्ञकर्ता सिद्ध परमात्मा इस कर्मको नित्य करते रहकर कभी अकर्मण्य नहीं होते तौभी जीव अकर्ता है इस सिद्धातको सिद्ध करते हैं।

३६९–अद्भुत प्रसन्नता.

एक चिरकालसे खोज करनेवाला जब अपने ही भीतर अपने परमप्रिय चेतनमित्रको पालेता है तब उसको जो प्रसन्नता होती है उसका कथन वचन अगोचर है। इस चेतनमित्रके मिलाप होते ही अनादिकालके राग, द्वेष, मोह, शोक, विषाद, चिन्ता आदि विकल्पजाल एकदम टूटकर चले जाते है। वीतरागता, समता, शाति, क्षमा, शुचिता आदि देवियां जिनकी मनोहर मूर्तियें चित्तको आकर्षण करनेवाली है, तुर्त आकर चेतन प्रभुकी सेवा करने लग जाती हैं। अनन्त गुणरूपी देवोंका स्वामी स्वानुभवरूपी इन्द्र आता है और चेतनप्रभुको स्वसत्ताके मनहर आसनपर सुशोभित कर परम निर्मल अगाध क्षीर समुद्रवत् सुखसागरसे परम अमृतको लाकर बड़े ही प्रेम व सत्कारसे अभिषेक करता है। इस अभि-षेकके जलके छींटे निकटवर्ती जिन व्यक्तियोंपर पड़ते हैं वे भी

नाचकार द्वारा प्रेषित शुद्ध परिणतियारूपी अप्सराएं इस अभि-षेकके समय अपूर्व नृत्य कर रही हैं। चेतनमित्रकी इस निर्मल सगतिका लाभ लेकर इस योगीने सर्व चिंताएं छोड़ दी हैं और इस तरह प्रेम रसमें मिल रहा है कि मानों दो व्यक्ति नहीं हैं-एक ही व्यक्ति है। इस अद्भुत मित्र सम्मेलनमें वास्तवमें अद्भुत प्रसन्नताका ही दर्शाव है। यही सुखशांतिका निर्मल भंडार है।

३७०-प्रवीण धोबी।

एक प्रवीण धोबी अपने आत्मारूपी वस्त्रको स्वसंवेदन ज्ञान रूपी मसालेसे वैराग्यरूपी पानीके द्वारा धोता हुआ व स्वच्छ करता हुआ उसकी निर्मलतामें परमानंदित होरहा है। उसको दृढ़ विश्वास है कि यह वस्त्र श्वेत कपासके तागोंका निर्मित होकर श्वेत ही है। ऐसा ही उसे दृढ़ ज्ञान है व मसालेसे रगड़ते समय उसे वस्त्रकी स्वाभाविक स्वच्छताका ही ध्यान है। इसी तरह आत्मज्ञानी निज आत्माको परम स्वच्छ ज्ञानानन्दमय श्रद्धान करते, जानते व इसी श्रद्धान ज्ञानमें तन्मयता रखते हैं। अपने आपको स्वानुभवके मसालेसे रगड़ते हुए वीतरागताके जलसे धोते हुए इस सम्यग्दृष्टी धोबीको रंच मात्र भी विषाद नहीं होता है, किन्तु एक अपूर्व आनद होता है जो आत्माका ही स्वभाव है व स्वाधीन है। इस धोबीको स्वात्मानद मिलना यही इसके स्वानुभवमई धोनेके कार्यका मूल्य है। यह धोबी बहुत ही निस्पृह व स्वार्थ त्यागी है। इसको फलकी भावना नहीं परन्तु जैसे मिश्रीको खाते हुए मीठा स्वाद आता ही है वैसे स्वानुभव करते हुए स्वात्मानद आता ही है। वास्तवमें प्रवीण धोबी बहुत ही उच्च पदका धारी है। जो इस महात्माको

स्पर्श करते हैं वे स्वय भाग्यवान हैं। यह धोबी एक दिन सर्व सज्ञाओंसे रहित यथातथा होकर अनतकालके लिये सुखी होजाता है।

३७१—आगमसार।

एक परमात्मतत्त्व खोजी जब सर्व पौद्गलिक पदार्थोंसे भिन्न किसी एक शुद्ध चेतन मात्र पदार्थको देख पाता है तब उसको एक क्षणमात्रमें जिनेन्द्र प्रणीत द्वादशागवाणीका सार प्राप्त होजाता है। जिनेन्द्रकी वाणी जिनेन्द्र परमात्माके स्वरूपकी वाचक है। परमात्माका स्वरूप शुद्ध चैतन्यमई निर्विकार राग द्वेषादि प्रपचजालोंसे रहित अद्भुत आनदमई और सर्व ज्ञेयोंके भेदोंको एक ही समयमें जाननेवाला है। वही हरएक आत्माका स्वरूप है। आगम वही है जो परसे भिन्न निज आत्माकी अनुभूति प्राप्त करावे। जिसको स्वानुभूतिका आनन्द आ गया वहा आगमका सार मिल गया यह कहना बाधा रहित है। जो आगमसारका ज्ञाता है वही केवली, श्रुतकेवली व सिद्ध है इस समझमें कोई फेर नहीं है। जिस पदार्थके ये भिन्न२ नाम हैं वे सब सदृश एक स्वरूपधारी हैं। आगमका सार ही वह सुख समुद्र है जहा आकुलताके बादल कमी नहीं आते, जहा पराधीनताकी विकट समस्या नहीं सताती, जहा स्वाधीनताकी निर्मल भूमि सदा वीतरागताकी शोभाको लिये हुए शोभायमान है। जो इस आगमसारके रसिक हैं वे ही विद्वान्, पडित व दार्शनिक हैं। वे विना किसी अतरायके स्वात्मानदका भोग लेते हुए परम तृप्त रहते हैं।

३७२—अमूल्य रस।

उत्तमक्षमादि दशलक्षणमई वृक्षमें स्वानुभवरूप परममिष्ट फल

लगते हैं जिनमें निजानदरूप अमृत रस कूट कूटकर भर रहा है। जो महात्मा सर्व पर पदार्थोंसे उन्मुख हो एक इसी मनोहर फलकी ओर उपयोगको लगाते और अगाध प्रेमसे उस फलमें एकचित्त हो लीन होजाते तथा उसका स्वाद लेने लगते उनको उस अमृत रसका स्वाद निरतर ही आया करता है। जो शक्तिहीन देर तक स्वाद नहीं ले सकते वे उससे दूर होजाते, परन्तु उसी ही रसकी लालसामें पुन पुरुषार्थ करते और फिर इस स्वादमे तृप्ति पाते। जो कोई सर्वोच्च अनतशक्तिशाली महात्मा हैं वे कभी भी इस रसके भोगसे नहीं छूटते किन्तु विना किसी अन्तरके निज फलका भोग करते रहकर सुधाका पान किया करते है। अनन्तकाल वीतनेपर भी उनके इस आनन्द भोगमें कभी रुकावट नहीं होती, न उनको इस स्वादका पान करते हुए कभी घबड़ाहट होती है। वास्तवमें जो कुछ परका भोग है उसमें ही आकुलता है। निजफलको निज ही करणद्वारा भोगे जानेमें कभी भी आकुलता नहीं होसक्ती है, किन्तु पूर्ण निराकुलता और समताभावका साम्राज्य बना रहता है। जो इस अमृतको पीते है वे ही सचे सम्यग्दष्टी और माननीय महात्मा हैं।

३७३-निरोगता।

जहा आत्मामें इच्छाओंके, कषायोंके, रागद्वेषोंके, चिन्ताओंके, प्रमादके रोग न हों और यह आत्मा अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्रमई शुद्ध स्वरूपमें निश्चलतासे मग्न रहे और विना किसी विघ्न बाधाके निज सुधाका पान किया करे वही आत्माकी निरोगता है। इस निरोगताके होते हुए न आत्माके गुणस्थान

रूपसे उन्नति होती है, न गति, इंद्रिय काय आदि मार्गणाके नामसे भेदोंका ही धारण होता है। जहा संसारकी चतुर्गतिमें भ्रमण है वहा भ्रामक मोहनीय रोगका प्रभाव है। रोग रहित आत्मामें उसके प्रदेशोंका परिस्पद या हलन चलन नहीं होता। जैसे गाढे सगमरमरके स्वच्छ पाषाणमें अति वेगरूप वायुके झकोरोंकी टक्करोंके लगनेसे भी विकार नहीं होता उसी तरह इस परम गाढ आत्माके प्रदेशोंमें कोई हिलाव या कपन नहीं होता। जैसे वज्रमई पर्वतपर मेघका जल बहुत बलसे पतन करता हुआ भी पर्वतपर असर न करके योंही बह जाता है वैसे स्वरूपस्थ वज्रतुल्य आत्माके प्रदेशोंपर जगतके पदार्थोंके परिणमनका कोई प्रभाव नहीं होता। यह निरोगी आत्मा अपने अनतदर्शन ज्ञानसे सब कुछ देखता जानता हुआ भी उनमें मोहित रजित व दोषित न होता हुआ व निरतर स्वात्मानुभव जनित आनद अमृतका भोजन लेता हुआ व अनतकालके लिये परम स्वास्थ्य लाभ करता हुआ तथा सच्चा निरोगताका आदर्श बताता हुआ परम तृप्त रहता है।

३७४-पूजाका फल।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विभावोंसे रहित हो जब अपने भीतर देखता है तो पूज्य परमात्माकी परम सुहावनी स्फटिकमयी मूर्ति जो अमूर्तीक चैतन्यमई धातुसे बनी है व जिसमें कोई मल विकार नहीं है, परम ऐश्वर्यके साथ परम प्रफुल्लित विराजमान पाता है। इस देवको ही निज भक्ति योग्य मानकर यह भक्त उसकी पूजामें लवलीन होजाता है। इस पूजामें किसी परपदार्थके आलम्बनकी आवश्यक्ता नहीं पड़ती है। पूज्य भी निज स्वभाव है, पूजक भी

निज नम्रीभूत उपयोग है। भेद नयसे पूजक और पूज्य दो हैं। अमेद नयसे दोनों एक हैं। जो इस तरह पूज्यके साथ एकतान होकर पूजा भक्ति करते हैं वे उसी समय इस पूजाका फल भी पा लेते हैं। स्वात्मानुभवका लाभ होकर सुख व शांतिका भोग करना यही इस पूजाका फल है। पूजा और पूजाका फल साथ साथ होना यही साक्षात् सच्ची पूजा है। इस पूजाके द्वारा पूजकका सर्व सांसारिक विकल्प लुप्त होजाता है। यह निश्चयसे निर्विकल्प भावको पाकर अपने आनन्दधाममें विश्राम पाता हुआ मुक्तिके अपूर्व दृश्यका साक्षात अनुभव लाभ करता है। जो कोई इस आत्मपूजाके रसिक हैं वे ही सच्चे सम्यग्दृष्टि हैं। वे ही मोक्षमार्गी हैं व मोक्ष रूप हैं। इस पूजाका महत्व अकथनीय है। वास्तवमें स्वात्मानुभव गोचर है। यही निश्चयधर्मका मनन है।

३७४–अपना घर.

एक चेतन प्रभु अनादिकालीन संसारमें अनन्त परघरोंको अपना घर मानता हुआ उनके वियोगसे आकुलित हो रहा था अब यकायक अपना घर आपमें ही पाकर तथा उसमें अपूर्व विश्रांतिका लाभ कर परम सुखी होरहा है। यह अपना घर किसी पर पदार्थमें नहीं है। अपने ही आत्मद्रव्यका जो असंख्यात प्रदेशमई स्वक्षेत्र वही निश्चयसे अपना घर है–मेरे आत्मद्रव्यत्वकी सर्व सत्ता मेरे इस क्षेत्रमें ही है पर क्षेत्रमें मेरी सत्ता नहीं है और न पर क्षेत्रकी सत्ता मेरे क्षेत्रमें है। यह असंख्यात प्रदेशमई अपना घर मोह, अज्ञान तथा क्रोधादि कषायके अंधकारसे सर्वथा शून्य है, क्योंकि इस घरमें सहज ज्ञान, दर्शनका दीपक अनंतबलके

प्रतापसे सदा अखंडरूपसे जला करता है। इस दीपकको बुझानेके लिये यहा राग द्वेष मोहकी वायु नहीं चलती है। वीतरागता और समताकी परमशात छटा इस घरमें ऐसी छा रही है कि जो इस घरमें वास करता है उसे कभी भी कोई बाधा नहीं सताती है और न तीन लोकमें ऐसी शक्ति है जो उस आत्मदेवको कष्ट पहुचा सके। इस अपने घरमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमई रत्नत्रयका ऐसा सुन्दर झलकार है कि जिसकी महिमा वचन अगोचर है। वास्तवमें प्रत्येक आत्माके निवास योग्य उसका ही अपना परमशात स्वक्षेत्र रूपी घर है। जो सर्व परघरोंका सबन्ध छोडकर एक निज घरमें ही विश्राम करते हैं वे ही परम निराकुल और परमसुखी रहते हुए स्वानुभवरसका पान करते हैं।

३७६--रत्नपिटारी।

मेरे आत्माके निर्मुक्तमई दुर्गमें एक रत्नपिटारी रक्खी हुई है जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र नामके तीन रत्न अपनी अनुपम छटाको दिखलाते हुए विराजमान हैं। इन रत्नोंकी महिमा इसलिये अद्भुत है कि ये कभी जीर्णशीर्ण नहीं होते और न ये जड़पनेको धारण करते हैं। इनमें चेतनता, वीतरागता व आनन्दका ऐसा प्रसार है कि जो इन रत्नोंको प्रेमसे अपने हृदयपुटमें धारण कर लेते हैं उनको सदा ही ज्ञानादि गुणोंका अनुभव हुआ करता है। वे कभी शोक, खेद व क्लेशके गर्तोंमें नहीं पड़ते। इन रत्नोंमें एक यह चमत्कार है कि अपने स्वामीको ससारकी वासनासे अलग रखकर मुक्तिकी मगलमय भूमिकामें सदा ही आरूढ रखते हैं। इन रत्नोंके प्रभावसे इसे कभी पराधीनता भोगनी नहीं पड़ती है।

वह सदा स्वाधीन रहकर अपने निज गुणोंका सदाके लिये विलास किया करता है। तीन लोकमें कोई भौतिकरत्न इन रत्नोंकी उपमाको धारण नहीं कर सक्ते हैं। मैं इन तीन रत्नोंको ही अपना परम हितकारी मानता हुआ इन्हींकी आभामें अपने निज घरको सम्हालता हुआ और अपने ही अनुभवसे उत्पन्न निजानन्दमई अमृतको पान करता हुआ जिस सुखमय जीवनको विता रहा हू उसका कथन किसी भी मानव या देवसे होना अशक्य है। धन्य है यह रत्नपिटारी जो परमात्मपदको दिखानेवाली और निराकुलताका रङ्ग बतानेवाली है।

३७७-निर्मल वृष्टि.

मैं एक मलीन भावोंकी तहके भीतर पड़ा हुआ अपने स्वभावके विलाससे बेखबर होरहा था। नाना प्रकार विषय कषायकी चाहनाएं अपने कठोर आक्रमणको करके मेरी शक्तिको क्षीण कर रही थीं। यकायक क्या देखता हू कि भेद विज्ञानके सार्थक मेघ आते हैं, सोऽहकी ध्वनिरूप गर्जनाए करते हैं और इन मेघोंसे स्वानुभवरूप अमृतमय जलकी निर्मल वृष्टि शुरू होजाती है। इस वृष्टिने एकदमसे मलीन भावोंकी तहको बहा डाला-मेरी आत्म भूमिको परम शुद्ध कर दिया है। अब इस भूमिमें सिवाय निर्मल शुद्धोपयोगके कोई अन्य भाव नहीं दिखलाई पड़ता है। यहा दर्पणवत् प्रकाश है, सर्व जगतके पदार्थ अपने अनतगुण और पर्यायोंके साथ एक ही काल इसमें प्रतिबिंबित होरहे हैं। कहीं भी क्रोध, मान, माया, लोभकी कालिमा नहीं झलकती है। शातिकी अपूर्व छटा छारही है। निर्मल भेदज्ञान द्वारा प्रगट आत्मानुभूति

रूपी वृष्टिने मेरेको सर्व प्रपच जालोंकी मलीनतासे छुड़ा दिया है। अब पूर्ण निर्विकल्पता प्रगट होरही है। मैं अपनेको सिद्धसम शुद्ध कहू, वीतरागी कहू, केवली कहू, मुनि कहू, ज्ञानी कहू, क्या कहू, क्या न कहू--वास्तवमें मै मन, वचन, कायके अगोचर एक अपूर्व आत्मरसमें डूब रहा हू जहाके आनदको वही जानता है जो भोगता है वह आनन्द स्वाधीन और अतीद्रिय है तथा अमिट और अक्षय है वही मेरा स्वभाव है।

३७८-परमतेज।

आज इस जगतमें मै ढूढनेको चला कि कोई ऐसा भी तेज है कि जिसके बराबर कोई तेज नहीं है। जिस परमतेजको मैं चाहता हू उसमें कभी मन्दता नहीं होती है न वह कभी नष्ट होता है, न उसपर कोई आवरण पडता है। वह तेज किसी पुद्गलका विकार नहीं है न वह नेत्रका विषय है न स्पर्शका विषय है। उस परमतेजमें अखडरूपसे सर्व पदार्थोंको एक समयमें प्रकाश करनेकी शक्ति है। वह प्रकाशका काम करते हुए भी कभी थकता नही और न कभी जीर्ण होता है--वह तेज जैसा का तैसा बना रहता है। उस परमतेजमें कभी कोई बध नहीं पड़ता न कभी कोई कालिमा व्यापती है। इस परमतेजको ढूढते हुए मैं जब किसी तेजधारी पदार्थके पास जाता हू और देखता हू तो वहा निराश होजाता हू--सूर्य चद्रमा व किसी रत्नमें यह तेज बिलकुल नहीं है। पर पदार्थोंको देखते हुए जब मैं हार जाता हू तब सबसे मुख मोड़ मैं अपने ही भीतर तलाश करने लगता हू। जब वहा दृष्टि डालता हू तो वहा यकायक उस परमतेजको देख लेता हू। अहा! वह

परम विशाल तेज उस चैतन्यप्रभुका है जो मेरे ही शरीर मंदिरमें शाश्वता देव सम विराजमान है। इस परमतेजमें उष्णताका व क्रोधादि विकारका नाम नहीं है। न इसमें कोई क्लेश या चिंता है-इसमें परमानन्द भरा हुआ है। जो इस परमात्माके परमतेजके ग्राहक हैं वे ही वास्तवमें ज्ञानी और स्वात्मानद रसिक हैं उन्हींको सुखशाति सदा मिलती है।

३७९-आत्मगंगा।

सर्व विकल्पोंसे रहित होकर व आपमें आप थिर होकर जब कोई आपमें ही एक दृष्टि करके देखता है तो वहा अनादि अनतकालमें एक तानसे वहनेवाली आत्मगगाका पता पा लेता है। इस गगामें पौद्गलिक सर्व मलोंका अभाव है। इसकी निर्मलतामें यह शक्ति है कि जो कुछ झलकने योग्य है वह सब एकदम सदा झलकता रहता है। तीन कालवर्ती पदार्थोंके वर्तनोंको जैसाका तैसा जानना यही इसकी स्वच्छताका प्रभाव है। इस आत्मगगामें परम शीतलता है। भवतापको शात कर देना और जो ठडक मोती, चन्दन, शशिकिरणसे नहीं मिल सक्ती है उस ठडकका विना अतराय प्रदान करते रहना इस गगाका अद्भुत माहात्म्य है। इस गगाके दर्शन मात्रसे परम अतींद्रिय शाति मिलती है। इस आत्मगगामें उपयोग रूपी जल बडे ही स्वादिष्टमय आनदके रससे परिपूर्ण है। जगतकी जलमय गगामें वर्णादि होते हैं परन्तु इस गगामें पूर्ण अमूर्तीकपना है। जगतकी गगा किसी पर्वतसे निकलकर समुद्रमें गिरती है, परन्तु इस गगामें त्रिलोकव्यापी होनेकी सामर्थ्य है तौभी यह हरएक प्राणीके शरीर प्रमाण स्थानमें ही प्रवाहित होती

है। ऐसी आत्मगगामें कल्लोल करना समारी प्राणीके भव भवके मलोंको धो देता है–उसे यथार्थ शुद्ध परमात्मपदधारी बना देता है। वास्तवमें जो अन्य स्थान छोड़कर एक इस आत्मगगामें स्नान करते हैं वे ही स्वात्मानुभूतिका रङ्ग पाते हुए अदभुत अतींद्रिय आनद रसका निरतर पान करते रहते हैं।

३८०–अमिट भंडारी.

ऐसा भी कोई भण्डारी या कोषाध्यक्ष है कि जिसके पाससे चाहे जितनी सम्पत्ति प्राप्त करके भोगी जाय परन्तु उसका भडार न कभी कम होता है और न अनन्तकालमें कभी समाप्त होता है। उस अमिट भण्डारीका पता उसीको मिलता है जो निश्चय धर्मका मनन करता है। वास्तवमें यह अपना ही आत्मा सच्चा अविनाशी भंडारी है। इसके पास स्वात्मानन्दका अटूट भण्डार है। यह भण्डारी स्वय और न कुछ खाता है, न पीता है, न किसी पवनको लेता है किन्तु रातदिन अपने ही भण्डारमेंसे स्वाभाविक आनन्दको निकालकर भोगा करता है। अनतकाल भोगते हुए रहकर भी उसका भण्डार रञ्च भी कम नहीं होता है। इस अपूर्व आत्मा भडारीकी सगति जो करता है वही तृप्त होजाता है। उसकी सर्व आशाए पूर्ण होजाती हैं। इस अमिट भण्डारीका मिलना बड़ा ही दुर्लभ है। यह तैजस, कार्माण, औदारिक शरीरोंकी गुफाओंके भीतर विराजमान है। जो इन सबको बुद्धिबलसे भेदकर भीतर प्रवेश करते हैं उनको साक्षात् इस भडारीका दर्शन प्राप्त होजाता है। एक दफे दर्शन होते ही दर्शककी बुद्धिसे अन्य सर्व दृश्य पदार्थोंकी रुचि हट जाती है–वह यकायक इस भण्डारीका सेवक

होकर स्वात्मानदका भोग नित्य प्राप्त करता हुआ अपनी शक्तिको दिनपर दिन बढाता है, क्योंकि इस स्वात्मानदके भोगमें आत्मबलकी भी वृद्धि होती जाती है। वास्तवमें जो भवसागरके भ्रमणसे उदास हो और विषयवासनासे उन्मुख हो स्वहित करना चाहते हैं उनको इस भण्टारीकी सगति सदा करनी चाहिये।

३८१--पर्वत गुफा।

एक ऐसी अमूल्य गुप्त पर्वतकी गुफा है कि जिसमें बैठनेवालेको कोई पर पदार्थ स्पर्श नहीं कर सक्ता है। न वहा क्रोध, मान, माया, लोभके मल जासक्ते हैं, न कोई द्रव्यकर्म ही प्रवेश कर सक्ते हैं, न वहा नोकर्मोका गमन होसक्ता है। वह परम स्वच्छ है, आस्रव बन्धसे रहित है। उस गुफामें तिष्ठनेवालेको बिना कहीं गए हुए भी सब लोकालोक बिना किसी प्रयत्नके दिखलाई पडते हैं तथा वीतरागता समता तथा स्वाभाविक आनन्दका सदा साम्राज्य रहता है। स्वानुभवमई इस गुफामें रहना ही इस आत्मारामका कार्य है, जहा निरतर ज्ञान चेतनाका अनुभव होता है, कर्म व कर्म फल चेतनाका वहा कुछ काम नहीं है। गुफाका निवासी साधुओंका परम साधु है, योगीश्वरोंका ईश्वर है, जगतकी प्रशसासे प्रशसित नहीं होता है, जगतकी निंदासे निंदित नहीं होता है। न वहा कोई विकार है, न कोई कारबार है वहा अपने स्वभावका ही कर्तापना और अपने स्वभावका ही भोगतापना है। अनन्तकाल होजानेपर भी गुफा निवासी इस गुफाको नहीं त्यागता, एक प्रकारसे अतींद्रिय आनदमें मग्न रहता हुआ कभी भी न घबडाता, न कभी इधर उधर जानेकी ही इच्छा करता है।

इस गुफाके वासीको भूख, प्यास, गर्मी, शरदी, डास, मच्छर, शोक, रोग, जन्म, मरण आदि कोई दोष नहीं सताते। निरन्तर एकाकी स्वभावमें रहता हुआ अपूर्व आत्मानन्दका भोग करता है।

३८२–वीरता।

जो कोई इस जगतमें वीर प्राणी हैं वे श्री वीरनाथके समान वीर होकर अपनी निज सत्ताकी भूमिमें दृढतासे जमे रहकर उत्तम क्षमादि दस सेनापतियोंको स्वरक्षाके कार्यमें नियत करते हुए तथा अपने योगमई दुर्गको निष्कम्प रखते हुए अपनी स्वानुभूतिमई वीर्यकी महिमासे ऐसी वीरता प्रगट करते हैं कि कोई रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म उनके प्रदेशोंमें प्रवेश नहीं कर सक्ते। पाच इन्द्रियोंके विषयोंकी इच्छाएं जो चोरोंके समान ज्ञान व शांतिको चुरानेवाली हैं तथा क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय जो लुटेरोंके समान सुखशांतिमई धनको लूटनेवाले हैं, इन वीरोंकी वीरताके प्रभावसे उनकी परछाईके पास भी नहीं आ सके हैं। ये वीर निर्विकल्प समाधिमें तन्मय होरहे हैं। परमानन्दका स्वाद निरन्तर लिया करते हैं। इनकी वीरता अनुपम है। यह अपनी वीरतासे तीन लोक विजयी होरहे हैं। जो संसारी प्राणी इस वीरतासे रहित हैं वे इस वीरताको प्राप्त करनेके लिये इन वीरोंकी वीरताका नित्य स्मरण किया करते हैं। इस वीरताको वारवार धन्यवाद है जिससे विना किसी परालम्बके ये वीर स्वराज्यमें मस्त हो अपनी सत्ताके देशमें निवास करनेवाले गुणरूपी प्रजाओंपर निष्कंटक राज्य कर रहे हैं।

२८३-सुधावृष्टि।

जब एक कोई चैतन्य गुणधारी आत्मा सर्व प्रपचजालोंसे रहित हो अपने ही आपके मनोहर शातमय स्थानमें ठहरता है और वहा निराकुल हो विश्राम करता है तब इसको हर समय सुधावृष्टिका अद्भुत आनद आता है। स्वरूपमें आशक्तता होते ही स्वानुभवके मेघोंकी घटा छाजाती है और उससे मन्द मन्द अमृतकी वर्षा होने लगती है। इस वृष्टिसे उस भव्यको उसी तरह सुख होता है जैसे जलकी वृष्टिसे पपीहा और दादुरको। इस सुधाकी वर्षासे आप ही आप जो कुछ कर्मरज आत्म प्रदेशोंपर होती है वह सब धुल जाता है और आत्मा परम स्वच्छ होता हुआ अपने स्वभावमें ही कल्लोल किया करता है। इसके स्वाभाविक साम्राज्यमें अनतज्ञान, अनत दर्शन, अनत सुख, अनत वीर्य आदि इसके सहवासी इसकी सभामें बैठते हैं--सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र दोनों मत्री इसके पास बैठे हुए इसे स्वानुभवके परम मत्रको दिया करते हैं। वीतराग विज्ञान सेनापति ऐसा प्रभावशाली सभामें बैठता है कि जिसके प्रभावसे क्रोध, मान, माया, लोभ जो आत्माके बड़े कट्टर शत्रु हैं कभी इस स्वाभाविक राज्यमें प्रवेश करनेका साहस नहीं करते हैं। समतादेवी शांतरसका अद्भुत नृत्य करती है और अध्यात्मिक भावनारूपी गान गाकर सर्व सभा निवासियोंको शातरसमें भिगोकर परमशाति प्रदान कर रही है। स्वात्मजनित सुधाकी वृष्टि कभी बद नहीं होती है इससे यह भव्य जीव कभी भी भवतापोंकी उष्णताको नहीं अनुभव करता हुआ सदा शात, शीतल और सुखी बना रहता है।

३८४-भावनाका भक्त।

एक ज्ञानी आत्मा जब अपनेमें देखता है तो एक महारूप-वान अनुपम अमूर्तीक चेतन्यमई ईश्वर परमात्माको वडी सजधजसे स्वात्मानुभूतिकी गद्दीपर बैठेहुए पाकर उसके रूपमें मोहित हो जाता है तथा यह उत्कंठा पैदा कर लेता है कि किसी भी तरह इस परमात्माका सच्चा भक्त बन जाऊं। यकायक ध्यान आता है कि जो भावना भाता है वही भक्त होजाता है। भक्तिके अर्थ यह है कि भावना करनेवाला स्वयं उस रूप होजाता है पुन पुन धारावही एक भावकी संगति ही एकीभावका साधन है। यह परमात्मवेदी सर्व विकल्पजालोंसे मुह मोड़कर जगतकी सर्व चिंताओंको त्यागकर एकध्यानमय होकर भावनाका सच्चा भक्त बनकर इस तरह मनन करता है-(१) मैं स्वयं सम्यक्दर्शनकी शुद्धिका धारी हूं। (२) मैं अपने अनंत शुद्ध गुणोंका आप ही आदर करनेवाला हू, (३) मेरा शील मेरा ज्ञान दर्शन स्वभाव है, मेरा व्रत मेरे स्वरूपमें आचरण है-मैं अपने शील और व्रतमें निर्दोष रमण करता हू। (४) मैं निरन्तर ज्ञानसागरमें जलमें मत्स्यवत् कल्लोल करता हुआ मग्न रहता हू। (५) मेरा अनुराग मेरे स्वाभाविक धर्मसे अटूट बना हुआ है-मुझे संसारके विकल्पजालोंसे कुछ काम नहीं है। (६) मैं अपने वीर्यके बलसे सर्व ही परभाव परद्रव्य परपर्याय व परगुणोंका त्यागी हू, परंतु अपने ज्ञानदर्शन सुख चारित्रादि गुणोंका कभी त्याग नहीं करता हूं। (७) मैं सर्व परकी इच्छाओंका अपनेमें अवकाश न पाता हुआ अपने परम तेजस्वी स्वभावके तेजसे ऐसा तप्तायमान होरहा हू कि कर्माश्रवोंको

मेरे पास आना सर्वथा अशक्य है। (८) मैं अपने साधु स्वभावी आत्मप्रभुके भावोंमें विकल्पोंके उपसर्गोंको आते देखकर स्वसमाधिके तीव्र शस्त्रसे उनको एकदम हटाकर साधु समाधि कर रहा हू। (९) मैं आप ही अपने असंख्यात प्रदेशकी भूमिकाको परम स्वच्छ रखता हुआ ऐसी उसकी वैयावृत्य करता हू कि किसी तरहके मैलका प्रवेश वहा नहीं होने देता हू। (१०) मेरा आत्मा स्वय परम पूज्यनीय अरहंत है उसीमें रमना यही मेरी अर्हद्भक्ति है। (११) मेरे आत्मामें ऐसा परम गुरुपना है कि यह आप ही आपको आपमें आचरण कराता है–कभी उसे परके आचरणमें जाने नहीं देता है, मैं इसी अपने गुरुकी सेवामें एक चित्तसे लीन हू। (१२) मैं ज्ञान समुद्र होता हुआ सर्व शास्त्रज्ञानभावका स्वामी हू–इस अपने ही उपाध्यायसे मैं ज्ञानपरिणतिकी शिक्षा लिया करता हू। (१३) मेरा शास्त्र मेरा ज्ञान है जहां सर्व पदार्थोंका यथार्थ स्वभाव झलक रहा है। मैं अपने इसी शास्त्रका मननकर शास्त्रभक्ति कर रहा हू। (१४) मेरा आवश्यक कर्म मेरा स्वाधीन आत्मसंवेदन है इस कर्मको मैं तीन कालमें भी छोडनेवाला नहीं हू। (१५) मैं अपने उस मार्गको–जिससे चलते हुए मैं ज्ञानानंदका विलास कर रहा हू–सदा उद्योतमय करता रहता हू। उसके प्रकाशके आकर्षणसे अन्य भव्य जीव भी अन्य प्रकाशसे विमुख हो उसीकी सेवा करने लग जाते हैं। (१६) मैं सर्व लोककी अनंत आत्माओंको आप समान जानता हू–उनके साथ साम्यभाव रूपी प्रेममें एकमेक होरहा हू। इसतरह आत्म–भावनाका परमभक्त होता हुआ जो स्वाभाविक शांतिका लाभ कर रहा हू उसका अनु-

सब अनुभवगम्य ही है। जो जाने वह जाने वह कह नहीं सक्ता है। धन्य हैं जो ऐसी षोड़शकारण भावनाके भक्त हैं। वे ही निश्चयधर्मके मननकर्ता स्वात्मरस पिपासु हैं।

३८५-दशलक्षण धर्म।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व प्रपचजालोंसे रहित होकर जब अपने स्वभावपर दृष्टिपात करता है तब वहा दशलक्षणधर्मकी छाप अंकित पाता है। उसके स्वभावमें ये दश गुण सर्वांग व्याप्त हैं। उनको यदि एक शुद्ध निश्चय दृष्टिसे देखा जावे तो इन गुणोंका स्वामी एक आत्माराम ही दिखलाई पड़ता है। वहा कोई भेद अनुभवमें नहीं आते हैं तो भी जब भेदभावसे देखने लगते हैं तब ये दश गुण भिन्नर भी नजर पड जाते हैं। इसमें परम सुहावनी उत्तम क्षमा परमशाति बरसा रही है। इस शातिके भग करनेके लिये क्रोध कषायके प्रबल दल सामने आते हैं परन्तु इसकी शात छविसे मोहित होकर स्वय भय खाकर भाग जाते हैं। परीक्षा करनेको यदि उपसर्गके पत्थर बरसाते हैं तो भी उस उत्तम क्षमाको अडोल पाकर लज्जित हो चले जाते हैं। उत्तम मार्दवके कारण ऐसी नम्रता व्याप रही है कि इसके सहभावी जितने गुण हैं वे सब इसकी नम्रतासे प्रसन्न हो परम एकतासे निवास कररहे हैं। मान-कषाय इस नम्रताके मेटनेको वज्रमई पर्वतोंकी वर्षा करता है परन्तु वे सब इस अद्भुत नम्रतासे उत्पन्न परम तेजकी बिजलीके प्रभावसे छिन्नभिन्न हो दूर, गिर जाते हैं। उत्तम आर्जव अपनी सरल निष्कपट मूर्तिको धरता हुआ मायाचारके जालोंमें कभी नहीं आता है। माया राक्षसी अनेक प्रपच रचती है पर वे सब इस उत्तम

आर्जवके सामने व्यर्थ पड जाते हैं। इसकी संगतिमें वास करनेवा
सर्व आत्मीक गुण अपनी कुछ भी हानि न पाते हुए परम विश
सके साथ रहा करते हैं। उत्तम सत्य असत्यकी दुर्गंधोंसे बाहर श
कर अपनी सुकीर्तिमई निर्मल श्वेत प्रभाको विस्तारता हुआ यथ
स्वपर वस्तुको जानता हुआ ज्ञानकी छटाके द्योतनमें परम सहा
होरहा है। उत्तम शौच बड़ा वीर है, संतोषामृतसे इस कदर
है कि अनेक मोहनीय पदार्थ लोभ कषायके द्वारा भेजे जाते
तो भी इस वीरकी पवित्रतामें मलीनता नहीं आती है। यह उ
शौच आत्मामें भरे हुए सुखामृतके स्वादसे परम तृप्त है। उ
संयम इस आत्माके चारों तरफ संवरका कोट रचे हुए परम व
तासे आत्मीक सम्पत्तिकी रक्षा कर रहा है, किसी भी अवि
चोरको व हिंसा राक्षसोंको प्रवेश नहीं होने देता है। उत्तम
आत्माकी भूमिमें अग्निके समान तप्तायमान होता हुआ जो कर्म
बादल आनेका साहस करते हैं उनको अपनी उष्णतासे छिन
करके नष्ट कर डालता है। पाप पुण्य कर्म कोटि यत्न करें
भी इस वीरके प्रभावसे अपना अड्डा आत्माके देशमें नहीं
सक्ते हैं। उत्तम त्याग परम उदारताके साथ प्रसन्नमुख बैठा हु
चारों ओर शांति और आनन्दका दान वर्षा रहा है। जो कोई
व्यक्ति इस आत्माके निकट आते हैं वे स्वयं इस दानको प
परम संतोषी होजाते हैं। उत्तम आकिंचन्य एक ऐसा रक्षक
जो इस आत्मीक देशमें किसी पर द्रव्यके गुणको बसने नहीं
है किंतु आत्मीक सर्व गुणोंको किसी भी तरह जाने नहीं देता
इसने पूर्ण वैराग्यका और साम्यभावका प्रभाव फैला दिया है।

ब्रह्मचर्य परम शील स्वभाव व आत्मसमाधिमें आत्माको जाग्रत रखता हुआ उसे कभी किसी भी कुशीलकी नींदमें सोने नहीं देता है। इस तरह अपने सहभावी दशलक्षण गुण रूपी दस मित्रोंकी अमिट सगतिमें रहा हुआ यह आत्माराम जिस सुधाका पानकर आनन्दित होरहा है उसका वर्णन किसी भी तरह नहीं होसक्ता है। इस दशलक्षणमय आत्मारामकी सदा जय हो।

३८६–रत्नत्रयका दर्शन।

एक ज्ञानी आत्मा अपनी सत्ताकी भूमिमें जब देखता है तब वहा उसको अनुपम रत्नत्रयका दर्शन होजाता है। वहा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही रत्न अपनी पूर्ण छटाके साथ प्रकाश करते हुए आत्माकी मनोहरताको झलका रहे हैं। इन रत्नोंके महत्वसे कोई विभाव भाव व कोई अचेतन द्रव्य व अन्य चेतन द्रव्य किसी भी तरह आत्माकी निर्मल भूमिमें प्रवेश नहीं कर पाते हैं। ऐसी स्वच्छताको देखकर आत्मानुभूति आती है और चेतनको आलिंगनकर परमानन्दकी मगनता बताती है। इस अनुभव दशामें ज्ञानी आत्मा एक शुद्ध शात निर्विकल्प समाधिमें लीन है, पुन पुन रत्नत्रयका दर्शन अपूर्व शाति प्रदान कर रहा है, मेरा पूज्य देव मैं हू, मेरा पूज्य गुरु मैं हू, मेरा पूज्य भावश्रुत मैं हू, मेरा जीवत्व मुझमें है, मुझमें अजीवत्व नहीं है, न आस्रव है, न बध है, मेरा सवर मैं ही हू, मैं स्वय परकी निर्जरा व परसे मोक्ष स्वरूप हू. इसी तरह निज देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा

रत्नत्रयका विलास होना उपादेय है, परकी भूमिमें जाना व परका भोग करना हेय है ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। तथा परद्रव्य, पर भाव, तजकर आप द्रव्य व आपभावमें लीन होना सम्यक्चारित्र है। इन तीनको भिन्न २ देखना छोडकर एक ज्ञानी मात्र अपनेको ही देखता है, तब इन तीनके भेदका विकल्प न करके इन तीनोंका एक रूप अपूर्व स्वाद पाता है। वास्तवमें आत्मदर्शन ही रत्नत्रयका दर्शन है। जो रत्नत्रयके स्वामी है वे ही मोक्षगामी हैं।

३८७-प्रतिक्रमण।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व प्रपचजालोंसे रहित हो निश्चय दशलक्षण धर्म, निश्चय रत्नत्रय धर्म, निश्चय षोडशकारण धर्ममें तन्मय होकर अपने गत सर्व दोषोंके मिटानेके लिये निश्चय प्रतिक्रमणका साधन करता है। इसलिये निज आत्मीक भूमिमें परम एकतासे आसन जमाकर बैठ जाता है। रागद्वेष मोहके प्रवेश न होने देनेके लिये गुप्तिमय कपाट लगा देता है। अंतरङ्गमें समताका किला बनाकर स्वानुभव रसके वेदनमें जब एकाग्र होजाता है तब द्वैतभावको मिटाकर अद्वैत एक शांत रसमें मग्न होजाता है। इस रसमें रसिक होकर अन्य रसोंका भाव हटा देना और आत्मीक स्वादमें लवलीन होजाना आत्माकी एक स्वाधीन अवस्था होती है इसीको प्रतिक्रमण आवश्यक कर्म कहते हैं। यह क्रिया सर्व गत दोषोंको मिटानेवाली है और आत्माको पूर्ण निर्मल करके उसे एक स्वतंत्र स्वविलासके रसमें उन्मत्त रखनेवाली है। मैं इसी प्रतिक्रमणसे अपनी क्षमावणी धार्मिक क्रियाको सफल कर रहा हूं और अतुल आनन्द लेता हुआ परम तृप्त होरहा हूं।

३८८--अध्यात्म समर।

मेरे सामने कषाय राक्षसोंकी सेना बहुत जोर बाधे खड़ी हुई है। अपने तीक्ष्ण व मलीन बाणोंसे मेरे क्षेत्रको गदा कर रही है। मैंने भी अपना साहस बाधा है, निश्चय रत्नत्रयमई त्रिशूलको उठाया है और इसको एक चित्तसे फिराकर कषायोंके बाणोंको निर्फल करना प्रारम्भ कर दिया है। मेरा अध्यात्मसमर ऐसा विलक्षण है कि इसमें मोहकी सेनाकी हिंसा होती है, परन्तु हिंसकको हिंसाका पाप बध नहीं होकर उल्टा उसकी पूर्वबद्ध पापोंसे मुक्ति होती है। इस समरमें न रौद्रध्यान है न कोई क्रूर भाव है परन्तु यहा परम-समता और शातिका साम्राज्य है। शुद्ध आत्मानुभव रूप बाणोंकी वर्षा करते हुए भी समरकर्ता चेतनको अतीन्द्रिय आनदका स्वाद आता है। इस समरमें सलग्न होनेसे ससारकी चिन्ताए नहीं सताती हैं। अपने पुरुषार्थका यथार्थ पता इस वीरको ही लग रहा है। यह अपने आत्मवीर्य और ज्ञान दर्शनमई पौरुषसे अपनेको सिद्ध भगवानसे कम अनतबली नहीं समझता है। इसकी वीरताको देखते ही मोहकी सेना कांप जाती है और जैसे ही इसके शुद्धो-पयोगरूप बाण चलते हैं वैसे ही सेना इधर उधर भाग जाती है। भेद ज्ञानरूपी मित्र इस वीरको सच्ची सहायता कर रहा है। उसीके प्रतापसे यह मोहकी भेजी हुई परम सुन्दर तृष्णारूपी कुलटा स्त्रीके फदेमे नहीं पडता हुआ अपनी अनुभूतितियाके ही सच्चे प्रेमसे वासित हो मोहके खट खड करके उड़ा देनेमें कोई कसर नहीं कर रहा है। आश्चर्य यह है कि इस समरको करते हुए वीर आत्माको न भूख है, न प्यास है, न गर्मी शर्दीकी बाधा

है, न कोई अन्य मानसिक या शारीरिक कष्ट है । यह परमतृप्ति और संतोषके साथ इस अध्यात्मसमरका जो आनन्द लेरहा है वह वचन अगोचर है ।

३८९–ज्ञान–सुन्दरी।

एक शिवसुन्दरीका रसिक रातदिन उसके द्वारपर धूनी रमाए पड़ा हुआ है । चाहता यह है कि किसी भी तरह उस सुदरीकी ज्ञान सुन्दरी प्राप्त होजावे जिससे उसका पाणिग्रहण होकर उसका अपूर्व सुख प्राप्त हो । इस ज्ञानसुन्दरीकी अपूर्व शोभा है । इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीन रत्न जड़े हुए हैं। इन रत्नोंसे चमकती हुई यह ज्ञानसुन्दरी अपनी उपमा तीन लोकमें नहीं रखती है । इसका दर्शन मात्र चित्तको आनद देनेवाला है । जो इस ज्ञानसु दरीको पहिन लेते हैं उनको स्वात्मानुभवका अपूर्व स्वाद आता है । वे अपनेको किसी भी तरह सिद्धसे कम नहीं समझते हैं । उनको अपनी सत्ताका यथार्थ निश्चय रहता है । इस ज्ञानसुन्दरीके प्रतापसे उसको यह संसार जीव और पुद्गलका मिश्रित एक विचित्र नाटकसा दिखता है। जगतके चेतन अचेतन पदार्थोंकी अनेक अवस्थाएं उसके मनको विकारित नहीं करती हैं। वह सिवाय अपनी शुद्ध परिणतिके किसी भी विभाव परिणतिका कर्ता भोक्ता अपनेको नहीं मानता। यद्यपि संसारमें रहता है तथापि वह अपनी स्थिति मुक्ति हीमें मानता है। ज्ञानसुन्दरीमें वास्तवमें जादूका असर है । जब यह नहीं होती है तब यह जीव अपनी सत्ताको नहीं पहचानता हुआ परकी परिणतिमें अपनी परिणति मान दु खी सुखी हुआ करता है। ज्ञानसु दरीकी संगति होनेसे ही भ्रम भाव मिट जाते

है और वस्तु तत्वका सच्चा प्रकाश होजाता है। धन्य हैं वे जीव जो इस ज्ञानसुन्दरीको शिवसुन्दरीसे पाकर शिवसुन्दरीके स्वामीपनेको प्राप्त करलेते हैं।

३९०—ज्ञानकी धारा।

परमानन्द पदधारी, परमात्म गुणविहारी, सर्वज्ञेय ग्रहणकारी शुद्धात्माराम सर्व विभाव भावोंको दूर कर ज्ञानकी धारामें स्नान कर रहा है। यह धारा अनन्तज्ञेयोंकी पर्यायरूप तरंगोंसे कल्लोलित होती हुई लोकालोककी उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप विचित्र शोभाको प्रकाशती हुई पूर्ण शांत और आनन्दमई गुणरूपी जलमे परिपूर्ण है—इस धाराका जल क्षीर समुद्रके जलके समान निर्मल है। इसमें न क्रोध, मान, माया, लोभरूप मगरमच्छ है, न हास्य रति आदि नो कषायरूप क्षुद्र मच्छ हैं, न अन्य मलीन भावोंकी आवलीरूप विकल्पत्रय हैं। इस शुद्ध भावरूपी जलमें कभी मलीनता नहीं आती। इस ज्ञानधारामें मज्जन सर्व चिंता और विकारोंको दूर करनेवाला है। यह क्षीरसागरके जलसे भी अत्यन्त पवित्र है। वह जल पौद्गलिक शरीरको स्वच्छ करता है, परन्तु यह ज्ञानरूपी जल आत्मारामकी शोभाको बनाता है। इस जलका पान परम तृप्तिका कारण है। सिद्धोंका इसी जलमें स्नान रहता है, अरहंत भी इसीमें ही मग्न रहते हैं व आचार्य उपाध्याय साधु भी इसी जलकी अवगाहनासे कर्ममल धोते हैं। सम्यग्दृष्टीका इसी स्नानसे प्रेम है। वास्तवमें यह ज्ञानधारा ही एक धारा है जो अखंड नित्य स्वावलम्बरूप तथा अमृतानंदसे पूर्ण है। यही सच्चा गंगास्नान है जो परम शुचितारूप है।

३९१-निज स्वत्व॰

संसारमें हरएक द्रव्यको अपने स्वत्वकी रक्षा करनेका स्वत्व है। हरएकका स्वत्व हरएकमें शाश्वता विराजमान रहता है। किसी शक्तिमें यह शक्ति नहीं है कि उस स्वत्वकी शक्ति हरणकर उसको नि शक्ति कर सके। अनादिकालसे पौद्गलीक कर्मोने चेतनकी गाढ़ संगति की तौ भी वे आत्मारामका जरा भी बाल बाका न कर सके। यह आत्मा अपना स्वभाव ज्योंका ज्यों रखता हुआ कर्मोके द्वारा अनेक परीषह व उपसर्ग सहन करनेपर भी अपने स्वत्वको स्थिर रख सका, क्योंकि वस्तुका स्वभाव कभी भी मिट नहीं सक्ता है यह नियम है। यह आत्मा अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यका धारी परम अविकारी, निजगुण विहारी, निज परिणतिका कर्ता व निग नूतन स्वाभाविक आनन्दका भोक्ता, अमूर्तीक, असख्यात प्रदेशी, सदा अपने अगुरुलघु गुणके द्वारा स्वाभाविक पर्यायमें उत्पाद व्यय करता हुआ, अपने शुद्ध द्रव्यत्वको सदा ध्रौव्य रखता हुआ इस समय मेरे शरीररूप देवालयमें विराजमान है। यह मेरा क्षेत्र सिद्ध क्षेत्रसे किसी भी तरह कम नही है। यह मेरा आत्मा निरंतर अपने स्वत्वको रक्षित रखता हुआ अपने अनुभवसे प्राप्त अनुपम अतीन्द्रिय आनन्दका विलास करता हुआ परम सुखी और परमतृप्त होरहा है

३९२-सत्य मार्ग।

मार्गमें चलते हुए मालूम नहा है कि यह सत्य है या असत्य जहां चलनेवाला भिन्न और मार्ग भिन्न हो वहां तो भ्रमका स्थान है, परन्तु जहा आप ही चालक आप ही मार्ग वहां भ्रमका क

नाम है ? सत्य मार्ग आप आपी है। मैं शुद्ध ज्ञानानदमई अमूर्तीक पदार्थ हू, यही श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, मैं शुद्ध ज्ञानानदमई अमूर्तीक पदार्थ हू, यही सशय रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, मैं शुद्ध ज्ञानानदमई अमूर्तीक पदार्थ हू, इसी भावमें थिरता यही सम्यग्चारित्र है। बस जहा आप अकेला हो, परसे निराला हो-भावकर्म, द्रव्यकर्म नोकर्मसे सर्वथा भिन्न हो। जैसा कुछ आप है उसीमें आपका विहार करना यही सत्य मार्ग है। कहनेको मार्ग, मार्गगामी, मार्गका लक्ष्य तीनों भिन्न हैं, परन्तु वास्तवमें ये तीनों एक आप ही है। जो आप ही आपमें मस्त होकर अपनी स्वात्मानुभूतिमई मदिराका पान करता है वही उन्मत्त होकर सर्व ससारका प्रपच भुला देता है और प्रपचरहित सरल स्वभूमिमें ही कल्लोल करता है। सत्यमार्गमें भय, क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि लुटेरे नहीं हैं, न यहा इद्रियोंको लुभानेवाली विषयवासनाओंकी दूकानें हैं। न कोई यहा प्रमाद लानेवाला ऐसा स्थान है जहापर यह प्रमादी सोकर सत्य मार्ग तय करनेमें आलस्य करे। यह सत्य मार्ग ऐसा सुखप्रद है कि प्रचालकको दीर्घकाल चलते हुए भी कोई तरहकी थकावट नहीं मालूम होती है। प्रत्युत समय२ आत्मबलकी वृद्धि और आनदका समा छाया रहता है। धन्य हैं वे जो सत्य मार्गसे स्वय स्वाधीन होजाते हैं।

३९३-वेदीमें देवता।

आज मैंने अपने आत्माके प्रदेशोंमें परम शुद्ध रत्नत्रयमई वेदी निर्माण की है। जिसमें परम शुद्ध आत्माके शुद्धोपयोगरूप देवताको स्थापन किया है। इस देवताकी पूजा करते हुए मैं स्वा-

नुभव रसको पाता हू। इसमें छ रसोंसे भिन्न एक अपूर्व अतींद्रिय आनंदका स्वाद है, जिस स्वादमें योगीगण नित्य मगन हो अमृतका पान किया करते हैं। स्वानुभव रस वेदनसे संसारका प्रपंच दृष्टिसे हट जाता है। मैं कौन हू, पर कौन है, कौन वेदनकर्ता, कौन वेदने योग्य, यह सब विकल्पजाल न मालूम कहा चला जाता है। देवता और भक्तजनका भेद इस निरालम्ब और स्वतंत्र भक्तिमें नहीं रहता है। स्वानुभवमें अद्वैतका भान होता है, परन्तु जिसे भान होता है उसको तत्त्व द्वैत है या अद्वैत है यह खबर कुछ भी नहीं रहती है। वास्तवमें जो किसी मजेमें मस्त होजाता है उसे आपेकी भी खबर कैसे रह सक्ती है। उन्मत्तोंकी उन्मत्तता विलक्षण है—न वहा मनका काम है, न वचनकी बकबक है, न कायका वर्तन है। तीनोंके झगड़ोसे रहित होकर जो आप ही आपमें मस्त होता है वही उन्मत्त, समता रस भोगी, अद्भुत योगी, अयोगी, अरोगी और अशोकी है। जिस देवताकी पूजा करता है वह भिन्न है, व अभिन्न है वह उन्मत्त इस विकल्पसे भी दूर है। निज वेदीमें देवताकी पूजाका यही विधान है।

३९४–स्वयात्रा।

आज मैं संसार यात्राको तजकर और सर्व परालम्बनोंसे बुद्धि हटाकर मात्र स्वयात्राके लिये ही तय्यार होगया हू। स्वस्वरूपकी यात्रा ही वास्तवमें एक अपूर्व तीर्थ यात्रा है। जो इस यात्राके प्रेमी हैं वे किसी भी आश्रयकी इच्छा न करते हुए एकचित्त हो अपने ही आत्माके श्रुतज्ञान कथित स्वभावमें पुन पुन मग्नता

दि देखा जावे तो वह मोक्ष द्वीप भी आप ही है तथा आप ही मोक्ष द्वीपका परम पवित्र निष्कटक मार्ग है। इस यात्राको करनेवालेके मनमें क्षुधा, तृषा, खेद, क्लेश, निद्रा, शीत, उष्ण, आदिकी बाधाएं नहीं होती है। न वहा आर्त्त व रौद्रध्यानके विकल्प हैं। न वहा कोई अन्य द्रव्य अपना प्रभाव जमा सके हैं। इस यात्राके कर्ताको पद पद पर सुख शातिका अनुभव प्राप्त होता है। समता सखी इसकी सगतिमें विहार करती हुई अपूर्व आनन्दके भोगमें निर्बाध भावका उत्थान कर रही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूपी परम मित्र भी इस यात्रीके सगको किसी भी समय नहीं छोडते है। उत्तम क्षमा आदि दश-धर्म भी परम भक्तिसे इसके साथमें होरहे हैं। समता आदि जितने साथी हैं वे भेद दृष्टिसे भिन्न २ कहे जाते है, परतु अभेद नयसे वे सब इस यात्रीके अमिट अग है। यह यात्री इस स्वयात्रामें विहार करता हुआ जिस आनन्द रूपी अमृतका पान कर रहा है उसका वर्णन वचनातीत है।

३९५-मेरा घर।

मैं जब अपने घरको देखता हू तो वहा अपूर्व अटूट सपत्तिको पाता हू। देखतेके साथ ही पर घरमें जानेकी चिन्ता मिट जाती है-जो कुछ इष्ट है वह सब निज घरमें मिल जाता है। यदि मैं यह चाहू कि तीन लोकके तीनकालवर्ती पदार्थोंकी सर्व अवस्थाको देख लू तो मैं इन सब दृश्योंका एक साथ वहा दर्शन पाता हू। यदि मैं सुख-शातिका भोग करना चाहू तो वहा इस शक्तिका अटूट भडार भरा मिलता है। यदि मैं शयन करना चाहू तो समता और

मृदुताकी परम कोमल शय्या प्राप्त होजाती है। यदि मैं रमण करना चाहू तो स्वानुभूति-तिया आकर परम प्रेमसे रमाने लगती है। यदि मैं पढ़ना चाहू तो भावश्रुत सामने आजाता है जिसका पाठ करते हुए परम सतोष होता है। यदि मैं व्यायाम करना चाहू तो स्वभाव रूपी अखाड़ा मिल जाता है। वहा मैं रत्नत्रयके शस्त्रोंसे कसरत करके परम आल्हादित होजाता हू। यदि मैं गान करना चाहू तो निजगुणावली नामका वादित्र आजाता है, उसको बजाता हुआ मैं स्वानुभवकी लम्बी तान देता हू और इस अपूर्व तानरूपी गानमें उन्मत्त होजाता हू। यदि मैं स्नान करना चाहू तो भेद ज्ञानरूपी निर्मल सरोवरमें प्रवेश करता हू, जहा सर्व परमसर्गरूपी मलको, हटाकर मैं परम शुद्ध सिद्ध सम स्वच्छ होजाता हू। यदि मैं पूजा करना चाहू तो निज परमात्म देव-जो मेरे हृदय-देवलमें विराजित हैं उनका पूजन मैं समयसार सम्बन्धी आठगुणरूपी आठ द्रव्योंसे करके परम आल्हादित होजाता हू। वास्तवमें मेरा घर मेरे सर्व उपभोगका अनुपम धाम है, अब मैं इस परमधामको ही अपना अविनाशी ठिकाना बनाकर उसीमें अनतकालके लिये विश्राम करता हुआ आनदित रहता हू।

३९६-परम रस।

एक तृषातुर अनादि कालसे इंद्रिय विषयके रसको पान करता हुआ अतृप्तिको पाकर चिर दुखित होरहा था। यकायक उसको स्मरण होजाता है कि अनादि तृषाको बुझानेवाला, अद्भुत तृप्तिको करनेवाला, आनदकी धाराको विस्तारनेवाला एक ऐसा परम रस मेरे ही भीतर विराजित आत्मारामकी सत्तामें है कि जिस

रसको अमृत कहा जाता है। वास्तवमें वह अमृत है, क्योंकि जो इस रसका निरतर पान करता है वह अवश्य अमर होजाता है इस परम रसके लाभके लिये वह अब सर्व ओरसे परागमुख होकर एक निज आत्माकी ही ओर सन्मुख होजाता है। अपना सर्वस्व अपने ही आत्म प्रभुकी आराधनामें अर्पण कर देता है। बस क्या था, एकदम निज प्रभुकी कृपा होती है और वह परम रसका पान करने लग जाता है। इस अमृतकी घूटके लेते ही, इन्द्रियका विषय रस हेय और अस्पृश्य है, यह श्रद्धा पूर्णपने जम जाती है, वीतरागता और समताकी मनोहरता छा जाती है और थोडी देर इस अमृतको लेते ही यह उस आत्मरसके प्रेममें ऐसा उन्मत्त होजाता है कि इसको सिवाय इस एक अध्यात्म भावके और कुछ जगतमें नहीं दिखता है। भले ही जगतमें अनन्त अन्य आत्माओंकी सत्ता रहे, पुद्गलादि द्रव्य बने रहें तथापि इसके स्वानुभवमें सिवाय एक अध्यात्म भावके दूसरा भाव रचमात्र भी नहीं है। यह सिद्ध भगवानके समान स्वरस पान करता हुआ जो अपूर्व आनद लेरहा है वह मन वचन कायकी पहुचसे बाहर है, लिखे कौन और कहे कौन ? जो जाने सो जाने, जो न जाने सो न जाने।

३९७–धार्मिकका संचरण।

ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी आत्मा सर्व व्यापारोंको बन्द करके एकाग्र चित्त होकर मोक्ष नगरमें जानेके लिये प्रस्थान कर रहा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमई निश्चय रत्नत्रयसे बनी हुई आध्यात्मिक गाडीपर आरूढ होकर चला जारहा है। इस गाडीमें भेदज्ञान और वैराग्यके शीघ्रगामी अश्व जुते हुए हैं। विवे-

है। वास्तवमें इस ज्ञान ज्योतिकी बहुत ही अपूर्व महिमा है। इसमें सर्व ही ज्ञेय पदार्थ अपनी सर्व पर्यायोंके साथ एक ही समयमें झलक रहे हैं। इस ज्ञान ज्योतिमें वस्तु स्वभाव अपनी पूर्ण महिमाके साथ प्रगट हो रहा है। वीतराग-विज्ञानता और उससे उत्पन्न आत्मीक आनन्दका कैसा स्वाद होता है यह सब इस ज्योतिमें प्रकाशमान है। यहा रागद्वेषादि विभावोंका कहीं नामोनिशान भी नहीं मिल रहा है। मैं दर्शक होकर आश्चर्यसे भर गया और यकायक चित्त इस ज्योतिकी शोभाके दर्शनमें ही सलग्न हो गया। बस क्या था-सारी दुनिया मेरे भावसे अलग होगई, मुझे अपनी भी कुछ सुध न रही, मैं एकाग्र भावसे देखते देखते उन्मत्त हो गया, स्वात्मानुभव जग गया, आनन्दामृतका प्रवाह बहने लगा। वह मना पाया जो कभी नहीं पाया था। साक्षात ब्रह्म ही भासने लगा। सर्व भवसकटोंसे छुट गया। ससारनाटक नाटकवत ही दीखने लगा। चेतन और अचेतन दोनों मग्न रूपमें झलकने लगे। यह ज्ञान ज्योति सदा जयवत हो।

४००-स्वरस।

आज मैं सर्व पर रसोंके स्वादको छोडकर एक निजरसका ही स्वाद लेरहा हू। इस निजरसमें कोई विकार नहीं है। यह निरतर आत्मसमुद्रमें भरा रहता है। जो मोहकी चादर ओढ लेता है उसे यह समुद्र दिखाई नहीं पडता है। ज्यों ही मोहकी चादर फेंकी जाती है त्यों ही इस आत्मप्रभुका दर्शन होने लगता है और मन उमीका ही स्वाद लेनेमें उत्साहवान होजाता है तब निजरसका स्वाद आने लगता है। निजरसास्वादीका सर्व जगतसे सम्बध छूट

जाता है। वह मानो जागता हुआ भी निद्रितसा तथा मूर्छितसा रहता है। उसकी इस निद्राके भगानेके लिये वज्राघात भी काम नहीं देता है। परम संतोष और परमानन्दमें उसकी मग्नता होजाती है। कोई निन्दा करो व कोई प्रशंसा करो इससे उसको कोई गरज नहीं होती है। वह मन, वचन, कायके कार्योंसे उदासीन होजाता है। लोकके भीतर रहते हुए भी वह लोककी तरफ दृष्टिपात नहीं करता है। उसकी पूर्ण शक्ति निजरसके स्वाद भोगनेमें ही जमी रहती है। ऐसे रसास्वादीको परमात्मा कहो, अन्तरात्मा कहो, परम पवित्र कहो, परम ईश्वर कहो, चाहे उसके हजारों नाम लो, वस्तु वह एक रूप ही है। जो निजरसास्वादी हैं वे घरमें रहते हुए भी न त्यागी हैं न अत्यागी हैं, वे जो हैं सो हैं—उनका हाल वे ही जानते हैं। वे ही परमसाधु हैं और वे ही परम सुखी हैं।

४०१–शिव मंदिर.

जिस मंदिरमें परमात्म स्वरूप परमानंदी शिव विराजमान हैं वह मंदिर एक बड़े उच्च पर्वतपर है जिस पर्वतकी रचना विशुद्ध भावोंकी बढ़ती हुई मालासे हुई है। जो व्यक्ति साहस करके इस गुणस्थानकी पर्वतश्रेणीपर चढ़ता है वह अवश्य शिव मंदिरमें पहुंच जाता है। वास्तवमें यह गुणस्थानरूपी पर्वत और यह शिवमंदिर दोनों ही अपने पास हैं और जिसको चढ़ना है वह व्यक्ति न पर्वतसे जुदा है न शिवमंदिरसे निराला है। आप ही भेद नयसे तीन रूप है। जब इस नयको गौणकर अभेद शुद्ध नयसे देखा जाता है तो ये तीनों भेद दृष्टिसे भिन्न होजाते हैं। तब तो एकाकार परम [illegible] राज अपनी अद्भुत ज्ञानानंदी

समताभावमें जीवादि सात तत्त्वोंका भेदभाव नहीं है न वहा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विकार है तथापि जो कुछ इस समताभावमें है वह सब कुछ वही है जो इस समताभावके स्वामीकी सम्पत्ति है । समतामें ही सुखसमुद्रकी निर्मल धारा परम प्रफुल्लित भावसे वहा वरती है । समताभाव ही वह आदर्श है जहा स्वभावका अवलोकन व स्वभावका स्वभावमें रमण है । समताभाव ही धर्म है, यही परमशरण और उपादेय है ।

४०४–रागमें वैराग्य।

आज मैं सर्व अनात्मपदार्थोसे हटकर अपना सम्पूर्ण रागभाव अपने आप परमात्म स्वरूप शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनदमई पदार्थपर ही लगा रहा हू । मेरा प्रेम स्रोत जो विश्वके अनेक आकर्षणकारी पदार्थोंपर वह रहा था, वह आज उन सबसे सरक कर एक निज भूमिपर ही आकर जमा होगया है । मैं ऐसा रागमें उन्मत्त होगया हू कि मैं एक क्षण भी अपने इस आत्मप्रभुके दर्शन विना चैन नहीं पाता हू । यह चक्षु उसीकी समतामय मूर्तिकी शोभाकी ओर टकटकी लगाए देखती हुई विश्राति नहीं लेती है । मैंने अपना सर्वस्व उसकी भक्तिमें अर्पण कर दिया है । मेरे रागभावकी परम हद होगई है । मुझे अनेक अनात्मपदार्थ बुलाते है पर मैं उधर किंचित् भी रुख नहीं करता हू । मुझे अरहत व सिद्ध परमात्मा भी अपनी ओर खींचनेका सकेत मालूम नहीं अपने किस भक्तके द्वारा करते हैं, पर मुझे उनकी भी चाह नहीं है । मैं उनके भी दरबारमें जाकर प्रार्थना करना नहीं चाहता । वास्तवमें मुझे जिस सुख–शातिके समुद्रको प्राप्त करना था वह मुझे परमप्यारे आत्मा-

रामके पास ही मिल गया है। अब मैं इस अमृतकुण्डको छोड़कर अन्य किससे राग करूँ। यह मेरा अद्‌भुत राग है, बडे२ पडित इसीको वैराग कहते है। यह राग हो या वैराग मुझे इस विकल्पसे कोई प्रयोजन नहीं है। मै तो सर्व धर्मोसे उन्मुख हो एक अपने परम प्यारे आत्मप्रभुके प्रेममें ही आसक्त हो मग्न होरहा हू।

४०५--वीरता।

जहा वीरता है वहा सहनशीलता है, जहा वीरता है वहा परके आक्रमणकी निष्फलता है, जहा वीरता है वहा स्वमार्ग पर स्थिरता है, जहा वीरता है वहा निष्कम्पता है, जहा वीरता है वहा स्वात्माभिमान है, जहा वीरता है वहा सम्यक्त्व है, जहा वीरता है वहा सम्यग्ज्ञान है, जहा वीरता है वहा सम्यग्चारित्र है। इद्रिय विषय चोर और क्रोधादि कषाय लुटेरे नाना निमित्तोंको लिये हुए रात दिन इस आत्मवीरके मन वचन काय गुप्तिमई दुर्गमें प्रवेश करके इसके सुख शातिमय आत्मीक धन सम्पत्ति व स्वाधीनताके राज्यको लूटनेके लिये प्रयत्न करते रहते है, परतु इस निश्चय धर्मके ज्ञाता और अनुभव कर्ता वीर आत्माकी अदभुत वीरताके सामने उनकी दाल नही गलती है। बहुतसे अज्ञानी दुष्ट मानव भी निन्दारूपी बाणोसे प्रहार करते है। यह वीर अपनी माध्यस्थभावरूपी ढालसे उन आक्रमणोका निवारण करता है और अपने भावोंमें उनसे रच भी चोट नही लगने देता है। इसकी वीरताकी दृढता इतनी सतोषप्रद है कि यह अपने स्वराज्यकी मर्यादाको रच मात्र उल्लघन नहीं करता है तथा अपनी हद्दमें परकी गध मात्रको नही आने देता है। इसके स्वराज्यमें

इसके अनत गुण और पर्याय रूपी प्रमाजन बड़े सुखसे विना किसी विरोधके स्वात्मीक शक्तिका पूर्ण विलास करते हुए वास करते हैं। यह वीर आत्मा अपना स्वामित्व रखता हुआ तथा उनको अपने आज्ञाकारी और भक्त पाता हुआ परम आनद और सतोषमें मग्न होरहा है। इस आत्मवीरकी वीरता इसे परम निर्भय रखकर अपनी सम्पत्तिके भोगमें लगा रही है। यह निज स्वात्मानुभूतितियाके सगमें भोग करता हुआ जिस अतींद्रिय सुख रसका पान कर रहा है उसका कथन वचन अगोचर है।

४०६-वसंत भाव।

आज चेतनराम सर्व आकुलताओंको हटाकर निज आत्मबागमें कल्लोल कर रहा है। स्वात्मानुभवके सुवर्णमई रङ्गसे रंगित हो वसतऋतुकी आभाको विस्तार रहा है। इस बागमें हरएक गुण रूपी वृक्ष वसतके रगमें रग रहा है-इस छटाको हर जगह वसतपना ही दिख रहा है। वसतकी एकतामें यह आशक्त होरहा है। इसके वसतभावमें अन्य सर्व भावोंका अभाव है। इसीको अद्वैत भाव, स्वात्मानुभवरूप भाव, परम ध्यानभाव, शुद्धोपयोगरूप भाव, निराकुलभाव, वीतरागभाव या समताभाव कहते हैं। रागद्वेष मोहका इस भावमें कोई स्थान नहीं है। इस वसतभावमें एक अपूर्व कामरस वह रहा है जो मुक्तितियाकी ओर दत्तचित्त होरहा है। मुक्तितियाकी स्मृति इस प्राणीको सन्तोष प्रदान कर रही है, साथ ही परम स्वाधीन आत्मीक आनदका स्वाद भी देरही है। वास्तवमें इस वसतभावकी महिमा अपार है। अनेक योगी इस भावमें रमते हुए सुख-शांतिका लाभ करते हैं। यही भाव सची पर्वतकी गुफा

है, यही सच्चा वन है, यही सच्चा वृक्ष कोटर है, यही सच्चा दुर्ग है, यही सच्चा महल है, यही सच्ची समाधि है। इस वसतभावके प्रतापसे अन्य विरोधी भावोंके उत्पादक कर्मबंध अपना कुछ भी आक्रमण नहीं कर सके हैं। जो इस भावमें रमते हैं वे सब तरह कृतकृत्य और सुखी रहते हुए जीते रहते हैं।

२०७-अद्भुत मदिरा।

मदिरा पीना अपने आपको आपसे खोदेना है, परंतु आज इस चेतनरामने ऐसी मदिरा पी है कि जिसके नशेमें उन्मत्त हो यह अपने एक अद्वैतभावमें जम गया है--यहा इसने सिवाय आपके और सबको भुला दिया है। यह मदिरा निज स्वात्मानुभूतिमई है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रके परमनिर्मल मसालोंसे तय्यार होती है। इसमें स्वसंवेदन ज्ञानकी मनोहर सुगंध आती है जिसकी वासना और सर्व वासनाओंको हटानेवाली है। अन्य मदिराका पानी निन्दनीय होता है, परंतु इस मदिराका पीनेवाला परम योगियोंके द्वारा प्रशंसनीय तथा महान् सम्राट् और इन्द्रादिके द्वारा पूज्यनीय होता है। इस अद्भुत मदिराके पीलेनेपर मद्यपायी एक चित्तसे अपनी ज्ञान चेतनारूपी तियाके भोगमें आशक्त होजाता है, उस समय जो अतींद्रिय आनंदका लाभ करता है वह वचन अगोचर है। संसारासक्त ऐसे स्वात्मोन्मत्त व्यक्तिको बेकार, पागल व मूर्ख कहते हैं जब कि स्वात्मरस भोगी ऐसे व्यक्तिको परम पूज्यनीय कहते हैं। वास्तवमें जो स्वात्मानुभूति रूपी मदिराके पीनेवाले हैं वे ही सच्चे धर्मात्मा हैं। उनके ज्ञानमें लोककी स्थिति यथार्थ झलकती है तथापि उनकी दृष्टि लोक स्थितिसे भिन्न

निज आत्मस्थलीपर ही कल्लोल किया करती है । उनकी दृष्टिमें उनका आत्मा द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि तथा भावकर्म रागद्वेषादिसे नितांत भिन्न तथा अपने ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणोंसे परिपूर्ण, अमूर्तीक, शुद्ध असंख्यात प्रदेश धारी, शरीररूपी मंदिरमें शरीर प्रमाण आकार धारी, चेतना रूपी तेजका पुंज, परम निराकुल कृतकृत्य और शुद्ध दीखता है । वह दर्शक दृष्टि जब कि दर्शन योग्य निज पदार्थमें जमकर घुल जाती है तब ही मंदिराका पूरा झलकाव होता है और ऐसा व्यक्ति सब तरहसे सुखी और शांत होजाता है ।

४०८–अपूर्व धन।

यह ज्ञाता दृष्टा आत्मा जब अपने घरमें देखता है तब वहां आत्मीय अपूर्व धनको देखकर परधनकी सब तृष्णाको त्याग कर परम निस्पृह होजाता है । इस धनके अविनाशीपनेपर आश्चर्य आता है । यह धन हर समय उल्टे पल्टे जानेपर भी न बढ़ता है न घटता है । हर समय यह धनी अपने धनका उपभोग करता रहता है तौ भी यह धन किंचित् भी कम नहीं होता है । यह धन चेतनात्मक शांति और आनंदरूप है । भौतिक रुपया, पैसा, जमीन, आभूषण- रूपी धन अपने धनी स्वामीसे भिन्न ही रहता है, परन्तु यह चेतनात्मक धन धना आत्मासे बिलकुल अभिन्न है । आत्माके असंख्यात प्रदेशरूपी घरोंमें हरएकमें यह धन समानरूपसे अटूट भरा हुआ है । अनादिसे अनंतकाल तक अपने अपूर्व धनका भोग करता हुआ यह धनी आत्मा परम संतोषित होरहा है । इसी संतोषके प्रतापसे इसकी और सब इच्छाएँ नष्ट होगई हैं । इसका भव–आताप शम

होगया है। इसके घरोंमें प्रवेश करनेकी हिम्मत किसी भी पौद्गलिक कर्मको वा किसी भी क्रोधादि विभाव भावोंको नहीं होती है। यह धनी विना किसी भयके अपने धनके स्वामित्वको रखता हुआ अपनेको सच्चा जिन, वीर और पुरुषार्थी मान रहा है। कोई प्रशंसा करो, व कोई निन्दा करो यह ज्ञानी उनकी चेष्टाओंसे विकारी नहीं होता है। यह तो सुदर्शन मेरुके समान निश्चल है। भले ही दूसरे न समझें परन्तु यह त्रिलोक विजयी होरहा है और अपने भोगमें मग्न हो सानंद रसपान कर रहा है।

४०९–परमयज्ञ।

मैं आज सर्व सांसारिक विकल्पोंको त्याग कर एक निर्विकल्प आत्म समाधिमें जागृत रहता हुआ अपने ही आत्माकी भूमिमें आत्मध्यानकी अग्नि जला रागद्वेषादि भावकर्मोंको और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंको इस अग्निमें दग्ध कर अपने ही आत्माकी प्रसन्नताके लिये परमयज्ञ कर रहा हूं। इस परमयज्ञमें किसी चेतनको कोई कष्ट नहीं दिया जाता है। मात्र अचेतन कर्मकी अवस्था पलटी जाती है। इस यज्ञका कर्ता परम वैरागी, सन्तोषी, और सम्यग्दृष्टी है। यदि देखा जाय तो इस यज्ञ क्रियामें और यज्ञ कर्तामें मात्र परिणामी द्रव्य और उसकी परिणति परिणामके समान अन्तर है। जब यज्ञ होता है तब कर्ता और कर्मका भेद नहीं रहता है। उस समय यज्ञकर्ता स्वानुभवमें तल्लीन होजाता है। यह स्वानुभवका यज्ञ बहुत ही विशाल व आदरणीय है। सिद्ध शुद्ध परमात्मा भी इसका त्याग नहीं करते हैं। साधुओंको तो यह अत्यन्त ही प्रिय है। श्रावकोंको इसी ` सन्तोष मिलता है, सम्यग्दृष्टी जीव

इसीका शरण ले मोक्षमार्गमें बढ़ने जाते हैं। यही वास्तवमें ज्ञानियोंका जीवनाधार है। यही निश्चय रत्नत्रय तथा मोक्षद्वार है। इसी यज्ञके करैया भवांकुरको दग्ध करके परमानंदी होजाते हैं। यह परमयज्ञ ही ध्येय है जिसके लिये मुनि या श्रावकके अनेक क्रिया काड किये जाते हैं। इस परमयज्ञमें जो उत्साही हैं वे जलमें कमलवत् बंधसे अलिप्त रहते हैं। वे सर्व मकर्मोंसे छूटकर निराकुल सुखके अधिकारी होजाते हैं। यह यज्ञ ही परमसुधाका पान कराता है। वे धन्य हैं जो निरतर इस यज्ञके द्वारा परमसुखका लाभ करते हैं।

४१०-यान आरोहण।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे शून्य होकर अपनी शुद्धोपयोगमई स्वराज्यकी प्राप्ति करना चाहता है। इसी हेतुसे इसने निश्चय रत्नत्रयमई यानपर सवारी कर ली है। इस सवारीपर जो डट जाता है वह शीघ्र ही मुक्तिके सुन्दर महलका स्वामी बन जाता है। वास्तवमें यह यान भी आप ही है और मुक्तिसुन्दरी भी आप ही है व आप ही आरोहण होनेवाला है। इत्यादि विकल्प और विचारोंसे शून्य निज आत्माका अनुभव ही सच्चा यान है। इस यानकी गति बहुत सूक्ष्म तथा तेज है-एक अन्तर्मुहूर्तमें संसारसे पार होजाता है। इस यानके बलको जो सम्हाल नहीं सक्ते हैं वे पुन पुन उतरते चढ़ते हैं। जो अन्य द्रव्यका आश्रय छोड़कर स्वद्रव्यमें स्वद्रव्यको देखते हैं उनको अपने द्रव्यमें न बंध दिखता है न मोक्ष दिखता है। तब यह आपको आपसा ही जानता देखता रहकर अपने निज धनके भोगमें लवलीन होकर सदा सुखी रहता है और मुक्ति-तियाको वरकर सदाके लिये द्विसयोगी होते हुए भी

अद्वैत एक और कृतकृत्य होजाता है, स्वानुभवकी तानमें मग्न रहता है, परमागमका विलास न होते हुए भी पूर्ण ज्ञानके प्रकाशमें उद्योत करता है, अनंत गुणरूप संत समागमसे परम तृप्त रहता है। परमब्रह्मका यान परम और अनुपम है।

४११-एकांत यात्रा।

ज्ञाता दृष्टा अमल आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर व सर्वसे मोह हटाकर व सर्व द्रव्योंकी संगतिसे आपेको छुडाकर अपने ही सुखसागरकी ओर एकांत यात्रा कर रहा है। साथमें कोई नहीं है तथापि जो उसके साथ अनादिसे अनंतकाल तक प्रेम रखते है ऐसे उसीके आधारमें रहनेवाले उसीके निज गुण व पर्याय कभी भी उसका साथ नहीं छोडते हैं। इनकी संगतिमें जाते हुए जो शुद्धोपयोगकी तलवार चमकती है उसके सामने किसी भी मोह सेनाके सिपाहीके आनेकी हिम्मत नहीं पडती है, क्रोध, मान, माया, लोभ कहा चले गए कहीं उनका पता नहीं चलता है। इस यात्रीके लिये अपने ही असंख्यात प्रदेश इसके चलनेका क्षेत्र है। सुखसागर भी अथाह है। यद्यपि इसीके प्रदेशोंसे बाहर नहीं है तथापि इसका अन्त नहीं आता। भूत भविष्यकाल अनन्त है तौभी इस यात्रीकी परिणमन रूप यात्रा कभी समाप्त नहीं होसक्ती है। इस यात्रामें न कोई आकुलता है न कष्ट है, क्योंकि [illegible] स्वाधीन आनंदका स्वाद इसे हर समय आता है। [illegible] तो यह यात्री सिवाय अपने क्षेत्रके न कहीं जाता है न [illegible] है और यह निरंतर स्वाभाविक अनुभव लेता हुआ [illegible] तृप्त बना रहता है।

४१८–महान् निर्वाण.

परम ज्ञानी शुद्ध स्वरूपी अकलंक आत्मा अपनी सर्व कर्म-बन्धनकी वासनाओंको त्याग कर सर्व दोषोंसे रहित परम निर्वाण अवस्थाको प्राप्त होगया है। उसके न मोह है, न राग है, न द्वेष है, न दुःख है, न भय है, न विषाद है। यह परम तत्त्वका स्वामी अपनी लुप्त विभूतिको प्राप्त करके सर्व सासारिक गतियोंकी टिम टिमानेवाली दीप्तिको सदाके लिये बुझा चुका है। यह परम शुद्ध अमिट ज्योतिमें प्रकाशमान है। जिस ज्योतिमें सर्व ज्ञेय पदार्थ झलक रहे हैं वह ज्योति परम शात और परम सार है। इसमें विषय कषायकी कालिमा नहीं है। यह सब तरहसे निर्विकार है। वास्तवमें विचार किया जावे तो यह आत्माराम सदा ही महा निर्वाणरूप है। इसमें किसी तरहका तप कभी हो ही नहीं सक्ता है। यह प्रकाशवान प्रतापवान, सूर्यसे अधिकाधिक अनुपम शोभाका स्वामी है। इसके महा निर्वाणभावमें सब ज्ञेय झलकते हैं तौभी वह शुद्धोपयोग स्वभाव निज भूमिमें ही जमा हुआ है और अपने ही आत्मीक आनन्दके स्वादमें मग्न है। इसकी सुमेरपर्वत सदृश अमनताका कोई नाश नहीं कर सक्ता है। न यह परका कर्ता है, न यह परका भोक्ता है किंतु अपनी परिणतिकी तरगावलीसे सदा उत्पाद व्यय रूप है। इससे नित्य नए नए आनन्दका अद्भुत भोग करता है। इसकी स्वसमाधिरूपी कुटीमें किसी भी अन्य प्रतिद्वन्दी भावका प्रवेश नहीं होसक्ता है। जो कुछ आत्माराम है वही परम निर्वाण है, वही सुखसागर गुण रत्नाकर है। जो इस सागरका स्नान करते हैं वे सदा ही स्वास्थ्ययुक्त रहते हुए रागद्वेष

मोहके विकारोसे कुदृष्टियोंगी नहीं होते-ऐसे जिनामृतका पान करते हुवे परम सुखी रहते हैं। [illegible]

[illegible] ४४. सुन्दर उपवन। [illegible]

[illegible] । ज्ञानमें प्रकाशक एक परम सुहावने उपवनमें आगया हूं जहां न वनस्पति है न जल है, न पृथ्वी है, न कोई पशु व पक्षी है, न कोई मानव या देव है, न यहां कोई पुद्गलका परमाणु है, न कोई स्कंध है, न आकाश है, न काल है, न धर्म अधर्म द्रव्य है, न यहां कोई सिद्धात्मा है, न कोई संसारी है, न कोई क्रोधादि भाव हैं, न दया क्षमा परोपकारादिके शुभ भाव हैं, न यहां कोई ज्ञानावरणादि कर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म हैं। इस उपवनमें आत्मा मेरे ही आत्माकी ऐसी फल रही है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुणरूपी वृक्ष चारों ओर अपनी छायासे शांति दिखला रहे हैं। चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य, सुख आदि विशेष गुण अपनी मीठी सुगन्ध और समतामई अपूर्व फलोंको धारते हुए इस उपवनकी परम शोभा बढ़ा रहे हैं। शील सन्तोषका निर्मल जल इन वृक्षोंको सदा हराभरा और प्रफुल्लित रख रहा है। इस सुन्दर उपवनका स्वामी आत्मा इस उपवनमें एक चित्तसे रमायमान होरहा है। जो आनंद इसके भोगमें आरहा है उसका कथन किसी भी तरह नहीं किया जासक्ता है। यह आत्माराम परम धैर्यके साथ नित्य इसी उपवनका उपभोग करता हुआ स्वात्मानुभवके रङ्गमें रङ्गा हुआ अद्भुत ज्योतिसे प्रकाशमान है। जो इस उपवनमें रमता है वही सच्चा रमता योगी है।

४१६–महान् वैरी।

कर्मोंके छक्के छूट गए–जिस चेतनरामको दबाए बैठे थे उसको छोड़ना पड़ा। सारे जगतको एक चुगलमें दाबनेवाले और एक छत्र राज्य करनेवाले मोह कर्मका मुख उदासीन होगया। अपने सामने वीतराग भगवानको देखकर कर्मोंकी पीठ टूट गई। मोह राजाने परमात्म देवको महान् वैरी समझा, वह किसी तरह इस देवको दमन करनेका उपाय सोचने लगा, किन्तु ज्यों ही परम देवकी शांत मूर्तिका स्मरण होता त्यों ही मोहको बेचैनी होजाती। मैंने जब अपनेको देखा तो आपको परमात्मपद समान पाया। मोहके फासमें फसा होनेपर भी मैंने जब अपना स्वरूप विचारा तो परमात्मासे किसी तरह न्यून न पाया। मैं जब दृढ़तापूर्वक अपनी ही निर्मल चेतन भूमिमें जम गया तब न कोई शत्रु दिखता न कोई मित्र दिखता। जहां देखता हूं वहां साम्यभाव और शांतरस छाया है। मुझे तब अन्य जगतके पदार्थोंके अस्तित्व रहनेपर भी एक आप ही आप सर्व तरफ मालूम होने लगा। अद्वैत निर्मल भावमें कल्लोल करते हुए मेरा उपयोग आप ही सुखसागरमें निमग्न होगया। अब न विकल्प है, न विचार है, न जाना है, न आना है, न बोलना है, न जागना है, न सोना है, न करना है, न भोगना है। सर्व कर्तृत्व और भोक्तृत्व भावकी शून्यता है। जो स्वाद इस समय मुझ आत्मारामको प्राप्त होरहा है वह मात्र अनुभवगोचर है। मुझे इस समय कोई शून्य, उन्मत्त या स्वार्थी तथा मुक्तितिया कामी कहो तो कह सक्ते हैं, मुझे तो इस समय पूर्ण स्वभाव साम्राज्य प्राप्त है। यही मेरा निश्चय धर्म है।

४१७–ज्ञानदीप।

ज्ञानदीप अद्भुत प्रकाशमई है, सर्व प्रकाशोंको मद करनेवाला है, लोकालोकका दृश्य बतानेवाला है, षड्द्रव्योंका भिन्न२ स्वरूप झलकानेवाला है, आत्माके तत्वको अन्य पाच द्रव्योंसे जुदा बतानेवाला है, सब आत्माओंको गुण व स्वभावसे समान दिखानेवाला है, शत्रु मित्रकी कल्पनाको मिटानेवाला है, निज आत्माकी सत्ताको पर आत्माकी सत्तासे पृथक् बतानेवाला है, निज आत्माका मोह सर्वसे छुडानेवाला है। आप अपने आतम भडारमें अपूर्व सुखशातिका भडार दिखानेवाला है, अतएव सासारिक क्षणिक अतृप्तिकारी सुखकी वासनाका मोह मिटानेवाला है, आपके उपयोगको आपमें ही रमनेकी रुचि करानेवाला है। सर्व शका, काक्षा मूढ़तादि दोषोंको मिटाकर स्वस्वरूपमें निष्कम्प बिठानेवाला है। ऐसे ज्ञान दीपकका प्रकाश पाकर जो जीव निज समयसारके विलासमें लयता पाते हैं वे सिद्ध परमात्मासे किसी दरजे कम न होते हुए वीतराग विज्ञानकी तरगोंमें स्नान करते हैं और कर्ममैलको धोते हुए परम स्वच्छ होते जाते हैं। ज्ञानदीप मेरा है, मैं ज्ञानदीपका प्रकाशक हू, यह विकल्प मेटकर जो दीपक समान, मात्र ज्ञाता दृष्टा रहते हुए किसीसे रागद्वेष मोह नहीं करते वे ही निश्चयधर्मका मनन करते हुए परमानन्दके अनुभवमें प्रकाश करते है।

४१८–श्री महावीर प्रभु।

आज मै सर्व आकुलताओंको मेटकर श्री महावीर प्रभुकी शरणमें गया हू। विचार ` देखता हू तो अपने आत्माको ही

नन्दका भोक्ता और परम तृप्तिको प्राप्त करनेवाला है। जो इस भेदको समझता है वही निश्चय धर्मका ज्ञाता और मननकर्ता है।

४२०–उत्कर्ष।

आज एक ज्ञानी आत्मा सर्व भवफन्दोंसे व्यतीत हो व परम उत्कर्षको प्राप्त हो अद्भुत ज्ञानसरोवरमें कल्लोल कर रहा है। इसके उत्कर्षकी सीमा इसका स्वभाव विकाश है। इस विकाशमें पूर्ण स्वाधीनता है। पुद्गल देह व पुद्गल कर्मका वहां किंचित भी अवकाश नहीं है। शुद्ध चैतन्यमय भूमिकामें क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, तप, त्याग, सयम, आर्किचिन्य और ब्रह्मचर्य आदि धर्म विना रोकटोकके क्रीड़ा कर रहे हैं। वहां औपाधिक भावोंका कुछ भी दर्शन नहीं होता है। शुद्ध आनन्द वीतरागताके रसमें सना हुआ एक पवित्र भोजन और स्वानुभव रसामृतमई निर्मल जल ये ही इस आत्माकी क्षुधा तृषा मिटानेको वश हैं। यह आत्मवीर सर्व मोह राजाके शस्त्रोंको विफल करता हुआ अपनी स्वाधीन शांतिमय स्वरूपानन्दी राज्यधानीमें विश्राम करके सब प्रकारकी निराकुलताका भोग भोगता हुआ परमोत्कर्ष सयममें लवलीन है। व्यवहार धर्मके विकल्प व अनेक धार्मिक रीति रिवाज, पूजा पाठ, जप, तपका वहां कुछ भी काम नहीं है। न वहां मंदिर है, न प्रतिमा है, न प्रतिमा दर्शन है, न कोई तीर्थ है, न कोई तीर्थयात्रा है, न नग्नपनेका निर्ग्रंथ भेष है, न वस्त्रधारी श्रावकके चिन्होंका आडम्बर है। यह ज्ञानी महात्मा मुनि व श्रावकके चारित्रकी भूमिकाको उल्लंघकर मात्र अपने स्वभावमें ही रमण कर रहा है। इसका यह उत्कर्ष ही उपादेय व मनन योग्य है। जो इस उत्कर्षके स्वामी हैं

वे प्रति समय सर्वको देखते व जानते हुए रहकर न किसीमें रागी हैं, न द्वेषी हैं, मात्र परम वीतरागी व स्वभावलिप्त हैं।

४२१–परम पूजा।

आज मैं अपने ही भीतर परम शुद्ध असख्यात प्रदेशोंसे निर्मित देवलमें विराजित परमात्मदेवको परमात्मा स्थापन कर उनकी भक्ति करता हुआ परम पूजा रच रहा हू। समता रूपी जलसे अभिषेक करके तन्मयताके वस्त्रसे स्वच्छ करता हू फिर अष्ट प्रकारकी पूजा रचाता हू। वीतरागताका जल चढाके राग द्वेषमई ससारके कारणको नाश करता हू, परम सुगधित सत्य पदार्थका स्वरूप मननरूपी चदन चढाकर मिथ्यात्वका परम अमगलकारी आताप हटाता हू। अक्षय आत्मीक ज्ञानादि गुणोंका लक्ष्यरूपी अक्षतपुंज अर्पणकर अक्षय गुणोंका विकाशक होरहा हू। ब्रह्मचर्यमई अत्यन्त मनोहर पुष्पोंकी भेट देकर काम भावकी आतापका शमन कर रहा हू। स्वात्मानदमई अमृतका नैवेद्य चढाकर अनादि कालीन क्षुधाका निवारण करके परम तृप्तिको पा रहा हू। निश्चय रत्नत्रयमई स्वसवेदनरूप दीपक जलाकर विकल्पमई तमको हटा रहा हू। आत्मध्यानकी अग्नि जलाकर उसमें सर्व विकारोंका दहन कर रहा हू। स्वातन्त्र्यका मगलमय फल चढाकर अविनाशी अटूट स्वावलम्बरूपी फलका लाभ ले रहा हू। अनत गुणात्मक आत्माका एकतान रूप अर्घ चढाकर परम सुखका विलास ले रहा हू। स्वात्मामें स्वात्माद्वारा स्वात्माके अर्थ स्वात्मामेंसे स्वात्म शुद्ध परिणति लेकर स्वात्माको अर्पण करता हुआ परम जयमालके मननसे सर्वांग शुद्धोपयोगका रग जमाकर पूजक और पूज्यके द्वैत भावको उल्लघकर

परम निष्कम्प अद्वैत भावमें विश्राम करता हुआ परम सुखी होरहा है।

(२२) प्रतिष्ठा।

एक ज्ञानी जीव लौकिक सर्व प्रतिष्ठाओंको छोड़कर व व्यवहारधर्म सम्बन्धी बिम्ब व मंदिर व धर्मशाला आदिकी प्रतिष्ठासे भी मुंह मोड़कर जिस प्रतिष्ठाकी कभी क्षति नहीं हो सक्ती उस प्रतिष्ठामें उपयुक्त होरहा है। आत्मारामकी प्रतिष्ठा अपने आत्माके अंतरमें ही विश्राम करनेसे है। यह परम अभिराम सुखधाम प्रतिष्ठा है। इस प्रतिष्ठाको बाधा देनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंकी यहां गुंजर नहीं है। इस प्रतिष्ठामें स्वाभाविक आत्माका स्वरूपमें रमण है। यहां परम स्वात्मानुभवका विलास है और परमानन्दरूपी अमृतका स्रवण है। जिस अमृतके पान करनेसे सर्व बुभुक्षा, तृषा व थकन आदि उपाधियोंका अभाव होजाता है, स्वाधीनतासे स्वतंत्र भोजन मिलते हुए इस आत्मारामने सर्व अन्य चेतन अचेतन पदार्थोंकी आशा त्याग दी है। इस प्रतिष्ठाको ही सच्ची तीर्थंकर प्रतिष्ठा व आत्मप्रतिष्ठा कहते हैं। यही निश्चय प्रतिष्ठा व्यवहार सम्बन्धी प्रतिष्ठाओंके लिये भी कारण है। इसी प्रतिष्ठाके आश्रयसे ही अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधुका पद प्रतिष्ठित होता है, यही भाव मोक्ष है, यही भाव मोक्ष मार्ग है, यही भाव मुनिपद है, यही भाव श्रावकपद है, यही भाव सम्यक्तीका पद है। जो इस प्रतिष्ठाकी प्रतिष्ठा करते हैं वे ही निश्चयधर्मके मननकर्ता हैं।

(२३) अहिंसा।

जगतमें एक अहिंसाधर्म ही सार है। यही वास्तवमें आत्माका

गुण है। यह अहिंसा परम वीतरागरूप सर्व विकारोंसे भिन्न है। इस धर्ममें न क्रोध, मान, माया, लोभ है, न हिंसात्मक अन्य भाव है, न यहा किसी भी प्राणीकी किसी भी तरह हिंसा है। यह शुद्ध स्वभाव परम समतारूप है। यह जहापर रहता है वहा सब उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचिन्य और ब्रह्मचर्यका निवास है। इस अहिंसाकी सत्तामें आत्माका आनन्द गुण विना किसी विरोधके विलास करता है। इस अहिंसामें ही सर्व मुनियोंके महाव्रत व श्रावकके अणुव्रत गर्भित हैं। यही वास्तवमें केवली तथा तीर्थंकरका स्वभाव है। यही परम सिद्धका सिद्धत्व है। इस अहिंसामें जगतभरके प्राणियोंका प्रेम गर्भित है न इसका किसीसे विरोध है। मैं अहिंसामई हू, मैं सर्व विश्वप्रेममई हू, मैं परम वीतरागी हू, मैं परम ज्ञानदर्शन स्वभाव हू, मैं शुद्ध निर्विकार हू। यही मनन अहिंसाके महत्वको बताता है। जो इस अहिंसाके तत्वके जानकार हैं वे ही भेद-विज्ञानसे उत्पन्न स्वसवेदनमई स्वानुभवके सच्चे स्वामी हैं। वे आप ही अपने स्वभावमें आशक्त रहते हुए परमतृप्तिके अधिकारी बने रहते हैं और सुखसमुद्रमें गोते लगाते हुए सदा शांतिका उपभोग करते हैं।

४२४--गुणोंकी यात्रा।

एक यात्री आत्माकी असख्यातप्रदेशरूपी सड़कपर चलता हुआ एक एक गुणकी सीमातक यात्रा करता हुआ भ्रमण करता है। वह कभी भी भूल करके भी अनात्माके प्रदेशमें नहीं जाता है। ज्ञान गुणकी सीमा लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवसे लगाकर

अरहत परमात्माके केवलज्ञानतक हैं। अनेक प्रकारके जीवोंके अनेक प्रकारकी ही ज्ञानगुणकी पर्यायें हैं। चारित्र गुणके विकाशकी सीमा अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे लेकर अयोगकेवली तक है। मध्यमें अनेक प्रकार वीतरागताके दरजे हैं। वीर्य गुणकी सीमा ल० निगोदियासे लेकर अरहत परमात्मा तक है। स्वाधीन आनन्दगुणकी सीमा अविरत सम्यग्दर्शनसे लेकर अरहत तथा सिद्ध परमात्मा तक है। अस्तित्व, वस्तुत्व आदि साधारण गुणकी सीमा सर्वत्र साधारण है। इस तरह निज आत्माके गुणोंकी यात्रामें एक निज शुद्ध आत्माके स्वाभाविक गुणोंकी ही यात्रा है। लक्ष्यबिंदु आत्माके ही अश हैं। इस तरह यह यात्री वारम्वार इस गुण यात्राको करता हुआ परम शुद्ध निज भावका अधिकारी होकर सर्वथा सुख शातिको ही भोगा करता है। इस यात्रामें विषयकषायरूपी चोर व लुटेरे कहीं भी प्रवेश नहीं कर पाते हैं। इस निर्विघ्न यात्रामें यात्रीको कोई कष्ट नहीं होता, सदा ही आनन्दामृतका पान होता है यही मोक्षमार्ग है।

४२५–अध्यात्म वृक्ष।

एक पथिक भयानक तापसहित ससारवनके दु खोंसे पीड़ित हो घूमता हुआ यकायक एक परम अपूर्व अध्यात्मवृक्षके नीचे आजाता है। इस वृक्षसे स्पर्शित शातिमई पवन उसके सर्व आतापको हरण कर देती है। इस वृक्षकी छायामें बैठते हुए इसको परम विश्राति मिलती है, चित्तकी सर्व आकुलता मिट जाती है। यह वृक्ष अपनी मनमोहिनी शक्तिसे इस पथिकके प्रेमको आकर्षित कर लेता है। पथिक शात होकर इस वृक्षसे प्राप्त स्वानुभवरूपी मनोहर

फलोंको खाता है—स्वानन्दामृत रसको चूसकर अटूट सतोप प्राप्त करता है। भव तृषा मिटा देता है। पर पुद्गलादि द्रव्योंसे नाता छोडकर एक निज आत्म द्रव्यके विलासमें उत्साहित होजाता है। इस अध्यात्म वृक्षकी महिमा अगाध है। तीर्थंकर महाराज भी इसी वृक्षकी छायामें बैठकर तप करते हुए सुख–शातिके सागरमें मग्न होजाते हैं। सिद्धोंने सिद्धि पाकर भी जिस वृक्षकी सेवासे सिद्धि पाई है उसका सग कदापि नहीं छोड़ा है। निरतर वे निज अमृतका पान करते रहते हैं। जो आत्मा द्रव्य आत्मीक गुणोंकी शाखाओंसे वेष्टित हो निज आत्मीक पर्यायरूपी पत्र पुष्पोंसे शोभित होता है वही अध्यात्म वृक्ष है। जो भव्य जीव इस वृक्षकी सेवा करेंगे वे नि सदेह सर्व दु खोंसे अतीत सुखभूमिमें विश्राम करेंगे।

१२६–अद्भुत चंद्र।

बहुत काल पीछे एक दृष्टाकी दृष्टिने ऐसे चद्रमाका दर्शन पाया है कि जो न कभी अस्त होता है, न उगता है, जो न कभी घटता है, न बढता है, जिसको कोई मेघादि व राहु आदि कभी आच्छादन नहीं करसक्ते है, जो सुखशातिसे पूर्ण ज्ञान मई किरणोंको फैलाता है, जिसके दर्शनमात्रसे दृष्टाको परमानन्द होजाता है, जिसका निवास स्थान चैतन्यमय है व यह स्वय भी चैतन्यमई है। अदभुत चद्र जिसके भीतर झलकता है वह कभी अज्ञान व मोहके अधकारमें नहीं फसता है। उसका चारित्र परमशुद्ध स्वरूपावलम्बी होजाता है। वह सर्वका ज्ञाता दृष्टा होकर भी किसीसे रागद्वेष नहीं करता है। वह चद्र आत्माराम है जिसकी ज्योतिके लिये जगतमें कोई उपमा नहीं मिल सक्ती है। इस चन्द्रमाका

साम्राज्य लोकालोकमें व्यापक है। जगतकी कोई शक्ति इसके शांतिमय शासनमें कोई विघ्न नहीं डाल सक्ती है। जो इस पर फूलोंकी वर्षा करनेको फूल बरसाना चाहते हैं उनके ऊपर फूलोंकी वर्षा होजाती है व जो इस पर धूल फेंकते हैं उन ही पर धूल छा जाती है। यह वीतरागी चद्रमा दोनों परस्पर विरोधी व्यक्तियों-पर समभाव रखता है तौ भी एकका भला व दूसरेका बुरा स्वय होजाता है। इस परमात्मा रूपी चन्द्रमाको चन्द्रप्रभु कहो, चाहे शातिनाथ कहो, चाहे पार्श्वनाथ कहो, चाहे शीतलनाथ कहो, चाहे अनतनाथ कहो, चाहे धर्मनाथ कहो, चाहे सुमतिनाथ कहो, चाहे अजितनाथ कहो, चाहे श्रेयासनाथ कहो, चाहे विमलनाथ कहो, चाहे वर्द्धमान कहो सबका भाव एक ही है। जो भव्य जीव निरतर इस चद्रमाका दर्शन करते हैं और स्वानुभवामृतका पान करते हैं वे ही परमसंतोषी रहते हुए सुवर्णमई जीवन विताते हैं।

४२७-कर्तव्यसाधन।

यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य विचार करे कि उसका कर्तव्य क्या है जिसका साधन उसको करना चाहिये तो यही कहना होगा कि यह मनुष्य जब निश्चयसे आत्माराम है तब उसका कर्तव्य सुख-शांतिका पाना है। उस हीका साधन एक बुद्धिमानको करना योग्य है। सुखशातिका समुद्र स्वय आत्माराम है, यही जानकर श्रद्धान करना और उस ही समुद्रमें अवगाहन करना यही कर्तव्यसाधन है। अतएव एक आत्मा सर्व ओरसे उन्मुख हो मात्र अपने स्वरूपके सन्मुख होगया है। अपने भीतर जो अगाध ज्ञान, शाति, वीर्य, सुख, सम्यक्त्व आदि रत्नोंसे भरा हुआ समरस जलसे पूर्ण अपूर्व

समुद्र है उसके भीतर अवगाहन करता हुआ परम तृप्तिको पारहा है। इसके भीतर इन्द्रियजनित ज्ञानकी शून्यता है, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानका मनोहर प्रकाश है। लौकिक कर्तव्यका अभाव है तथापि स्वात्मिक परिणमनरूप कर्तव्यका सद्भाव है। रागद्वेष मोहकी कालिमाका नास्तित्व है। तब वीतराग विज्ञानमय अभेद रत्नत्रयमई शुचिताका अस्तित्व है। बन्ध मोक्षादि तत्वोंकी कल्पनाका अदर्शन है तब निर्बन्ध परम शुद्ध स्वभावका अपनेसे अपनेमें दर्शन है। भव्य अभव्यके विकारोंका असम्बन्ध है तथापि स्वजीवत्वका परम अमिट तादात्म्य सम्बन्ध है। शरीरादि आश्रयका असग है तब निज शुद्ध प्रदेशोंके अविनाशी आश्रयका सग है। इस स्वमानके कर्तव्यसाधनमें मन, वचन, कायके परिश्रमका अभाव है तथापि स्वात्मीक पुरुषार्थका मगलमय सद्भाव है। जो व्यक्ति निजात्म गगाके सेवी हैं वे ही निज परमानन्द भोगी हैं, इति।

४७८-सतत् वर्षा।

इस जगतमें जब कभी२ वर्षा होती है तब इस आत्मारामके परमसुन्दर आराममें सतत् निरन्तराय परम अमृतमई परम शाति-कारक परमानन्दरूपी जलकी वर्षा हुआ करती है। इस वर्षाका जल जहासे आता है वहीं समा जाता है। एक भी बूद इस जलकी इस आत्माके आराममें कहीं बाहरसे नहीं आती है न यहासे कहीं बाहर जाती है। इस ही कारण इस आत्मारामके स्वामी परम ऐश्वर्ययुक्त ईश्वर प्रभुको कभी मनका कोई सताप किंचित् भी दाह नहीं पैदा [illegible] है। न विषय सुखकी कामना सताती है, न कषायकी [illegible] ती है। पुण्यका लोभ व पापका

नहीं स्थान पाता है । स्वर्गोंके सुखोंकी प्रीति व नरकके दु खोंकी अप्रीति वहा कहीं देखनेमें नहा आती है । इस लोक परलोक आदिके सातों भय वहीं कहीं अड्डा नहीं जमा सके । जन्म व मरणकी वहा कोई कथा नहीं होती है । तथापि इस आत्मारामके अनतगुणरूपी वृक्षोंमें सदा ही नवीन नवीन सदृश परिणतियें हुआ करती हे जिनकी पुष्टि स्वात्मानुभवरूपी मेघोंसे वर्षे हुए जलमे भलेप्रकार हुआ करती है । इस वर्गाका माहात्म्य वचन अगोचर है। यही सिद्ध निरजन आत्मदेवका परम अद्भुत स्वरूप है । वहा न कभी बाढ आती है न कभी जलकी कमी है व न कभी सूखा पड़ता है । ऐसे आनदमई बागमें जो विश्राम करते हैं वे ही सच्चे निश्चयधमके मनन कर्ता परमयोगी और सच्चे सम्यग्दृष्टी हैं।

४२९–अपूर्व भानु ।

जगतमें आत्मसूर्यके समान दूसरा कोई नहीं है । यह निरुपम है, सदा उदय रूप है, परम तेजस्वी है, कर्म कलकसे कभी मलीन नहीं होता है, स्वपर प्रकाशक है, आताप दानकी अपेक्षा ससार–ताप–शमनकारक है । इस अपूर्व भानुका प्रकाश जिस व्यक्तिके भीतर होरहा है वह ससारके प्रपचजालोंसे बिल्कुल छुटा हुआ एक आनदधाममें विराजता हुआ परम शातिका अनुभव करता है । इस आत्मसूर्यके प्रकाशसे अनन्तगुण रूप वृक्षोंमें प्रफुल्लितपना रहता है । कोई कर्मरूपी कर्दम आत्माकी असख्यात प्रदेशरूपी भूमिको मलीन नहीं कर सके हैं । इस सूर्यमें परम वीतरागता है । यद्यपि अनतद्रव्य अपनी स्वाभाविक या वैभविक परिणतिमें नित्य पलटते रहते हैं तथा ससारी विकारी आत्माओंकी

दृष्टिमें वे रमणिय या असुन्दर भासते हैं तथापि इस आत्मसूर्यमें वे वस्तुस्वरूप रूप प्रतिबिंबित होते हैं । उसके ज्ञानके प्रकाशमें रागद्वेषका विकार नहीं होता है । यही परम तीर्थंकर है जो आत्मतीर्थकी यात्राका फल प्रदान करता है । यही परम मगलमय है जो सर्व आर्त्त रौद्र ध्यान रूप अमगलोंका नाश करता है । यही परम अमृत है जो जरा मरण रोगोंको सदाके लिये शात कर देता है । यही परम अगाध सुखसमुद्र है जिसमें अवगाहन करनेवालेको कभी दु ख व आकुलताका सामना नहीं करना पड़ता है । यही मोक्षरूप तत्त्व है व यही मोक्षमार्ग है । जिसकी ज्योतिमें चलना ही स्वाधीनताका आनद भोगना है । यह अपूर्व भानु परम निर्दोष और अव्याबाध है ।

४३०–सरल गाड़ी।

परिणमनशील एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा कालके अनादि अनत प्रवाहमें यात्रा करता हुआ एक प्रेमी सरल गाडीपर आरूढ़ है कि जो विना रोकटोक गमन करती है । यह गाडी अचेतन द्रव्योंसे निर्मापित नहीं है । यह चेतनात्मक है और अकृत्रिम है । इसमें कर्म और कर्मफलरूप अशुद्ध चेतनाके अँश नहीं हैं । यह गाडी शुद्ध ज्ञान चेतनारूप है । इसमें स्वानुभवरूप अति तेजस्वी बलवान और अव्याबाध तथा स्वाधीन एंजिन लगा है । सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमय निश्चय रत्नत्रयरूप मसाला इस एंजिनकी खुराक है । पक्तिरूप आत्माके प्रदेशोंकी सड़कपर यह गाडी गमन करती है । परम योगी इस गाडीका रक्षक या ड्राइवर है । यह गाडी शा[illegible] है । इसमें र ग, नोक, कापोत, पीत, पद्म

नहीं दिखती हैं। न इस गाड़ीमें रागद्वेष मोहरूप दुष्टोंकी और न इंद्रिय विषय वांछारूप लुटेरोंकी गुजर है। समताकी पवनसे प्रेरित यह गाड़ी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा निष्परिग्रहकी मनोहर चित्रकारीसे चित्रित आरोहक आत्मारामको विना किसी श्रम या आकुलताको उत्पन्न कराए ले जारही है। यह आत्माराम मार्गमें हर समय स्वात्मानन्दका भोग करता हुआ परम तृप्तिको पाता हुआ चला जारहा है।

४२१-शांतिनिकेतन।

एक आत्मा अशांतिके समुद्रसे बाहर जाकर शांतिनिकेतनमें प्राप्त हुआ है। यहां सर्व सामान शांतिके ही हैं-यहां राग द्वेषादि शूकरोंका व विषयादि कूकरोंका प्रवेश नहीं है। शांतिनिकेतन निर्मल आत्माकी प्रदेशावली है जहां अनंत गुणरूपी वृक्ष भिन्न२ शोभाको विस्तारते हुए भी परम अदभुतताके साथ एक दूसरेमें व्यापक हैं। प्रत्येकका विस्तार आत्माके सर्वांगमें है। इन वृक्षोंमें अत्यन्त निर्मल सत्यताकी सुगंध व्याप रही है। इस शांतिनिकेतनमें स्वानुभवामृतमई जलसे पूरित परम स्वच्छ वापिका है जिस जलसे स्नान करना कर्म कलंकका धोनेवाला है तथा जिस जलका पान परम तृप्तिका देनेवाला है। इस स्थानमें जो बैठ जाता है वह सर्व संकल्प विकल्प जालोंसे छूट जाता है। उसका ध्यान सिवाय इस शांतिनिकेतनके अन्यत्र कहीं नहीं जाता है। यहां जो सुख इस आत्माको उपलब्ध होती है उसका कथन वचनातीत है। इस सुखमें किसी परवस्तुका आलम्बन नहीं है। यह निकेतन चतुर्गतिके संकटोंसे दूर है। यह परम आश्चर्यकारी आत्माका स्वसुवेदनमई स्थान

है। यहा न भूख है न प्यास है, न खेद है, न त्रास है । मात्र पूर्ण ज्ञान, वैराग्य और स्वात्मानद विलास है । जो इस शातिनिकेतनके निवासी हैं वे ही स्वभावाशक्त परमसुखी हैं ।

४३२-गंगा स्नान ।

श्री सुपार्श्वनाथ भगवानके पवित्र स्थानमें आत्मानुभूतिमई गगा बह रही है जिसकी मनोहर तरगें आनदित कर रही हैं। इस निर्मल गगामें जब उपयोग स्नान करता है तब एकदमसे परात्मानुभूतिका मल हट जाता है और स्वात्मानुभूतिके द्वारा अपूर्व शुद्धता प्राप्त होजाती है । इस निर्मल आत्मगगाका स्नान बडे भाग्यवान जीवोंको प्राप्त होता है । जो इस गगाके प्रवाहको पालेते हैं उनको न मत्रस्नानकी, न जलस्नानकी और न वायुस्नानकी जरूरत पड़ती है, वे आजन्म मोह कषायके मलसे दूर रहते हुए शातताकी स्वच्छतामें चमकते रहते हैं । इस स्नानमें यह प्रभाव है कि स्नानकर्ताकी सर्व तृष्णा मिट जाती है—उसे भूख प्यास सताती नहीं, उसे शोक खेद जुगुप्सा कभी आती नहीं, वह नित्य आनदभावमें मग्न रहता है, निराबाध होजाता है । इस गगाके स्नानसे ज्ञाननेत्रमें ऐसी निर्मल ज्योतिका विकास होजाता है कि सर्व विश्व अपनी सपूर्ण अवस्थाओंके साथ उसमें एकसाथ झलक जाता है—न किसीको जाननेकी आकुलता होती है, न किसीको देखनेका क्षोभ होता है—सिद्ध साम्राज्यका स्वामित्व ही प्राप्त [illegible] है वे प्राणी जो पवित्र गगारूपी तीर्थके उपासक [illegible] पार होजाते हैं ।

४३३-आनन्दकुटी।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचमालोंसे शून्य होकर तथा अन्य सर्व आधारोंको त्यागकर निज आत्माके परम शांत और अद्भुत आधारसे विश्राम करता है। यह एक ऐसी आनन्दकुटी है जहां किसी परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाली [illegible]न्द्रियविकारकी वासना नहीं है। यह कुटी अमूर्तीक चैतन्यमई शुद्ध प्रदेशोंसे बनी है। इसमें अचेतनपना व मूर्तीकपना बिलकुल नहीं है, न इसमें रागद्वेषादि विकार हैं। यह परम स्वच्छ स्फटिक समान भावकी रखनेवाली है। इस कुटीका ऐसा महत्त्व है कि जो इसमें विश्राम करता है उसको भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदिकी कोई बाधा नहीं सताती, न कभी आर्त्तरौद्र ध्यानका सम्बन्ध होता है। इसमें धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यानकी छटा सदा चमकती रहती है। यह कुटी नित्य अनित्य, एक अनेक, अस्ति नास्ति, भव्य अभव्य आदि स्वभावोंको रखती है तथापि एक अपने पारिणामिक जीवत्व भावमें तल्लीन है। इसको गंधकुटी भी कह सके हैं, क्योंकि यहां वीतरागताकी परम स्वच्छ गंध आती है। आनन्दकुटीकावासी इस गंधमें इसी तरह लय होजाता है जिस तरह एक भ्रमर कमलकी गंधमें लय होकर अपने आपको भूल जाता है। इस कुटीको ब्रह्मालय कहें, सिद्धालय कहें, देवालय कहें, चैत्या-लय कहें या ज्ञानालय कहें सब ही कहना ठीक है। वास्तवमें यही कुटी एक चेतन प्रभुके वास योग्य है। स्वानुभव रसका पान कुटीवासीको अद्भुत आनन्द देता है और उसे परम प्रवीन बनाता है, वे ही सम्यग्दृष्टी हैं जो आनन्दकुटीको जानते और मानते हैं तथा नित्य इस निराकुल धामका सहवास करते हुए परम सुखी रहते हैं।

४३४-पुरुषका पौरुष।

निराकुलतापूर्वक नित्य सुखशांतिका लाभ करना ही एक पुरुषका पौरुष है। जब पुरुषका स्वभाव विचार किया जाता है तो यह स्वयं सकल ज्ञान दर्शन चारित्र व सुखका समुद्र है। पुरुषका यही पौरुष है जो वह अपने स्वभावमें रहे, अनेक उपसर्ग परीषह पड़नेपर भी अपने स्वभावसे विचलित न हो, कर्मोंके उदयकी प्रबल पवन इसके प्रदेशोंको सकम्प न कर सके, न तैजसवर्गणा इसका तैजस शरीर बनावें, न आहारवर्गणा इसका औदारिक, वैक्रियिक व आहारक शरीर बनावे, न भाषा वर्गणा न मनोवर्गणा कोई आक्रमण करे। पुरुषार्थी आत्मा केवल अपने शुद्ध स्वभावमें आशक्त रहता हुआ सबको जानता देखता हुआ भी उनसे रागद्वेष नहीं करता है। वीतरागी, व समदर्शी रहता हुआ चारों गतिकी सर्व अवस्थाओंका न कर्ता होता है न भोक्ता। यदि कुछ करता है तो अपनी परिणतिको करता है। यदि कुछ भोगता है तो अपने ज्ञानानंद स्वभावको ही भोगता है। यह बद्ध है ऐसा विचारना जैसे अयुक्त है वैसे यह मुक्त है ऐसा विचारना भी अनुचित है। वास्तवमें यह पुरुष बंध और मोक्षके प्रपंचोंसे शून्य है। यह न कहने योग्य है न सुनने योग्य है, यह मात्र अनुभवने योग्य है। स्वात्मानंदमें मगन होकर डूबे रहना व उसीका स्वाद लेना यही एक पुरुषका ---- पौरुष है। जो इस पौरुषको पहचानते हैं वे ही महात्मा, सम्यग्दृष्टी हैं। उनहीका शरीर वास भी सफलता रूप संतोषी और परम आल्हादरूप है,

४२५–शीतलता।

जो कोई ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी आत्मा है वह एक परमानद-मई शीतलताके समुद्रमें अवगाहन करता हुआ अपना सर्व भवाताप शात कर रहा है। वीतरागताको ही शीतलता कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंकी आताप इस शीतलतामें बिल्कुल नहीं दिख लाई पड़ती है। शीतल स्वात्मरससे पूर्ण आत्मसमुद्रकी सर्व तरगें परम शीतल और निर्विकार चमक रही है। इस शीतलताके साम्रा ज्यमें न कोई रोगादि व्याधि हैं, न कोई शोकादि आधि है। न यहा आर्तध्यान है न रौद्रध्यान है। यहां मात्र धर्मध्यान है या आत्म ध्यान है या ध्यान ध्येय ध्याताका विकल्प ही यहा नहीं है। यहां तो मात्र एक केवल आत्मद्रव्य ही है। इसकी भूमिकामें सदा ही शीतलता वास करती है इसीसे यहा पूर्ण निराकुलता है। क्षोभका कारण कर्मोंका उदय है सो इस प्रभु आत्मामें किसी कर्मका रचमात्र भी उदय नहीं है। शीतल भूमिमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि सर्व गुण परम साम्यभावसे रहते हुए एक दूसरेकी शोभामें सहायक हैं। वास्तवमें जहा शातिका साम्राज्य है वहा अशाति व अनैक्यका प्रवेश बिलकुल नहीं हो सक्ता है। शीतल स्वभावसे ही पदार्थका उपभोग होता है और तब उसका स्वाद अनुभवमें आता है। आकु-लतामें स्वाद बेस्वाद होजाता है। आत्मामें जो अतींद्रिय आनद भरा हुआ है उसका स्वाद शीतलतामें आता है, जो स्वाद सिद्ध परमात्माके आत्मस्वादसे किसी तरह कम नहीं है, अतएव मैं भी सर्व प्रपचजालोंसे बचकर एक मात्र शीतलताका ही उपासक होता हुआ आनद अनुभव कर रहा हू।

४३६--उपवनकी सैर।

एक ज्ञातादृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित हो जब एक अपूर्व उपवनको देख लेता है तब उसका आत्मा अत्यन्त मोही होजाता है और फिर किसी भी तरफ उपयोगको न लगाकर मात्र उस उपवनकी सैर करनेमें लग जाता है। इस उपवनकी सैर एक अद्भुत आनंदका दृश्य है जहां सुख शांतिका ही साम्राज्य है। उस उपवनकी भूमि समचौरस असंख्यात प्रदेशमई है। इसमें अनेकानेक गुणरूपी वृक्ष हैं। एक एक वृक्षमें अनंत अविभाग प्रतिच्छेदरूप पत्र हैं। प्रत्येक गुणकी प्रभा संपूर्ण उपवनमें व्यापक है। सब गुणरूपी वृक्ष एक दूसरेका हर तरह हित कर रहे हैं। उन वृक्षोंमें उपशमकी गंध फैल रही है तथा इनमें अगुरुलघुगुणरूपी पवनकेद्वारा षट्गुणी हानि वृद्धि रूप परिणतियें समय समय होती रहती हैं इनहीसे इनके जीवनका संचार है। इन वृक्षोंमें चेतनत्व, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, आनन्द नामके वृक्ष बड़े ही शोभायमान हैं, इन्हींके कारण इस उपवनकी शोभा अन्य अचेतन उपवनोंसे कहीं निराली है। इस उपवनके वृक्षोंमें कभी जरा म्लानता नहीं होती न कभी इनका क्षय होता है—अनादिसे अनंतकाल तक इनकी सत्ता झलकती रहती है। इस उपवनको न कभी रागका तूफान मूर्छित करता है, न कभी द्वेषकी अग्नि भस्म करती है। इस उपवनकी सैर करनेवाला भी उपवनसे कुछ कम नहीं है। जब वह उपवनकी सैरमें तन्मय होजाता है तब दोनोंका द्वैतभाव [illegible] भाव [illegible] है। यही सुखका समुद्र है।

४३७–ज्ञान–वापिका।

ज्ञाता दृष्टा आनंदकंद प्रभु ज्ञान–वापिकामें शांतिका स्रोत है ऐसा समझकर उसीमें नित्य स्नान करता है व उसीके मिष्ट स्वानुभवामृतको पीता है। लोग कहते हैं कि अमृतके पीनेसे अमर हो जाता है सो वह कोई पौद्गलिक अमृत नहीं है। वह आत्मजन्य अपूर्व सुखस्वभावकी परिणतिरूप अमृत है जिस अमृतके पानसे पानकरनेवाला अवश्य अजर अमर होजाता है। ज्ञान–वापिकाकी शोभा निराली है। इसकी चौहद्दी उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण धर्मके भावोंसे बनी हुई है। इसमें शुद्ध ज्ञानकी स्वसंवेदनरूप तरंगे उठती हैं। इसका जल क्षीरसमुद्रके समान निर्मल है। इसमें रागद्वेषादि विकलत्रय जंतु व मोहरूपी मगरमच्छ नहीं हैं। इसका जल न कभी बढ़ता है और न कभी शुष्क होता है। इस जलमें कभी दुर्गंध नहीं आती, न कभी यह बिगड़ता है। इस जलमें निर्मलता ऐसी है कि सर्व लोकालोकके जानने योग्य पदार्थ जैसे वे हैं उसी रूपमें सदा ही इसमें झलका करते हैं। उनकी झलकनसे इस वापिकामें कोई विकार नहीं होता। इसके तटपर अनेक भव्य जीवरूप हंस नित्य सैर किया करते हैं और जब प्यासे होते हैं झटसे इसका स्वानुभव रसरूप पानी पीकर तृप्त होजाते हैं। इस वापिकाका विस्तार असंख्यात प्रदेशमई लोकाकाशके बराबर पुरुषाकार है। चमत्कार यह है कि इसके एक प्रदेशमें जो त्रिलोकज्ञ व त्रिकालज्ञपना है, वही सर्व प्रदेशोंमें है। कोई प्रदेश किसी प्रकारके आवरणसे छाए हुए नहीं हैं। सिद्ध परमात्मा इस ज्ञान–वापिकामें नित्य मग्न रहते हुए परमानंदका लाभ करते हैं। धन्य हैं वे जीव

जो इस ज्ञान-वापिकाका आलम्बन लेते हैं और इसीमें मज्जनकर परम आल्हाद पाते है। आकुलता, क्षोभ, विषयविकार, सशय, प्रमाद आदि क्लेशोंको क्षणमात्रमें मिटानेवाली और अतींद्रिय आनन्दके भावको झलकानेवाली यह ज्ञान-वापिका है। मै सर्व प्रपचोंसे छूटकर इस ही ज्ञान-वापिकाका आश्रय करता हू जिससे परम शांतिका विलास करूँ।

४३८-दश धर्मकी माला।

आज एक ज्ञानी आत्मा परम मगलमई उत्तम क्षमादि दश धर्मकी माला अपने कंठमें पहनता हुआ परम शोभाको विस्तार रहा है। उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच सयम तप त्यागाकिंचिन्य ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंके स्वभाव बडे ही उदार, शात तथा कल्याणकारी हैं। ये वास्तवमें निर्दोष रत्न हैं। इनमें क्रोध, मान, माया, लोभका किंचित् भी मैल नहीं दिखता है। इसमें वीतरागताकी बड़ी ही मनोहर सुगन्ध आरही है जो अपनी ओर आकर्षित किये लेती है। इस मालाका कोई मूल्य नहीं है। जिसके पास यह माला कुछ दिनोंतक ठहर जाती है उसके ऊपर मुक्तिसुन्दरी प्रसन्न होजाती है और एक न एक दिन उसको अवश्य वर लेती है। इस मालामें कोई पौद्गलिक अश नहीं है। यह पूर्ण चैतन्यमई और निर्विकार है। इसकी ज्योतिसे ऐसा प्रभातसा समय झलकता है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग नामके चोर यहा प्रवेश नहीं कर सके है। व्रत, समिति, गुप्ति नामके रक्षक इस मालाको चोरोंके आक्रमणसे सुरक्षित रखते हैं। यह माला अकृत्रिम, अविनाशी व परम दृढ है। कोई भी इस ससारमें ऐसी वस्तु नहीं है

४३७-ज्ञान-वापिका.

ज्ञाता दृष्टा आनदकद प्रभु ज्ञान-वापिकामें शांतिका स्रोत है ऐसा समझकर उसीमें नित्य स्नान करता है व उसीके मिष्ट स्वानुभवामृतको पीता है। लोग कहते हैं कि अमृतके पीनेसे अमर हो जाता है सो वह कोई पौद्गलिक अमृत नहीं है। वह आत्मजन्य अपूर्व सुखस्वभावकी परिणतिरूप अमृत है जिस अमृतके पानसे पानकरनेवाला अवश्य अजर अमर होजाता है। ज्ञान-वापिकाकी शोभा निराली है। इसकी चौहद्दी उत्तम क्षमा आदि दशलक्षण धर्मके भावोंसे बनी हुई है। इसमें शुद्ध ज्ञानकी स्वसंवेदनरूप तरंगें उठती हैं। इसका जल क्षीरसमुद्रके समान निर्मल है। इसमें रागद्वेषादि विकलत्रय जतु व मोहरूपी मगरमच्छ नहीं हैं। इसका जल न कभी बढ़ता है और न कभी शुष्क होता है। इस जलमें कभी दुर्गंध नहीं आती, न कभी यह बिगड़ता है। इस जलमें निर्मलता ऐसी है कि सर्व लोकालोकके जानने योग्य पदार्थ जैसे वे हैं उसी रूपमें सदा ही इसमें झलका करते हैं। उनकी झलकनसे इस वापिकामें कोई विकार नहीं होता। इसके तटपर अनेक भव्य जीवरूप हस नित्य सैर किया करते हैं और जब प्यासे होते हैं उन्से इसका स्वानुभव रसरूप पानी पीकर तृप्त होजाते हैं। इस वापिकाका विस्तार असंख्यात प्रदेशमई लोकाकाशके बराबर पुरुषाकार है। चमत्कार यह है कि इसके एक प्रदेशमें जो त्रिलोकज्ञ व त्रिकालज्ञपना है, वही सर्व प्रदेशोंमें है। कोई प्रदेश किसी प्रकारके आवरणसे छाए हुए नहीं हैं। सिद्ध परमात्मा इस ज्ञान-वापिकामें नित्य मग्न रहते हुए परमानंदका लाभ करते हैं। धन्य हैं वे जीव

रमना, दौड़ना, कल्लोल करना, बेठना, उठना व विश्राम करना स्वीकार कर लिया है। आत्मारामकी परिणतिके विराधक यहा कोई शत्रु नहीं हैं, इसीसे पूर्ण स्वतत्रता टस रामने पा ली है। अतएव जो सुख शातिका आनन्द इस प्रभुको इस समय आरहा है, उसका वर्णन किसी भी तरह नहीं हो सक्ता है। वास्तवमें आत्माकी शुद्ध भूमिमें चर्याको ही स्वानुभूति, स्वात्मध्यान, समाधि या साम्यलब्धि कहते हैं। यही साक्षात् मोक्षमार्ग या मोक्षस्वरूप है।

४४०–शांतिनिकेतन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सकल्प विकल्पोंसे शून्य हो व ससारके भयानक इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग रूप आक्रमणोंसे निवृत्त हो एक ऐसे शातिनिकेतनमें पहुचता है जहा सर्व ओर शाति, वीतरागता और समताका साम्राज्य है। टस उपवनकी शोभा परम अद्भुत और निराली है। दर्शकका मन सर्व अनात्मभावोंसे खिंचकर आत्मीक गुणरूपी वृक्षोंकी शोभामें अनुरक्त होरहा है। कभी ज्ञानके विस्तृत वृक्षको देखता है तो उसमें लोकालोकके सर्व ज्ञेयोंके प्रतिबिम्ब इस वृक्षके एकएक अशमें झलक रहे हैं। जिधर इस वृक्षको देखो उसही तरफ वही जगतका त्रिकाल नाटक दिख रहा है। कभी सम्यग्दर्शनके वृक्षको देखता है जहा चेतन अचेतन दोनों द्रव्य पृथक्२ अपनी अपूर्व शोभाको लिये हुए वृक्षके दोनों तरफ बडे शात भावसे बैठे हुए हैं। कभी चारित्रके वृक्षको देखता है तो उसमें इतनी शुद्धता है कि हर स्थलपर वैराग्य ही वैराग्य छाया हुआ है। वहा किसी भी वृक्षाशपर क्रोध, मान, माया, लोभका कुछ मैल नहीं है। इस वृक्षपर साम्यभावकी अद्भुत शोभा दिख

जो इस माल्को चूर्ण कर सके। दर्शक आत्मा इस अपूर्व माला
देखते देखते परम तृप्ति पारहा है। उसको भूख प्यास आदि
बाधाएं नहीं सताती हैं। इस मालाकी बहारसे आत्माराम अप
स्वरूपमें तन्मय होगया है। उसका भाव निज आत्मानुभूतिके रस
स्वादमें आसक्त है। यही कारण है कि जिसमे इसको संसारके क्षणि
सुखोंसे अतीत अतींद्रिय अपूर्व आनन्दका मजा आरहा है।

४२९-शुद्ध भूमिमें चर्या।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्पविकल्पोंसे शून्य होकर औ
सब संसारके मार्गोंसे पराङ्मुख हो स्वात्मभूमिमें ही चलना अपन
धर्म समझता है। यह स्वात्मभूमि परम शुद्ध है। इसमें कोई आ
कर्मका व नोकर्मका मल नहीं है, न यहां रागद्वेषादि भाव कर्म है
इस भूमिमें नयोंके भेद व स्वभावोंके भेद भी नहीं हैं। हम ज
देखते हैं, तब यहां उत्तमक्षमादि धर्मोंके विकल्प भी नहीं हैं, न यह
स्वचतुष्टयसे अस्तिपना है, न परचतुष्टयसे नास्तिपना है, न नित्य
पनेका विकल्प है, न अनित्यपनेका खेद है। यह भूमि पूर्णपने शुद्ध
है, असंख्यात आत्मप्रदेश भले ही अनंत गुणोंसे वासित हों, प
एक शांत दृष्टाको वहां कोई विषमता या ऊँचता या नीचता नहीं
दीखती है। ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंका व्यवहार भले ही
कोई करो तो करो, इस आत्माकी भूमिमें इतनी स्वच्छता है व
इतना एक समरसपना है कि वे गुण उसकी भूमिकामें ऐसे सम
गए हैं कि गुणी और गुणमें कोई भी अंतर नहीं दिखता है
सामान्य स्वसंवेदन ज्ञानीको एकाकार शुद्ध भूमिका ही नजर आती
है। बस इस रमणस्वभावधारी आत्मारामने इसी ही भूमिकामें

र्शन होरहा है जिसके देखनेके साथ ही रागद्वेष मोहादि भावोंकी सत्ता एकदम नष्ट होजाती है, अतींद्रिय आनन्दकी अद्भुत शोभा आरही है। वास्तवमें यहां इस शुद्ध आनन्दका एक वृक्ष ही फल रहा है जिसमें स्वानुभवके परम सार अमृतमई फल लग रहे हैं। यह कल्पवृक्षसे अनन्तगुणा और विलक्षण पदार्थका देनेवाला है। आत्माके जीतव्यके लिये जिस ज्ञानचेतनाकी आवश्यक्ता है उसका यहां अटूट भंडार भरा है। अनन्त वीर्यरूप शक्ति ऐसी बलवती है जो आत्मीक निधिकी रक्षा करती हुई इस घरमें किसी भी विरोधको प्रवेश नहीं करने देती है। यहां कोई भी विघ्नबाधाका खटका नहीं रहा है। ऐसे निज घरमें विलास करता हुआ यह आत्मा अपनी पूर्ण आत्मप्रतिष्ठाका पात्र होगया है। वास्तवमें यही उसका परमात्मपद है जो सर्वोत्कृष्ट अनुपम तथा सर्व प्रकारसे ग्रहण योग्य और सदा ही सुखरूप है।

रुद्रादिक देव एक बड़ी सभाके मध्य उसका स्वागत करते हैं। यह ज्ञानी वीर आत्मानन्दके अपूर्व रसके स्वादमें मग्न उनकी ओर दृष्टिपात न करता हुआ उनके लिये परमोपकारी होजाता है। भक्तजन मोक्ष मार्गको समझ लेते हैं। कुछ काल विश्राम कर यह सर्व पुद्गलकी संगति और रजसे छूटकर शिवमहलमें जाकर अनंत कालके लिये निराकुल सुखसागरमें मग्न होजाता है। मैं जब देखता हूं तब इस शिवमहलको अपने ही आत्माके लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशोंके मध्यमें ही पाता हूं। बस मैं इसी महलमें जाकर परम सुन्दर व परम योग्य निज स्वात्मानुभूति तियासे मिलकर द्वैततासे अद्वैततामें आकर अतिशय तृप्तिको पारहा हूं।

४४३- आत्मप्रतिष्ठा।

एक ज्ञानी आत्मा अपनी अनादिकालीन अप्रतिष्ठासे ग्लानित चित्त हो तथा अपने अनुपम सर्वोत्कृष्ट स्वरूपको विचार कर अब अपनी परमप्रतिष्ठाके हेतुसे सर्व संसारसे उन्मुख होकर एक अपने ही शुद्ध असंख्यात प्रदेशरूप घरमें ही तिष्ठना अपना परम हित समझता है और इसीमें अपने गृहमें बैठ गया है। बैठनेके साथ ही जो भीतर दृष्टिपात करता है तो वहां अनुपम भंडार देख पाता है जिसके दर्शन मात्रसे परमानंदित होजाता है। जो निधि आज तक न देखी थी वह दीख जाती है। बस निश्चय करलेता है कि इस निधिका विलसना ही मेरी आत्मप्रतिष्ठा है। अब मुझे कुछ नहीं चाहिये-सर्व प्रकारकी इच्छासे निवृत्त होजाता है। लोका लोकके सर्व पदार्थोंके सर्व गुण पर्याय निर्मलज्ञानकी निधिमें एक साथ अपनी परम मनोहरता बता रहे हैं, समताभावका मनोहर

र्शन होरहा है जिसके देखनेके साथ ही रागद्वेष मोहादि भावोंकी करता एकदम नष्ट होजाती है, अतींद्रिय आनन्दकी अद्भुत शोभा छारही है। वास्तवमें यहा इस शुद्ध आनन्दका एक वृक्ष ही फल रहा है जिसमें स्वानुभवके परम सार अमृतमई फल लग रहे हैं। यह कल्पवृक्षसे अनन्तगुणा और विलक्षण पदार्थका देनेवाला है। आत्माके जीतव्यके लिये जिस ज्ञानचेतनाकी आवश्यक्ता है उसका यहा अटूट भडार भरा है। अनन्त वीर्यरूप शक्ति ऐसी बलवती है जो आत्मीक निधिकी रक्षा करती हुई इस घरमें किसी भी विरोधको प्रवेश नहीं करने देती है। यहा कोई भी विघ्नबाधाका लेश नहीं रहा है। ऐसे निज घरमें विलास करता हुआ यह आत्मा अपनी पूर्ण आत्मप्रतिष्ठाका पात्र होगया है। वास्तवमें यही उसका परमात्मपद है जो सर्वोत्कृष्ट अनुपम तथा सर्व प्रकारसे ग्रहण योग्य और सदा ही सुखरूप है।